॥ श्रीगोडीपार्श्वजैनग्रन्थमाला-चतुर्थं-पुष्पम्-४ ॥

शाश्वतशान्तिदायक-श्रीयन्त्राधिराजराजेश्वर-श्रीसिद्धचक्रेभ्यो नमो नमः ।

सकलसमीहितपूरक-श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो विजयतेतमाम् । शासनसमालम्ब-सूत्रकृच्छ्रीगणधराय नमो नमः ।

॥ श्रीमत्सूत्रकृताङ्गम् ॥

वर्तमानशासनमान्यसूत्रकार-पञ्चमगणधरप्रवर-श्रीसुधर्मस्वामिसंदृब्धं, तत्सूत्रार्थ-रहस्यकारशिरोमणि-श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिनिर्मितनिर्युक्त्युपेतं,

तद्वृत्तिकारवरश्रीमच्छीलाङ्काचार्यविहितविवरणयुक्तोगितं विविधग्रत्यन्तर-टीप्पनाद्यनेकपरिशिष्टालङ्कृतं च ।

तस्यायं द्वितीयश्रीसूत्रकृताङ्गीय-प्रथमश्रुतस्कन्धस्य षोडशाध्ययनस्वरूपः प्रथमो विभागः ॥

संशोधकाः सम्पादकाश्च

प्रातःस्मरणीयपूज्यानां गीतार्थसार्वभौमानामागमोद्धारकाणां श्रीवर्धमानजैनागममन्दिरसंस्थापकानां श्रीआनन्दसागरसूरीश्वराणां

चिरद्विनेयाः पन्यासप्रवरश्रीचन्द्रसागरगणीन्द्राः ।

प्रकाशकाः—श्रीविजयदेवसूरसंघसंस्थापित-" श्रीगोडीजीपार्श्वनाथ-जैनदेरासरपेढी " इति संस्थासञ्चालकाः ॥

वीरसंवत्-२४७६ । विक्रमसंवत्-२००६ । क्राइस्टाब्द-१९५० ।

पण्यम्-रू. ६-०-० ।

[illegible] —

[illegible]

[illegible]

[illegible]

श्रीऋषभदेवस्वामिनः सदुपदेशः ।

संबुज्झह किं न बुज्झह ?, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥ १ ॥

मुद्रक —
शाह गुलाबचन्द लल्लुभाई
श्री महोदय प्रीन्टींग प्रेस
दाणापीठ–भावनगर.

॥ प्रकाशिकानुं निवेदन ॥

प्रस्तुत-प्रकाशन.

मुम्बापुरी मुकामे श्रीगोडीजीपार्श्वनाथ जैन-देरासर पासेना उपाश्रयमां प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-गीतार्थसार्वभौम-आगमोद्धारक-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजीनी आज्ञाथी, अने सकलसंघनी आग्रहभरी विनंतीथी, तेओश्रीना परमविद्वद्विनेय-पन्न्यासप्रवर-श्रीचन्द्रसागरजी गणीन्द्र महाराजादिनुं पोताना शिष्य-प्रशिष्यादिपरिवार साथे वि. सं. १९९७मां चातुर्मास थयुं. आ चातुर्मास दरमियान प्रथम व्याख्यानमां श्रीसूत्रकृतांग अने भावनाधिकारमां समराइच्चकहा, आ रीतिए बन्ने ग्रन्थरत्नोनी उपर देवाती देशनाथी अनेकविध भावनाथी भावित थयेला श्रीसंघे आ चातुर्मास दरमियान अनेक शासनहितवर्धक कार्यो कर्यां; अने प्रस्तुत प्रकाशन माटे पण निर्णय थयो.

प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-आगमोद्धारक-आचार्यदेवेशनी परमपुनित-नजरतले प्रथमावृत्तिरूपे मुद्रित-थयेल श्रीसूत्रकृतांगनी प्रति मेळववी अतिदुर्लभ होवाथी, अने साथे साथे वांचनार श्रमणभगवंतोनी संख्या दिनप्रतिदिन वृद्धि पामती होवाथी; पू. पन्न्यासप्रवरश्रीजीए आ सूत्रकृतांगनुं अनेकविध-संपादन-सामग्रीओ अने परिशिष्टो साथे द्वितीयावृत्तिरूप प्रकाशन माटे पुनित विचार जाहेर कर्यो.

---

१ जुओ-श्रेष्ठी देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थांक ९४। श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनबृहद्न्यासचतुर्थि नामना ग्रंथना प्रारंभमां प्रकाशकनिवेदन पृ. १ थी पृष्ठ २१ सुधी, जिज्ञासुओए उपरना स्थळे वांचवु।

उपरना बंने कारणोने लक्ष्यमां लइने अने पू. पंन्यासप्रवरश्रीजीनी पुनित-अभिप्रायान मान आपीने आ अविछिन्न-गादिस-प्रकाशनरूप-द्वितीय-श्रीसूत्रकृतांगसूत्रने मुद्रण करावीने प्रसिद्ध करवानो निर्णय कर्यो छे, कारणके ते अवसरे ते चातुर्मासमां प्रानगवानी उपजमां सारी रकम मयेल होवाथी, अने कदाच आर्थिक-सामग्रीनी ओछाश हशे तो अमे ते पूरी करशुं एम कहेल हावाथी, पू. पन्यासप्रवरश्रीनी पुनित नजरे संपादित-संशोधित थयेल आ मयरत्नने पडतर किंमतथी पण ओछी किंमते अभ्यासी जीना करकमलमां नव वर्षे समर्पण करवा अमे भाग्यशाली बना छीए.

चालु चातुर्मासमां श्रीसूत्रकृतांगने मुद्रण करावधानो विचार थयो पछी ते अवसरे अमारी पेढीना कार्यवाहकोए कार्यवाहक-समितिमांथी आ कार्यना संपादनाविना सर्व कार्यने अंगे पडती जरूरीयातोने पूरी करीने वेग आपवा माटे शेठ-सौभाग्यचंद धर्मेदपर सोलीसीटर, अने झवेरी पानाचंद रूपचंदनी निमणुक करी. आ कार्यने हाथ धर्या पछी प्रकाशनने प्रसिद्ध करवानी मुश्केलीओनुं वर्णन करीए तो एक निबंध तैयार थाय, छतां मुख्यत: आ ग्रंथने मुद्रण करावधानुं कार्य अमदावादमां शारदा मुद्रणालयना मालीक पंडित भगवानदास हस्तक शरु कर्युं, अने त्रीश फोर्म पृ १ थी पृ १८० सुधीनुं काम संतोषकारक रीते पूर्ण कर्युं, परंतु पाछळथी कोइ अभाव कारणे अमारुं काम अटकावी दीधुं, अने तेथी ज आ ग्रंथ विलंबे बहार पडे छे छेवटना फोर्म ३१-पृ १८१ थी अधुरु रहेलुं सर्व कार्य भावनगर-श्री महोदय प्रिन्टिंग प्रेसमा मालीक गुलाबचंद लल्लुभाईभी एर देखरेख नीचे तेमना प्रेसना सघळां माणसोए कालजीपूर्वक पूरु करी आप्युं छे

श्री सूत्रकृतांगसूत्रनुं प्रथम मुद्रण करावनार प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-आगमोद्धारक-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरजीनो, संपादन-

सशोधनादिनी सर्व सामग्रीओथी प्रकाशित थता आ द्वितीयावृत्तिरूप श्रीसूत्रकृतांगसूत्र ग्रंथरत्नने संपादन करनार श्रीसिद्धचक्रा-
राधन-तीर्थोद्धारक-पूज्य-पंन्यासप्रवर-श्रीचन्द्रसागरजी गणिन्द्र महाराजनो, प्रथमावृत्तिरूपे मुद्रण थयेल ते प्रति मुद्रण कराववा
माटे आपनार श्रीविजयदेवसूर संघना ज्ञानभंडारना कार्यवाहकोनो, संशोधनादि-शुद्ध पाठान्तरोनी प्राप्ति माटे ताडपत्रीय-ग्रंथोने लावी
आपनार-खंभात श्रीशान्तिनाथ-प्राचीन-ताडपत्रीय-जैन-ज्ञान-भंडारना कार्यवाहको पैकी स्व० मूलचंद बुलाखीदास, अने श्रेष्ठि-
मोहनलाल दीपचंद चोक्सीनो, आ ग्रन्थना परिशिष्ट-शुद्धिपत्रकादिने काळजीपूर्वक तैयार करनार संपादक पू. पंन्यासप्रवरश्रीजीना
परमविनेय-पं. श्री देवेन्द्रसागरजीना तथा मुनिश्रीधर्मसागरजीना क्रमशः सुशिष्य मुनिश्री दोलतसागरजीनो, अने मुनिश्री
अभयसागरजीनो, ग्रन्थ मुद्रण करी आपनार प्रेसना मालीकनो अने माणसोनो, अने आ ग्रन्थनी एक हजार प्रति प्रथम भागनी
प्रसिद्ध करवामां लगभग दश हजार रूपियानो खर्च थवा संभव छे, छतां अभ्यासक-श्रमण-भगवंतादि यथार्थ लाभ ले ते हेतुथी
तद्दन नजीवी किंमते आपवानो निर्धार करनार श्री विजयदेवसूर संघना ज्ञानभंडारनी व्यवस्थापिका ज्ञानसमितिना कार्यवाहकोनो
पण अत्र अंतःकरणपूर्वक आभार मानीने विरमीए छीए ।

लि. श्री विजयदेवसूर संघनी पेढीना कार्यवाहको ।



शाश्वतशान्तिदायक–विघ्न–मन्त्र तन्त्र–यन्त्राधिराजराजेश्वर–श्रीसिद्धचक्रेभ्यो नमो नमः ।

सकलसमीहितपूरक–श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो विजयतेतमाम् ॥

॥ श्रीसूत्रकृतांग–प्रस्तावना ॥

मनुष्यना आयुष्य–बंधनी आकरी परीक्षा—

अनादि–अनंतकालथी परिभ्रमण करनार दरेके–दरेक जीवने आ भवचक्रनी परंपरामां साधन–सामग्री–संयोगोथी भरपूर मानवजीवन पामवु ए मुश्केल छे, अने प्राप्त थयेल सम्यग–साधन–सामग्री संयोगोथी भरपूर मानवजीवन सफल करवु ए पामवा करतां पण अत्यंत मुश्केल छे क्षणभर विराम पाम्या वगर रात्री मानमां पूर्वकालीन अस्खलित फेरफुदरडीरूपे फरवुं, तेवना तावडामां तेल (रायाल्लु) प्रतिबिंब पडवुं, पडेला प्रतिबिंबमां डाबी आंखने अस्थिवु नहीं ने नथी करवु, अने निर्निमेषपणे–अप्रमत्तपणे ते आंखने विंधवु अति मुश्केल छे छतां उपमक्षीण आत्माओ उपर बतावेल राधावेधने साधीने रसभरी–इष्ट कार्य सिद्धि करी शके छे; परंतु संसारी जीवने मनुष्यगतिने योग्य आयुष्य बांधवुं, अने ते आयुष्य बांधवा माटेनी नियमित थयेली त्रण परीक्षामांथी पसार थवुं ए राधावेध करतां अत्यंत पण कठिनमां कठिन–कार्य छे कारण के जे जीवोने १ कषायनी मंदतावाळो स्वभाव थाय, २ प्राप्त थयेल साधन–सामग्री–संयोगोमां दाय देवाना परिणाम थाय, अने ३ दयादाक्षिण्यादि–गुणगणनो मध्यम रीतिए आविर्भाव थाय, त्यारे ते दरेक आत्माओ मनुष्यने योग्य आयुष्यनो बंध पाडे छे विश्वभरना सांसारिक–वर्तमान

कालीन-जीवोने माटे कळाकौशल्य-विज्ञाननी उच्च कक्षाए पहोंचवा अनेकविध-परीक्षाओ योजायली छे, अने ते ते परीक्षामां तेत्रीस टकानी फतेहमंद कार्यवाही करनाराओ ते ते विषयनी परीक्षामां उत्तीर्ण गणाय छे,–पास थया कहेवाय छे, परंतु आ कर्म-राजानी कठिनमां कठिन एक परीक्षा मनुष्यगति माटेना आयुष्य बांधवानी छे. वर्तमानमां अढी अबज उपरांत मनुष्योनी गणत्री गणनारा दरेके-दरेक मनुष्योए आ नियम स्मृतिपट पर स्थिर करवा जेवो छे के—उपरनी त्रण करणीरूप—परीक्षामां पूरेपूरा मार्क्स मेळव्या वगर कोई पण जीव मनुष्यभवने योग्य आयुष्य बांधतो नथी, बांध्युं नथी, अने बांधशे पण नहिं. एटले मनुष्यना आयुष्य-बंधनी पूर्वे आ त्रण परीक्षाओ नियमित वर्ते छे. जे माटे प्रथम कर्मग्रंथमां आ रीतिए जणाव्युं छे के—"पयइतणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ"–स्वाभाविक पातळा कषाय, दैवानी रुची, अने मध्यमगुणोनी प्राप्ति, ए मनुष्यनुं आयुष्य बांधवा माटेनी त्रण परीक्षाओ छे. मनुष्यभवनुं आयुष्य बांधवा माटे आ करणीय-परीक्षाओमांथी दरेके-दरेक जीवने पसार थवु पडे छे.

पामवा लायकनी चीज.

मनुष्यभवनु आयुष्य बांधवाना अवसरे राधावेध करतां पण अति सावधानी उपरनी त्रण करणीमां राखी हती, अने मनुष्य थयो एटले पूर्वे करेली त्रण करणीनी गंध वर्तमान-जीवनमां जणाती नथी, अर्थात् ते माटे लेशभर वर्तमानमां विचार करवानी फुरसद पण नथी. नाणाभीडमां मुझायेलो माणस कोइ आबरुदार शाहुकारने त्यां सेंकडो वखत खुशामत करीने, सो वखत आंटा-फेरा-धक्का खाईने, अने हजारो वखत दाढीमां हाथ घालीने मनगमतुं नाणुं मेळवीने जती आबरुने स्थिर करवा भाग्यशाळी

थाय छे, परंतु ते मुसाफेकाने ज्यारे नाणांनी खुब जरुर छे, त्यारे आपनारो, शाहुकारी टकावनार शाहुकार पेला मुसाफेका सामग पासे अवसर आवे उघराणी करे छे, ते अवसरे ते नाणां लेनार, नाणां आपनार प्रत्ये केवी करडी मांग करे छे ?, केवु अपटित बोले छे ?, अने केवा अणसमजना नामाणथी मुसका करे छे ?, ते समजवा जेवुं छे, तेवी ज रीते मनुष्यने योग्य आयुष्य मेळववा माटे देव–गुरु–धर्मनी उपासना करीने, अने सर्वज्ञकथित–सिद्धांतोनी सेवना करीने, प्राप्त करेला पुण्यद्वारा आयुष्य मेळवी लीधु, एटलु ज नहिं पण देव–गुरु–धर्मनी आराधनाद्वारा प्राप्त करेला प्रबळ–पुण्यथी आर्यदेश–उत्तमकुळ–उत्तमजाति–पंचेन्द्रियपणु–निरोगीपणुं आदि अनुकूल साधन–सामग्री–संयोग प्राप्त कर्या छतां जेना प्रभावे ए प्राप्त कर्यां ते धर्मने भूले छ, ते धर्मनी आराधनाने भूलवानो प्रयत्न करे छे, अने रात्रि दिवस मूळी सधाय एवो अस्खलित उद्यम चालु राखे छे; तो पछी आना जेवी बीजी कृतघ्नता कई होइ शके ?, ते बुद्धिमानोए विचारवुं जरुरनु छे कृतघ्नताने दूर करीने अमोघ–साधन–सामग्री–संयोगद्वाराए पापाजनक बीज बाळीने मोंघु मानवजीवन सफळ करवु जोइए. आर्यदेश, मनुष्यपणु, उत्तम कुळ, उत्तम–जाति, दीर्घ–आयुष्य, निरोगी–शरीर, पांच इन्द्रियो, इन्द्रियोनी पूर्णपटुता, धन–माल, सिद्धत्व, कुटुंब–कबीला, पुत्र–परिवार, स्थावर–जंगम–मिलकतो, दिगवव्यापी सत्ता, यश–कीर्ति अने जीवनभर पोते अने पोताना आश्रित कुटुंबो जीवी शके तेवा अनुकूल–साधन–सामग्री–संयोगोनी संपूर्ण जमावट होवा छतां–आ बधुं मेळव्या छतां पापना कायनी बीक नाथी छे वांचकने विचार थशे के—एवी ते पापना कायनी बीक कई छे ?, कहेवु पडशे के—वीर्योल्लासपूर्वक संयम–मार्गे अविरत कूच करवी ते रायमा लायकनी बीक छे.

श्रवणादिनी आवश्यकता—

मोंघा–मनुष्य जीवन पामेलाओने पामवा लायकनी चीज सयम छे. संयमनुं सुंदर रक्षण करवुं, अने वीर्योल्लासपूर्वक सयमनी वृद्धि करवापूर्वक आगळ वधवुं एटले अनेकानेक जीवने सयमने मार्गे योजन करवुं ए ज संयम पाम्यानी वास्तविक सफलता छे. " पामवा लायक सर्वज्ञ कथित सयमनी किंमत श्रेष्ठतम छे, " अने " ते सिवायनुं जीववुं निरर्थक छे; निरर्थक नहिं पण अनर्थकारी छे. " आ श्रद्धा थवी, आ प्रतीति थवी, अने आ रुचिना रंगमां रंगाइ जवुं–ओतप्रोत थवुं ए पामवा लायक संयमनी आवश्यक–कर्तव्यभूमि छे. आ आवश्यक–कर्तव्यभूमिना स्पर्शन–पालननी पुनित–प्रवृत्तिमां उत्तरोत्तर आगळ वधवुं ए सर्वज्ञकथित–वाणीना श्रवण पर आधार राखे छे. अने आ ज क्रमने प्रतिपादन करतां भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजी अंतिम केवळी–श्रीजंबूस्वामीजीने उत्तराध्ययनना त्रीजा " चाउरंगिज्ज० " नामना अध्ययनना प्रारंभमां जणावे छे के—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो । माणुसत्तं-सुइ सद्धा-संजमम्मि य विरियं ॥ १ ॥

संसारमां परिभ्रमण करनार जीवो आ चार दुर्लभ वस्तुओ पामीने एटले–१ मनुष्यपणुं, २ श्रवण, ३ श्रद्धा; अने ४ संजमने विषे वीर्योल्लासनी प्राप्तिपूर्वक–जीवन सफळ करे छे. संयममां वीर्योल्लासपूर्वक वृद्धि करीने, तपश्चर्याओनुं सेवन करीने, बांधेला कर्मोने दूर करीने, शाश्वत–स्थानने पामवावाळा जीवो शाश्वत भावने पामे छे. आ ज अध्ययननी अंतिम गाथाना " चउरंग-दुल्लहं० " इत्यादि पदोना परमार्थने विचारवाथी उपरनो भावार्थ स्मृतिपटपर स्थित थाय छे. आ उपरथी मानवजीवननी दरेके दरेक क्षणोने सफलवती बनाववा माटे, अने उच्च–उच्चतर–उच्चतम–पदनी प्राप्ति माटे आत्महितकर–संस्कार–शून्य–आत्माने

आत्महितकर संस्काररूप संयमाविनी सौरमयी सुवासित करनार सर्वज्ञ कथित वाणीनु श्रवण, मनन अने परिशीलन करवुं अवश्यमेव जरूरनुं छे

सर्वज्ञकथित उपदेशनी जरूर—

सर्वज्ञ–देवना शासनमां आत्महितकर–मार्गने आदरीने जे जे पुण्यात्माओ कल्याण साधी गया, वर्तमानमां कल्याण साधी रह्या छे, अने भाविकालमां कल्याण साधशे ते बधानो मुख्य आधार सर्वज्ञकथित वाणीना श्रवण पर अवलंबे छे हेय विभागना सकल पदार्थो प्रत्येथी हेयता, अने उपादेय विभागना समग्र–पदार्थो प्रत्येनी उपादेयता पण सर्वज्ञकथित उपदेशने आभारी छे ज्यारे सर्वज्ञकथित उपदेशामृतनुं आस्वादन करता आत्मा उपशांत थाय छे, अने श्रवणद्वारा हेय–उपादेय–विभागनो तेने निश्चय थाय छे, त्यारे अनादिकालनी रखडपट्टीना प्रभावे अनेकानेक–जन्म–मरणरूप अनंतानंत भवोनी परंपरानुं नियमन करवा ते पुण्यात्मा सौभाग्यशाली बने छे भगवान श्रीऋषभदेवना तेर भव, श्रीशांतिनाथ प्रभुना बार भव, श्रीनेमिनाथ प्रभुना नव भव, श्रीपार्श्वनाथ प्रभुना दस भव अने आसन्नोपकारि–चरम–तीर्थंकर–प्रभु–श्रीमहावीर महाराजाना सत्तावीस भवने सांभळीए छीए, त्यां प्रश्न करनारे थाय रहेलुं पडे छे के आ तीर्थंकरोए पण अनंत भवो करेला छे, तो पछी आ भवोनुं नियमन करनार कोण ?, समाधानमां समजवुं के ते ते तीर्थंकरोने पण सर्वज्ञकथित उपदेशने श्रवण करावनाराओनो समागम थयो, अने ते ते उपदेशकोए सदुपदेश श्रवण कराव्यो, एटले ते श्रवणथी हेय उपादेयनो निश्चय थयो; त्यारे तओ भवनियमन करी शक्या एटले श्रवणथी अ देवाधिदेवना देवत्व प्रति, गुरुवर्योना गुरुत्व प्रति, तथा रत्नत्रयि–धर्मना धर्मत्व प्रति श्रद्धा थई एटले ते तीर्थंकरोने पण

अनंत काळना जन्म-मरणरूप भव-परंपराना वेगमां नियमनरूप प्रथम भवनी शरुआत थई. आ उपरथी जगतना समग्र जीवोनो उद्धार करवा माटे सर्वज्ञकथित-उपदेश अने सर्वज्ञकथित उपदेशने देनारा उपदेशकोना समागमनी अनिवार्य जरुर पूर्वे हती, वर्तमानमां छे, अने भाविकाळमां रहेशे एमां कोइना बे मत ज नथी.

देव-गुरु-धर्मरूप त्रण तत्त्वो प्रति श्रद्धा, प्रतीति अने रुचि करावनार सर्वज्ञकथित-उपदेशनुं श्रवण-वीतरागनी वाणीनुं श्रवण छे. एटलुं ज नहिं पण श्रद्धापूर्वकनी समजना सुंदर फलरूप विरति धर्मनुं अंगीकरण, आश्रवोनुं रोकाण, संवरस्थानोनुं सेवन, तपश्चर्यामां ओतप्रोत बनीने सकल कर्मोनुं निर्जरण; अने क्षायिक भावोनुं स्वीकरण करवुं ते सर्वज्ञकथित-उपदेशने ज आभारी छे.

उपदेशक प्रथम के उपदेश प्रथम ?—

सर्वज्ञकथित उपदेश कोई एवी चीज नथी के अन्य दर्शनकारोनी मान्यतानी जेम भींत आदि पदार्थोमांथी स्वयं स्फुरायमान थाय. शासन संस्थापकोने जैन दर्शनमां शरीरधारी स्वीकारेला छे, कारण के शरीर वगर मुख न होय अने मुख वगरनुं वक्तृत्व,—बुद्धिमानोना बुद्धिप्रदेशमां निश्चित थतुं ज नथी. आ ज वातनुं समर्थन पण ' मुखाद्विना न वक्तृत्वं ' इत्यादि पदोथी कलिकाल-सर्वज्ञ-श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी जणावे छे. एटले उपदेशना आद्य प्रवर्तको तीर्थंकरो शरीरधारी हता, अने होय छे. आ उपरथी कोई आत्मा पूर्वभवमां उपदेशकनो समागम प्राप्त करे छे, अने ते उपदेशकना सदुपदेशनुं श्रवण करीने सुधामय-श्रद्धानुं आस्वादन करे छे; त्यारे मोक्षनी योग्यताने पुरवार करवारूप भवोनी गणत्रीनुं नियमन करे छे. आवी ज रीतिए दरेके-दरेक

तीर्थंकरोने सम्यक्त्व–प्राप्तिना प्रथम भवथी शरुआत पण ते ते उपदेशकनो समागम अने ते ते उपदेशकोद्वारा प्राप्त थयेल उपदेशनुं श्रवण कर्या पछी ज थाय छे आसन्नोपकारी—श्रीमहावीर महाराजाने, अने आद्य–तीर्थंकर–प्रभु–श्रीऋषभदेवने पण अनुक्रमे श्रीनयसारना भवमां तथा धनसार्थवाहना भवमां सर्वज्ञ–शासन–संचालक–श्रमण भगवंतोना समागम अने तेओश्री द्वारा सदुपदेश प्राप्त थयेलो छे एटले "उपदेशक अने उपदेशना यथार्थ लाभनी प्राप्ति वगर आ संसारमां कोइनो उद्धार थयो नथी, थतो नथी; अने थशे पण नहिं," ए त्रिकालाबाधित—अविच्छिन्नप्रभावमय–सत्य अद्यापि पर्यंत अस्खलित रहेलुं ज छे शासन–संस्थापको अने शासन संचालको शरीरधारी होवाथी शरीरने मूकवाना छे ए वात चोक्कस छे; एटले पूर्व-कालीन पू. तीर्थंकरोए, पू. आचार्योए, पू. उपाध्यायोए, अने पू. साधु भगवंतोए उपदेशकपणानुं यथार्थ काम करीने नाशवंत–शरीरने मूकी दीधुं छे अने वर्तमानकालमां ते उपदेशकपणानी उत्तम पदवीने विभूषित करनारा नवनवीन महाभाग्यशालीओ जन्म धारण करीने शरीरीपणामां ते ते पदने शोभावे छे हवे प्रश्न एक ज छे के उपदेशक वगर उपदेश होइ शके ज नहिं, अने दरेके दरेक उपदेशकने उपदेश प्राप्त थया पछीज उपदेशकपणुं प्राप्त थाय छे, तो पछी उपदेशक प्रथम के उपदेश प्रथम ?, जो उपदेशकने प्रथम तरीके स्वीकारवामां आवे तो उपदेशकना उपदेशनी प्राप्ति कर्या वगर उपदेशक थयो के उपदेश प्राप्ति करीने उपदेशक थयो आ भ्रमनी आंटीघुंटी उकले नहिं, त्यांसुधी उपदेशकनी अने उपदेशनी यथावस्थित पूर्वकथित–मर्यादा समजाय ज नहिं माटे आ प्रश्नना प्रत्युत्तररूप पियूषनुं प्रथम आस्वादन करीने आगळ वधीए

उपदेशकपणानी योग्यतावाळा तीर्थंकर—

अढार क्रोडाक्रोडी सागरोपमनो काळ धर्मवगरनो एटले त्याग, त्यागी अने त्यागना साधन वगरनो गयो. युगलिआओना अवसरमां पण विश्वभरना प्राणिओ भोगोने भोगववामां, भोगना साधनो मेळववामां, भोगनी साधन–सामग्रीओने टकाववामां; अने वधारवामां समग्र जीवन पसार करी रह्या हता. एटले तेओने भोग–अवसरमां भोग–भोगी अने भोग–भोगीना साधन–सामग्री संयोगोनी ज कीमत हती. भोग–भोगी अने भोगना अस्खलित प्रवाहना पूरमां जगत्‌भरना सघळा जीवो तणाइ रह्या हता, अने ते भयकर–प्रबळ–प्रवाहमां तणाता जीवने तारवानो उपदेश देनार एक पण उपदेशक ते काळमां–ते समयमां हतो ज नहिं. भोगना सुखमां तल्लीन बनेली दुनियाने—"त्यागमां सुख छे, त्यागी सुखी छे, त्यागना साधन सामग्री संयोगो सुख देनारा छे." आवो उपदेश–आ भावने अनुसरतो उपदेश आपनार एक पण उपदेशकनी विद्यमानता ज नहोती. आवा अवसरे नाभि–कुलकरना स्वर्गीय–गृहमंदिरे विश्वोद्धार करवानुं कार्य करवा माटे श्रीऋषभदेव प्रभुनो जन्म थाय छे. त्रण ज्ञाने करीने सहित तीर्थंकरो होवाथी "भोगमां दुःख छे अने त्यागमा सुख छे" आ धारणानी दृढता अनेक भवोमां करीने आव्या छे, एटले आ अवसर्पिणीमां जन्म पामेला प्रथम तीर्थंकरे ८३ लाख पूर्व ससारमां–गृहस्थाश्रममां व्यतीत कर्या. भवान्तरमां आराधना करीने आवेला तीर्थंकरो 'त्यागमां ज सुख छे, त्यागमां सुख ज छे' आ मान्यतानी सुदृढताना जोरे ज त्यागी बने छे, अने साथे चार–हजार मनुष्यो दीक्षित थाय छे, छतां सर्वज्ञकथित–उपदेशना अभावमां जैन साधुपणुं मूकीने साथेना बधा दीक्षितो तापसो बने छे. धर्मसारथी पदने शोभावनार ते प्रभु उपदेश आपीने संसारसमुद्रमां डूबता चार हजारने तारी शके छे, छतां उपदेश

केम आपता नथी ? शासननी मर्यादा समजनारे कहेवुं पडशे के—भले जेटलो ज्ञान थवानो होय, परंतु तीर्थंकरो दीक्षा लईने, घोर परीसह उपसर्गो सहन करीने, ग्रामानुग्राम विचरीने अप्रमत्तपणे संयम सेवीने, चार घनघाती कर्मोने (ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय अने अंतराय ए चार घातीकर्मोने) खोवीने, केवल्य ज्ञान पामीने ज उपदेश दइ शके छे; अन्यथा उपदेशक तरीके उपदेश देवानुं पारमार्थिक कार्य करता ज नथी, पूर्वे कोइ(तीर्थंकरे)ए कर्युं नथी, अने भाविमां कोइपण करशे नहिं; आ अबाध्य-सिद्धांत शासनमां सर्वदा सुप्रसिद्ध ज हतो, अने छे

उपदेशक अने उपदेश पण अनादिना—

एक हजार वर्ष सुधी घोर तपस्या तपीने, प्रथम तीर्थंकरप्रभु-श्रीऋषभदेवे समवसरणमां देशना दइने चतुर्विध संघनी स्थापना करी हवे आ रीते आ अवसर्पिणीमां प्रथम राजा, प्रथम भिक्षुक, प्रथम व्रतधारी, प्रथम ब्रह्मचारी अने प्रथम उपदेशक तरीके होय तो श्री आदिनाथ-श्रीऋषभदेव प्रभु ज छे, एम कहीए तो शो वांधो छ ? सर्वज्ञकथित उपदेश श्रवण करे नहिं त्यां सुधी कोइपण तीर्थंकरने पण भवनिर्गमन करावनार सम्यक्त्व रत्ननी प्राप्ति थती ज नथी एटले आ श्री ऋषभदेवने आ अवसर्पिणीना प्रथम तीर्थंकर-प्रथम उपदेशक स्वीकारीए तो वांधो नथी, परंतु उपदेशकपणानी प्राप्तिने योग्य थयामां प्रथम भवमां (धनासार्थवाहना भवमां) श्री धर्मघोष-अणगारनो समागम अने सर्वज्ञकथित उपदेशनुं श्रवण प्राप्त थयुं हतुं आ उपरथी आ अवसर्पिणीना सघळा तीर्थंकराने भवनिर्गमन करावनार, सम्यक्त्व-रत्ननी प्राप्तिने अनुकूळ उपदेश आपनार, श्रमण-भगवंतरूपी उपदेशकोनो समागम थयो ए तेओश्रीना जीवनचरित्रो साक्षी पूरे छे हवे ज्यारे ते ते तीर्थंकरोने पण सम्यक्त्वप्राप्तिना प्रथम भवमां सर्वज्ञकथित उपदेश देनारा-

होय छे, अने ते ते उपदेशकोनो समागम थयो छे; तो पछी ते ते उपदेशकोने पण उपदेश देनारा उपदेशकोनो समागम थयेलो ज होवो जोईए आ उपरथी सर्वज्ञकथित उपदेश देनारा उपदेशकोनी अने सर्वज्ञकथित उपदेशनी परम्परा अनादिनी छे.

आ बन्नेनी अनादिता न स्वीकारीए तो सदुपदेशक वगर सदुपदेश थइ गयो, अथवा तो सदुपदेशनी प्राप्ति वगर सदुपदेशक थई गयो; अने आथी ज जैनशासनना संस्थापक--तीर्थंकरोनी अनंतानंती चोवीशी स्वीकारेली छे. एटले ते तीर्थंकरनी शरुआत क्यारे थइ ?, ते कही शकाय ज नहिं. जेवी रीते वर्तमानमां जन्म पामेला मनुष्यनी सातमी पेढीना नामने शोभावनारना मात-पिता होवां ज जोइए, तेवी ज रीतिए जिनेश्वर भगवंतना शासनमां सदुपदेशक सर्वज्ञ भगवंत तीर्थंकरो अने तेओना उपदेशनी व्यवस्था पण अनादिनी छे ए मर्यादा समजवा साथे हवे आपणे आगळ वधीए.

वर्तमान--सदुपदेशना आद्य प्रवर्तक—

ज्यारे अनंतानंत चोवीशीओ छे त्यारे तीर्थंकरो पण अनंत, गणधरो पण अनंत; अने ते ते गणधर भगवंतोनी द्वादशांगीओ पण अनंत ज होय ए स्वाभाविक छे. दरेके दरेक उत्सर्पिणीमां अने अवसर्पिणीमां उत्पन्न थनारा-तीर्थंकरोने ते ते काळमां पोतपोताना शासनमां सदुपदेशना आद्य प्रवर्तको मानेला छे, अने ते बधाने तीर्थंकरो कहेवाय छे; परंतु ते तीर्थंकरपणुं प्राप्त थवानी योग्य भूमि उपर आरूढ शी रीते थया ?, ते तपासीए तो पूर्वे जणावेल सदुपदेशक-सदुपदेशनी अनादि व्यवस्था बुद्धि प्रदेशमां निःशंकपणे निश्चित थाय छे. आ अवसर्पिणीमां चोवीस तीर्थंकरो थयां, अने ते सर्व २४ तीर्थंकरोना १४५२ गणधरो थया. ते ते गणधरोए-हे भगवं ! किं तत्त ?, आ प्रश्नने त्रण वार पूछीने ते ते तीर्थंकरोना शासनमां भगवान् तीर्थंकर

पासथी त्रिपदी अनुक्रमे उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा; पटले आ त्रण पदो समाधानरूपे पामीने श्रीसुधर्मा, अने कोष्ट बुद्धिना धणी एवो द्वादशांगीनी रचना करे छे पछी आसन्नोपकारि-परम-तीर्थंकर-श्रीमहावीर महाराजाए घर-संसार छोडीने, साधु बनीने, साडाबारवर्षोने ध्यानमां रहीने, आववा कर्मो पर निर्मिमेष नजर राखीने, संवर भावनुं सेवन करीने, घोर उपसर्गो-परिषहोने सम्यक्-प्रकारे सहन करीने, पूर्वे बांधेला कर्मोने तोडीने, साडाबार वर्ष पर्यंत विविध तपोधर्म तपीने घनघाती चार कर्मोनो चूरो करीने पछी रजुवालिका नदीकिनारे भगवान् केवलज्ञान पाम्या देवोए समवसरणनी रचना करी अने भगवान करवा आववाराओ आव्या बाद, परंतु योग्यताना अभावे सदुपदेशनु फळ विरतिधर्म कोइपण पामी शक्या ज नथी सदुपदेश सांभळनाराओ ज्यांसुधी सर्वविरति धर्म पामी शक्या नथी; त्यांसुधी सदुपदेशनु फळ बेठु छे एम कहेवातुं नथी, आथी भगवाननी देशना निष्फळ गइ, अने आश्चर्य मनायु पूर्वे अपेक्षा त्रेवीस तीर्थंकरोए जे क्षेत्रमां जे दिवसे घनघाती-कर्मोने चूर्ण कर्यां ते ज दिवसे ते ज क्षेत्रमां द्वादशांगीनी रचना करनार गणधरो सहित चतुर्विध संघनी स्थापना करेली छे, परंतु वर्तमान-शासनना मालीक-श्रीवर्धमानस्वामीजीने वैशाख सुद १० ना रजुवालिका नदी किनारे केवलज्ञान थयुं, विहार करीने भगवान् महसेन वनमां गया, अने तेमना पट्टप्रभावक-शिष्य-गणधरोना हाथे श्रीद्वादशांगीनी रचनादि वैशाख सुद ११ ना दिवसे महसेन नामना वनमां थइ आ उपरथी वर्तमानकालीन-चतुर्विध-संघसदुपदेशसुधानु पान करीने जे जीवन कृतार्थ करी रह्या छे ते सदुपदेशना आद्य-प्रवर्तक-पुण्यश्लोक-भगवान्-श्रीवर्धमानस्वामी छे

ते समवसरण मध्ये अगीआर मुख्य ब्राह्मणोनुं ४४०० ना
वा काळथी स्थिर थयेल शंकाना समाधान साथे चुम्मालीस-
गरोए(मुख्य शिष्योए) त्रिपदि पामीने अंतर्मुहूर्तमां तेओना
जिज्ञासावाळाए आवश्यक-सूत्र-वृत्ति आदिथी अवलोकन
करवो जरूरीनो छे. अगीआर ... णवरो ... वीरनी हयातिमां ज काळधर्म पामीने मोक्षे जवाथी, अने पछी प्रथम गणधर गौतमस्वामीजी(श्री इन्द्रभूतिजी) पण काळधर्म पामी मोक्षे जवाथी; दशे गणधरोना सघळाए परिवारादि पंचम-गणधर भगवान्-श्रीसुधर्मस्वामीजीने सुप्रत थयां. एटले ते काळथी अद्यापि पर्यंत वर्तमानकालीन-सर्व-साधु-साध्वीओ तेओश्रीना (श्रीसुधर्मस्वामीना) सतानीयापणे वर्ते छे ए शास्त्र-सुप्रसिद्ध वात छे. आ उपरथी वर्तमानकाले जैन-शासननुं संचालन करनारा पू. आचार्य भगवंतो, पू. उपाध्याय भगवंतो अने पू. श्रमण भगवंतो स्वपरकल्याणार्थे जे सदुपदेशनी अमोघवर्षा वर्षावी रह्या छे, ते सर्वनो आधार पंचम-गणधर-भगवत-श्रीसुधर्मास्वामीजीनी आ द्वादशांगी उपरज अवलंबे छे. मोक्षमार्गना अभिलाषि-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाए स्वपरहितकर-मोक्षमार्गमां अस्खलित गमन करीने इष्ट सिद्धि साधवी होय तो द्वादशांगी पैकी अगीआर अंगोने आगळ करीने ज (अगिआर अंगोना भावथी भावित थइने) जीवन जीववानी सर्वज्ञादि भगवंतो तरफथी भलामण सर्वदा सर्वत्र निश्चित थई चूकी छे. आ उपरथी स्वतंत्रपणे बोलवानो के स्वतंत्रपणे आलेखन करवानो हक्क

वर्तमानकालीन-शासनमां चतुर्विध-संघमां कोईपण व्यक्तिने अपेक्षो न मळी, कारण के शासन-संस्थापक-तीर्थंकरो पण केवळ ज्ञाननी प्राप्ति थया पछी ज एटले के प्रगट थया पछी ज तेओ स्वतंत्रपणे बोले छे एटले विश्वोद्धारक-त्रैलोक्यनाथ-तीर्थंकर पासेथी अति-विनम्रपणे त्रिपदी पामीने, अर्थमय देशनाने अवधारण करीने अमे ते ज अर्थने अनुसरीने सूत्रोनी रचना श्रीमद् गणधर भगवंतो करे छे अने सर्वज्ञकथित अर्थोनुसारित ते सूत्रो छे तेमां वास्तविक छाप महोर ज अंकित करावती होय तेम ते ज गणधरोने पोतानी अध्यक्षतामां केवळज्ञानीओ विद्यमान होवा छतां पण तेओनी पासे तेमना देवपणे छे एटले वर्तमान श्रुतपरंपराना मूळभूत आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंग उपांगोना प्रणेता गणधर छे, अने वर्तमानकालीन सघळीए श्रुत संपदाना मूळ प्रणेता श्री सुधर्मास्वामीजी छे एक पण अध्ययन, एक पण उद्देश, एक पण सूत्र, एक पण प्रकरण, एक पण वाक्यनो, के एक पण सूत्रनी मूळ भूमिका विचारीए तो आद्य-प्रणेता-श्रीसुधर्मास्वामी ज छे ए मान्यताने विवेकीओए स्पष्टपणे स्वीकारवानी जरूर छे

ज्ञानीपणानी प्राप्तिनो लक्ष क्यारे ?

श्रुत-संपदाओना मूळ प्रणेता श्रीसुधर्मास्वामी छे, ए आपणे पूर्व प्रकरणमां विचारी गया त्रिपदी पामीने सघळाय पूर्वोनी, उपांग अंग अध्ययनादिनी रचना करनार श्रीसुधर्मास्वामीजी सूत्रकार छे, अने पोताना शिष्य-अंतिम केवळी श्री जंबूस्वामीजीने पूछीने सूत्रो रचे छे, ज्यां मान-अपमान सर्वोने मर्दन करवानुं शिक्षण आपवा माटे आ अपूर्व दृष्टांत दरेके दरेकने अनुकरणीय छे वर्तमानकालीन आगमनना अभ्यासीओने स्मृति-पथमां आ प्रसंग सुस्थिर ज रहे के-श्री आचारांगसूत्रनुं प्रथम सूत्र कयुं ?,

आ सूत्र आवे छे. पोताना इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ ”
कहेवुं पडशे के—“ सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ ” आ सूत्र आवे छे. पोताना
सुशिष्य–श्रीजम्बूस्वामीजीने उद्देशीने पंचमगणधर–भगवान्–श्री सुधर्मास्वामीजी जणावे छे के—हे जंबू ! भगवान् श्रीमहावीर–
महाराजा पासेथी म्हें सांभळेलु हतुं अर्थात् भगवान् श्रीमहावीर महाराजाए आ प्रमाणे कहेलुं हतुं, अने में जे कर्णोपकर्ण सांभळ्युं
हतुं ते ज हुं तने संभळावु छुं के—“ आ संसारमां कोइपण जीवने वास्तविक ज्ञान नथी. ” आ वातनी वधु स्पष्टता करनारे प्रथम
सूत्रनी पू. श्रीशीलाकसूरीश्वरजीविरचित–वृत्तिनुं वाचन, मनन अने परिशीलन करवुं जरुरनुं छे. आ संसारमां परिभ्रमण करनारा
एकेन्द्रियथी पंचेन्द्रिय सुधीना सघळा जीवोने चार संज्ञा मानेली छे एटलुं ज नहिं पण श्रीप्रज्ञापनादि–सूत्रोमां दश संज्ञाओ दरेक
जीवो माटे जणावेली छे, ते आ प्रमाणे छे— १ आहार, २ भय, ३ मैथुन, ४ परिग्रह, ५ क्रोध, ६ मान, ७ माया, ८ लोभ,
९ ओघ; अने १० लोक संज्ञा जणावी छे. आ संज्ञावाळा सर्व जीवो छे; छतां “ इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ ” ए सूत्र केम रचाय
छे ?, आ संज्ञाओ दरेके दरेक जीवोने होवा छतां पण निषेधवाचक शब्द साथे संज्ञानुं सूचन होवाथी कोइ विशिष्ट ज्ञानसूचक
संज्ञा होवी ज जोइए, ए आ सूत्रना रचयितानो उद्देश छे, एम ध्वनित थाय छे. जो आ वात न विचारीए तो चौद विद्याना पारंगतो
इन्द्रभूति आदि मुख्य अगिआर ब्राह्मणो अने तेओनो ४४००) चुम्मालीसोनो शिष्यादि परिवार पण अभण नथी, एटले दुनिया–
दारीना सघळाए व्यवहारिक–ज्ञानमां कुशळ, बाहोश, अने निष्णात हता एम कहेवाय छे, आ वातने तेओनी पूर्व अवस्थानुं
जीवन साक्षी पूरवा साथे वधु मजबूत बनावे छे. आथी स्त्रीओनी चोसठ कळाओमां के पुरुषोनी व्होंतेर कळाओमां, दुनियामां
कहेवाती विद्याओमां के कहेवाता विज्ञानोमां, दुनियाना व्यवहारोमां के विविध जातिना व्यापारोमां; अने अनेकविध राज्य रमतोमां

बे ने बे चार जेवी वात सीधी रीते अने सरळपणे समजाइ जाय छे. शासन–मान्य–ज्ञानीपणाने वास्तविक रीतिए स्पर्शन करीने दिनप्रतिदिन कल्याणकारी जीवनचर्याने जाणीने वीर्योल्लासमां आगळ वधीए.

पंचम–गणधरनी जीवनचर्या—

आसन्नोपकारी–अंतिम–श्रीवीरवीभुना सुशिष्य–पंचमगणधर–भगवान्–श्रीसुधर्मास्वामीजी हता, अने आ ग्रंथना रचयिता पण तेओ हता, एटले तेओश्रीना जीवननी संक्षिप्त–नोंधने स्मृतिपथमां लइने वीर्योल्लासनो वेग वधारवापूर्वक आगळ वधीए. प्रभु-श्रीमहावीर–महाराजानी पाटपरंपरामां ते पांचमी पाटे छे, अने तेओश्रीनुं स्वरूप आ प्रमाणे छे. कुल्लाग नामना एक गाममां अग्निवैश्यायन गोत्रवाळा धम्मिल नामना ब्राह्मण रहेता हता, अने तेमने भद्दिला नामनी स्त्री हती. आ बन्नेने संसारनी लीलाना अनुभवमां आगळ वधता भद्दिलाए एक पुत्रने जन्म आप्यो, अने संसारमां अति कुशळता प्राप्त करवा माटे पितानी आज्ञाथी पोते चौद विद्याना पारगत बन्या हता. तेओनी (आर्य–सुधर्मानी) निश्रामां रहीने विद्या संपादनना अर्थि–पांचसो शिष्यो अध्ययन करता हता. पचास वर्ष लगभग पठनपाठन, वादविवाद अने ब्राह्मण कुळने अनुसरती क्रियाकांडमां व्यतीत कर्या. अपापा नामनी नगरीमां सोमिल–ब्राह्मणने घेर यज्ञ होमनी क्रिया करवा–कराववा माटे देश–परदेशथी ब्राह्मणो आवेला छे. ते सर्व–ब्राह्मणोमां आर्य इन्द्रभूति, आर्य अग्निभूति, आर्य वायुभूति, आर्य व्यक्त; अने आर्य सुधर्मादि अगीआर ब्राह्मणो आदि मोटी संख्यामां अनेक जातिना ब्राह्मणो एकठा मळ्या छे. आ अवसरे केवळज्ञानी विभु श्रीमहावीर महाराजा रज्जुआलिका नदी पासेना क्षेत्रमांथी विहार करीने महसेन वनमां पधार्या छे. देवोए प्रभु श्री वीर पधारे छे, एटले समवसरणनी रचना करी छे. आकाशमांथी आवता जतां विमानोने अने

देव-देवीओना परिवारने विद्यार्थीने पहेली महत्ता मानतारा आगेवान ब्राह्मणो अने तेमनो सघळोए परिवार आश्चर्य-चकित थाय छे परन्तु ए नहिं पण आ बधां विमानो, देवेन्द्रो, देवो, देवीओ अने सघळोए जन समुदाय यज्ञमां नहिं आवतां भगवान श्री महावीर-महाराजाने वन्दन करवाने अने वाणी श्रवण करवाने जाय छे, आ वातथी विस्मय करीने आगेवान ब्राह्मण गौतम गोत्रवाळा आर्य-इन्द्रभूति सर्वज्ञपणाना अभिमान साथे भगवान् श्रीमहावीर महाराजा साथे वाद करीने जीतवा जाय छे; अने छेवटे तेमनी पासे जीताइ जाय छे तेनुं संक्षिप्त वर्णन श्री कल्पसूत्रना गणधर-वाद नामना प्रसिद्ध व्याख्यानाधारे चतुर्विध संघ नियमतः श्रवण करे छे गणधर-वाद-विचार संबंधी शंका समाधान विचारणी जाणवानी अभिलाषावाळाए श्री आवश्यक-सूत्र, श्री विशेषावश्यकादि प्रौढ-ग्रन्थोनुं वांचन, मनन, परिशीलन जरुर करवानुं छे आर्य-इन्द्रभूति पोतानी पचास वर्षोनी जूनी शंकानु समाधान पामीने जीताइ गया पछी पोताना पांचसो शिष्योनी साथे दीक्षित थाय छे, अने प्रथम गणधर तरीके प्रसिद्ध थाय छे त्यार पछी अनुक्रमे पोताना भाइ अग्निभूति पोताना ज्येष्ठ बांधवने पाछो लइ जवाने बीकवाळा हृदयथी भगवान् महावीर पासे आवे छे, अने तुरत पोतानी शंकाना समाधान साथे जीताइ जाय छे छेवटे पोताना पांचसो शिष्य साथे दीक्षा लेइने बीजा गणधर तरीके प्रसिद्ध थाय छे ते पछी त्रीजा भाइ आर्य-इन्द्रभूतिए अने आर्य अग्निभूतिए जेओने गुरुजी तरीके स्वीकार्या तेओमां म्हारा पण गुरुजी छे ए मान्यताथी अनुक्रमे आर्य वायुभूति, आर्य व्यक्त अने आर्य सुधर्मा विगेरे आगेवान ब्राह्मणो आवे छे तेओना हृदयना सूक्ष्म गुप्त रहेली शंकाओने प्रभु महावीर जणावे छ, अने सर्वेनी शंकाना समाधान तेओना वेदमां ते ते पदोद्वारा यथार्थ-अर्थनुं अनुरूप संबंध साथे विवेचन करीने समजावे छे आवे आगेवान अगीआर ब्राह्मणो पोताना शिष्यादि

४४००) ना परिवार साथे दीक्षित थाय छे, अने ते अगीआर आगेवान ब्राह्मणो एटले मुख्य शिष्यो गणधर पदथी विभूषित थयेला शासनमान्य–सुशिष्यो थया छे, ए वात शासनमान्य–शास्त्र–सुप्रसिद्ध छे. आ अवसरे सकल अंगादिना रचयिता आ पंचम गणधर भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजीनी उम्मर पचास वर्षनी छे. दीक्षा लीधा पछी तेओए त्रीश वर्ष पर्यंत श्रीवीर–विभुना चरणकमळनी उपासना करी छे, अने श्रीमहावीर–महाराजाना निर्वाण पछी ९२ बाणुं वर्षे एटले बाणुं वर्षनी उम्मरे विशुद्ध भावनाथी भावित थयेला ते पंचम गणधर भगवानने केवळज्ञान प्रगट थाय छे. केवळज्ञानना पर्यायथी विभूषित थयेला भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजीए ग्रामानुग्राम विहार करीने अनेक भव्योनो उद्धार कर्यो, अने आठ वर्ष सुधी केवली पर्याय पूर्ण करीने, एक महिनाना चोविहार उपवासनी घोर तपश्चर्या तपीने, पादपोपगमन नामना अनशनने अनुसरीने, अने सकळ–कर्मनो क्षय करीने भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजी मोक्षे गया हता, अने भगवान श्रीमहावीर महाराजाना मोक्षगमन पछी १–आर्य श्री इन्द्रभूति प्रथम गणधर अने २–आर्य श्रीसुधर्मास्वामीजी पंचम गणधर हता. पूर्वना नव गणधरोए जेम पोतानो शिष्य परिवारादि श्रीसुधर्मास्वामीजीने भळाव्यो हतो, तेम प्रथम गणधर भगवंते पण पोताना सघळा परिवारने श्रीसुधर्मास्वामीजीने भळावीने पोते मोक्षे गया. एटले ते अवसरनी शरुआतथी अद्यापि पर्यंतना जे साधु–साध्वीओ छे ते बधाए श्री आर्य सुधर्मास्वामिजीना शिष्य संतानो छे–जुओ स्थविरावलिमां आ प्रमाणे उल्लेख छे.

जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति । एएणं सवे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवच्चिज्जा ।

श्रीद्वादशांगीना रचनावसरे स्थळे स्थळे भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजी पोताना शिष्य श्रीजंबूस्वामीजीने उद्देशी कथन करे छे, माटे

तेओश्रीना जीवनने वांचीने, विचारीने अने परिशीलन करीने अनुमोदनरूप—अमृतनुं आस्वादन करीए.

अंतिम केवळीनी जीवनचर्या—

पंचम—गणधर—भगवान्—श्रीसुधर्मास्वामीजीना प्रथम—सुशिष्य के जे वर्तमान शासनमां अंतिम—केवळी—श्रीजम्बूस्वामीजी कहेवाय छे. सूत्रकार श्री पंचम गणधर छे, अने अक्षर—आगमने सूत्रथी प्राप्त करनार श्री जम्बूस्वामीजी होवाथी तेओश्रीजीनुं जीवन सांभळवुं जरूरी जाणीने अत्र विचाराय छे. लगभग २४७५ वर्षोनां व्हाणां वीती गयां, छतां पण आ महापुरुषोनी जीवनगाथाओना यशोगान गाईए छीए, त्यारे भूतकाळने भूली जवाय छे, अने तेओनुं भूतकाळनुं जीवन वर्तमान काळना साक्षात्कारोनो अनुभव करावे छे. आ जम्बूद्वीपना दक्षिणार्ध भरतना भरतक्षेत्रमां मगध नामनो देश छे, अने तेनी राजधानी राजगृह नामना नगरमां हती. ते नगरमां अति धनवान अने कोट वगरनी संपत्तिना भव्य ठाठोना अनुभवी श्रेष्ठि ऋषभ अने धारिणी करतां हतां संसारनी लीलानो अनुभव करतां धारिणीनी कुक्षिमां पांचमा देवलोकमांथी च्यवीने एक देव गर्भपणे उत्पन्न थयो, अने ते गर्भनो परिपक्व काळे पुत्रपणे जन्म थयो. स्वप्नना अने दोहदना भावने अनुसरतुं श्रेष्ठिना सगा—वहालाओए मळी श्रीजम्बू एवुं नाम स्थापन कर्युं. अने तेणे श्रीसुधर्मास्वामिजीनी देशना श्रवण करीने सम्यक्त्व सहित शील अंगीकार कर्युं. श्रीजम्बूस्वामीने परणवानी इच्छा नहोती, छतां मातपिताना अति आग्रहथी ते आठ कन्याओ परण्यो, परंतु तेओमां स्नेहपाश—वाणीथी लेशमात्र व्यामोहित थयो नहि; कारण के संसारसमुद्रनो पार पामवा माटे जेणे सम्यक्त्व अने शील नामना तुंबड ग्रहण कर्यां छे, ते श्रीजम्बूस्वामीजी मोहरूप सरिताओमां डूबी शकतो ज नथी. रात्रिमां ते स्त्रीओ साथे अनेक

प्रकारनी शंकाओना समाधान आपीने, अने सुंदर विचार–विनिमय करीने; ते आठे स्त्रीओने प्रतिबोध पमाडीने दीक्षानी अर्थिनी बनावी. एटलु ज नहिं पण ते ज रात्रिमां प्रभव नामनो चोर बीजा चोरो साथे चोरी करवा आव्यो हतो. परंतु " आ घरनो मालिक स्त्रीओ साथे ९९ नवाणु क्रोडनी संपत्तिने छोडीने जनार छे " ए वातने विवेकपूर्वक हृदयमां स्थिर करीने चोरी करवा आवेला ते चोरे विनाशि–संपत्तिओनो मोह मूकीने अविनाशि–महामूल्यवाळां त्रण रत्नोनी चोरी करवानो सघळा चोर साथे निर्णय कर्यो. सवारमां पांचसो चोर, आठ स्त्रीओ, आठ स्त्रीओना मातापिता, पोताना मातापिता; अने पोते मळीने कुल–५२७ पांचसो सत्तावीशनी संख्यामां दीक्षित थया. भगवान् सुधर्मास्वामीजीनी पासे श्रीजंबूस्वामी प्रथम शिष्य थया, अने तेमनी पाटे श्रीप्रभवस्वामी आव्या. श्रीजंबूस्वामीजी सोळ वर्ष गृहस्थाश्रममां रहीने, ते पछी दीक्षा लइने, वीश वर्ष सुधी श्रीसुधर्मास्वामीजीना चरणकमळनी उपासना करीने चुम्मालीश वर्ष केवलिपर्याय पामीने; अने समग्र एंशी वर्षनुं आयुष्य पूर्ण करीने परमपदने पाम्या. श्रीजंबूस्वामीजी मोक्षे गया पछी कोई पण केवळज्ञान पाम्युं नथी, अर्थात् केवळज्ञान पामीने मोक्षे गयुं नथी, माटे तेओश्रीने शासनमां अंतिम केवळीना नामथी पिछाणे छे.

' सुयं मे.' अने ' त्तिबेमि ' पदोनी व्यापकता—

शासनमान्य–ज्ञानीओने, शासनना संचालक पंचम गणधर श्रीसुधर्मास्वामीजीना जीवनने, अने अंतिम केवळी श्रीजंबूस्वामीजीना जीवनने स्मृतिपथमां राखीने, हवे आपणे अंगना प्रारंभकाळने, अने ते अवसरनी रचना पर ध्यान दइए. शासनमान्य–ज्ञानिपणुं स्पर्श्युं छे, ते माटे तेओश्रीनी रचनाओ ज साक्षी पूरवा समर्थ छे. आत्मादि भावोनी साथे गति–आगतिने समजीने म्हारां

साधुओ अने साध्वीओ, तथा म्हारा श्रावको अने श्राविकाओ पण ते ज रस्ते अनादिकाळनी अज्ञानीपणानी आंधीमांथी नीकळीने शासनमान्य-ज्ञानिपणाने स्पर्शे ए ज एक हेतुथी—" सुयं मे आउसंतेण इहमगेसिं नो सन्ना भवइ " आ सयुक्ति-पदोद्वारा श्रीआचारांगना प्रथम सूत्रनुं आयोजन करे छे ज्ञानीपणाने अने अज्ञानीपणाना वास्तविक तफावतने समजी शके एवा समजु वाचकोने, विचारकोने अने अभ्यासीओने " सुयं मे " इत्यादि पदोना परमार्थ समजवामां अने ते परमार्थ-पीयूषनुं आस्वादन करवामां क्वचित्मात्र विलंब थतो ज नथी आथी ज अंगना प्रारंभमां प्रथम गणधर भगवान् श्रीसुधर्मास्वामीजी जणावे छे के—भावोपकारि-शासनसंस्थापक-अंतिम-तीर्थंकर-भगवान्-श्रीमहावीर-महाराजाना चरणकमळनी उपासना करतां में जे सांभळ्युं छे, ते हे जंबू ! हुं तने कहीश आ रीतिए ' सुयं मे ' इत्यादि पदोद्वारा पोताना शिष्य-श्रीजंबूस्वामीजीने उद्देशीने जणावे छे श्रीआचारांग-सूत्रनी आदिमां ' सुय मे० ' अने अंतमां ' त्ति बेमि ' ए पद व्यवस्थित आवे छे, परंतु श्रीसूत्रकृतांगमां प्रथम सूत्रमां ' बुज्झिज्जत्ति० ' इत्यादि पदो छे, पण शरू थता सूत्रनी साथे ' सुय मे ' ए पदो नथी, छतां पण ते एम समजीने ज वाचके, विचारके अने अभ्यासके अर्थ करवानो छे, अने आगो आगो पर ते ज रीतिए वर्तवानुं छे, ए आ उपरना आलेखनथी स्पष्ट थाय छे ते बे पदोनी सुव्यवस्था—

हवे ' सुय मे ' ए सूत्रनी व्यवस्थामां ' मे ' प्रथम जोइए, अने सुयं पछी जोइए, परंतु " मंगलवचनाः यम्दा आद्याः प्रयोक्तव्याः " ए नियमथी जे वात जागत थरे छे, ए ज सूत्रमां मंगळवाचक पद पहेलुं जोईए ए वात ध्यानमां होय तो आ स्थाने अवकाश नथी एटले सुय मंगळवाचक शब्द होवाथी प्रथम होवो जोइए, अने रचनामां प्रथम छे ए सुसंगत छे

श्रीशीलाकसूरिजी आ सूत्रना पदच्छेद वखते श्रुतं मया० एवुं वृत्तिमां उपर प्रमाणे जणावे छे, 'मे' पदनी व्याख्यामां षष्ठीने बदले तृतीयानी व्याख्या संगत छे. 'विभक्तिथमन्ततसाद्याभाः' ए सूत्रथी अव्ययपद-बोधक 'मे' शब्द होवाथी गमे ते विभक्तिनो अर्थ करी शकाय छे, ते सिवाय अस्मदुनु प्राकृत-भाषामां तृतीयामां 'मे' रूप बने छे, एटले उपरना समाधान साथे आ पण विचार कर्यो होय, अने तेथी व्याख्याकारे तृतीयानो अर्थ कर्यो छे ते पण सुसगत छे. पोताना शिष्यने सूत्रसंदर्भ आपता हुं तने आम जणावुं छुं एम नहि, पण भगवान्-श्रीमहावीर पासेथी म्हें मेळव्यु छे ते ज तने हुं अनुवादरूपे जणावुं छुं. हुं कहेतो नथी, म्हारा घरतुं कहेतो नथी, मनोघडंत कल्पनाओ ठालवतो नथी, परंतु श्रीभगवंते जे कीधुं ते ज कहुं छुं, अने तेथी ते माटे अभ्यासके विचारवानी जरूर छे के अध्ययन के उद्देशनी परिसमाप्तिमां 'त्तिबेमि' ए पद स्वमनीषिकानो भारपूर्वक परिहार सूचवे छे. एटलुं ज नहि पण शासनसंस्थापक-परमतारक-गुरुवर्य-श्रीतीर्थंकर प्रति पू. गणधरनो अति आदर बहुमान सूचवे छे, अने तरण-तारण-गुरुवर्यो प्रत्ये भावि-शिष्यादिके आ रीते वर्तवुं एवुं हितकर सूचन आथी ध्वनित थाय छे. जे जे अध्ययन विगेरेनी आदिमां "सुयं मे" आदि पदो होय, अने अंतमां "त्तिबेमि" पद होय तो भगवान्-श्रीमहावीर-महाराजा पासेथी श्रीसुधर्मास्वामीजीए मेळव्यु, अने पोताना शिष्य-श्रीजंबूस्वामीजीने स्वपरहितार्थे दीधुं ए स्पष्ट थाय छे. आ प्रसगने स्पष्ट करतां श्रीसूत्रकृतांगनी वृत्ति करतां श्रीशिलांकसूरिजी पण प्रथम अध्ययनना प्रथम उद्देशानी समाप्तिमां मूलकार आ रीते जणावे छे—

इति बेमि पढमज्झयण पढमो उद्देशो समत्तो ॥ अने वृत्तिकार आ रीते "इति बेमि" संबंधमां आ रीते वृत्तिमां जणावे छे.

"ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह–ब्रवीम्यहं तीर्थंकराज्ञया,
न स्वमनीषिकया, स याह ब्रवीमि येन मया तीर्थंङ्करसकाशाच्छ्रुतम् ॥"

(श्रीयोगीश्री॰ सु सू पृ १०–पंक्ति ४–५)

हवे आ उपरथी जे अध्ययननी अंतमां 'त्तिबेमि' होय, ते अध्ययनना प्रारंभमां 'सुयं मे आउसंतेण भगवया एवमक्खायं' आ पदो अवश्यमेव छे, एम समजी ज लेवां जोईए. जेवी रीते श्रीदशवैकालिकसूत्रनी अंतमां 'त्तिबेमि' पद छे, परंतु अध्ययनमां 'सुयं मे' इत्यादि पदो नथी छतां ते स्वीकारी लेवां ज जोईए. आवीज स्पष्टता नवांग–वृत्तिकार–श्रीअभयदेवसूरिजीए पण ठाम ठाम पोतानी वृत्तिमां करेली छे आ उपरथी "सुयं मे" अने "त्तिबेमि" इत्यादि पदोनी मौलिकता, अने पारमार्थिकता वांचकोए अने अभ्यासकोए अनुक्रमे वांचनकाळे अने अभ्यासकाळे अवश्यमेव विचारवी जरूरनी छे आ उपर जणावेला पदोना परमार्थ मत्ये वास्तविक–श्रीविपूर्वकनी प्रतीति अने रुचि थाय छे, तेना हृदयमां ज पू तीर्थंकरोए कथन करेला अर्थनुं अमृतास्वादन अने पू गणधर भगवंतोना रचेला सूत्रोनुं सुधास्वादन स्पष्टपणे निरंतर थयु छे, थाय छे, अने थशे, ते निःशंक वीना छे

सर्वश्रुत–संपदाना मालिक–श्रीसुधर्मास्वामीजी—

"वर्धमानकालीन समग्रीए श्रुतसंपदाना मूळ प्रणेता श्रीसुधर्मास्वामीजी छे" ए वातने पूर्वे निर्णीत स्वरूपे विचारी गया हवे निर्णीत वातनी आडे आवनारी वातो विचारीए छीए, जो अनेकविध रचनाओ अनेकानेक महात्माओए करेली छे; अने ते ते कृतिओ नजर सन्मुख थई रही छे पांचमुं अंग श्रीभगवतीजीसूत्रना सूत्रोमां रचयिता प्रथम गणधर भगवान् श्रीगौतमस्वामीजी छे

प्रातःस्मरणीय–पूर्वधरोनी अने शासनमान्य स्थविर–भगवंतोनी अनेकविध रचनाओ होवा छतां यथीए शासनमान्य–रचनाओना आद्य–रचयिता–पंचम–गणधर–भगवान्–श्रीसुधर्मास्वामीजी मानवा शी रीते ?, ए अत्र प्रासंगिक प्रश्न थाय ते संभवित छे. आ प्रश्नना समाधानमां समजवानुं ए छे के–सर्वज्ञ भगवंतना शासनमां मनोघडंत कल्पनाओने मान्य राखवाने लेशभर अवकाश ज नथी. दरेक श्रुतस्कंधमां, दरेक अध्ययनमां, दरेक सूत्रमां अने दरेक शासनमान्य–विशिष्ट–रचनाओमां ' सुयं मे ' पदो न लीधां होय, अगर ' त्तिबेमि ' पद न बोल्या होय अगर न जणाव्यां होय तो ते पदो त्यां छे एम ते स्थळे समजी ज लेवां जोइए. आ ' सुयं मे ' इत्यादि पदोथी कल्पनाना गोळा गबडाववाने भगवंतना शासनमां साफ साफ मनाइ करेली छे. एटलुं ज नहीं पण ' सुयं मे ' इत्यादि पदो विगेरेथी जैनशासन–मान्य आगम संबंधी अर्थथी थती प्ररूपणाओ अने सूत्रथी थती प्ररूपणाओ निश्चित बनी जाय छे, जैनागमना सारभूत रहस्यना जेओ आस्वादी हशे तेओने आ वात समजाववी पडे तेम नथी. अर्थथी–आत्मागम, अनंतर–आगम अने परंपरा–आगमने समजवामां, तथा सूत्रथी–आत्मागम, अनंतर–आगम अने परंपरा–आगम समजवामां विलंब थतो नथी. अर्थथी प्ररूपणा करनारा अरिहंतोने आत्मागम, तेमनी पासेथी श्रवण करनारा एटले ते अरिहंत भगवंतोनी अमोघ–दिव्य–देशनाने झीलनारा गणधर भगवंतोने अनंतर आगम, अने प्राप्त थयेला अर्थने शिष्य–परंपरामां पठन, पाठन कराये ते सर्वने परंपरा आगम होय छे आ रीतिए आसन्नोपकारि–अंतिम–विभु श्रीवीर–परमात्मा अर्थथी देशना देनार होवाथी तेओने आत्मागम, शासनना मालिक पंचम गणधर भगवंत ते देशना झीलनार होवाथी तेओने अनंतर–आगम, अने अंतिम–केवळी–भगवन्त–श्रीजंबूस्वामीजी ते अर्थने तेओ पासेथी (श्रीसुधर्मस्वामीजी पासेथी) पाम्या तेथी तेमने परंपरा आगम होय ए स्वाभाविक छे. आ रीतिए अर्थथी

अर्थ–आगमना त्रण प्रकारो समजवा हवे सूत्रना रचयिता श्रीसुधर्मास्वामीथी होवाथी सूत्रथी आत्मागम श्रीसुधर्मास्वामीजीने, तेमनी
पासेथी सूत्रोनी अनतर प्राप्ति करनार श्रीजंबूस्वामी छे, माटे सूत्रथी अनंतर आगम श्रीजंबूस्वामीजीने, अने ते पछी तेओश्रीजीए
(श्रीजंबूस्वामीजीए) श्रीप्रभवस्वामीजीने परंपरामां सूत्रथी दीधुं माटे सूत्रथी परंपरागम श्रीप्रभवस्वामिजीने छे पक्खी, चउम्मासी
अने सांवत्सरिक प्रतिक्रमण अवसरे जे पक्खी खामणा खमाय छे (चउम्मासी, अने सांवत्सरिक–अवसरे जे खामणा खमाय छे),
ते अवसरे त्रीजा खामणानो पाठ बोलवाना अवसरे–अक्खरं वा, पयं वा, गाहं वा, सिलोगं वा, सिलोगद्धं वा, अट्ठं वा,
हेउं वा, पसिणं वा वागरणं वा० इत्यादि पदो बोलनारने पोतानी मालिकी नथी, पण परंपरामां मळ्युं छे ते ज अपाय छे, अने
मपामाय छे अने तेथी ज चढीओ ते खामणा प्रसंगे “ आयरियसंतियं ” एम बोले छे एटले तमने जे कांई वस्त्रपात्रादि अगर
वस्त्रादि अपाय छे, ते प्रभु आचार्यनी परंपरामां प्राप्त थयुं ते रीते अपाय छे, अमारुं तेमां कई नथी, आ रमळे पण स्वमनीषिकानो
परिहार प्रगटपणे सूचवाय छे आथी ए वात अत्र निर्णीत थाय छे के ज्याय तो चौदपूर्वधरनी के दशपूर्वधरनी रचनाओ होय,
ज्याय तो निर्युक्तिकारनी के भाष्यकारनी रचना होय ज्याय तो चूर्णिकारनी के वृत्तिकारनी रचना होय, ज्याय तो सूरिपुरंदरनी के
वाचकवर्यनी रचना होय तो पण दरेके–दरेकनी रचनाओनी परंपराना उत्पादने उपासीए तो शासननी उपलब्धि–श्रुतसंपदाना अने
पारिग्रहणपदाना मालीक सुधर्मास्वामी हता, छे, अने वर्तमान शासननी परिसमाप्ति पर्यन्त तेओ ज रहेशे, ए सर्वदा स्मृतिपटमां
स्थिर करवुं आवश्यक छे हवे तेओश्रीनी अति महत्त्वभरेली अंग–उपांगोनी रचना पैकी श्रीसूत्रकृतांगनुं नाम, तेनी महत्ता अने
सामग्रीसंपत्तने विवेकपूर्वक विचारीए.

ग्रन्थनुं गुणनिष्पन्न-नाम—

शासननायक-सूत्रकार-पंचम-गणधर-श्रीसुधर्मास्वामिजी, अने जेओने उद्देशीने सूत्रो कहेवाय छे ते अंतिम केवली श्रीजंबूस्वामीजी, आ बन्नेनी जीवनचर्यानो अभ्यास करीने, अने साथे साथे सर्व श्रुतसंपदाना मालिक श्रीसुधर्मास्वामीजीनो स्वीकार करीने "सुयं मे" इत्यादि पदोनी व्यापकता अने व्यवस्था समजी गया. आथी बधा अंग-उपांगनी जेम श्रीसूत्रकृतांग-सूत्रनी सघळी-सामग्रीना रचयिता-पंचम-गणधर-भगवान-श्रीसुधर्मास्वामी ज छे. हवे आ ग्रंथनुं नाम शी रीते पड्युं ते वातने जणावतां थकां चौद पूर्वधर-अर्थकार-शिरोमणि-श्रीभद्रबाहुस्वामिजी श्रीसूत्रकृतांगनो परिचय करावतां आ प्रमाणे जणावे छे के-चार अंगोमां आ श्रीसूत्रकृतांग ए बीजुं अंग छे, अने तेना गुणनिष्पन्न नामो त्रण छे.

सूयगडं अङ्गाणं बिइयं तस्स य इमाणि नामाणि । १ सूयगडं २ सुत्तकडं ३ सूयगडं चेव गोण्णाइं ॥ २ ॥

१ सूयगडं, २ सुत्तकडं, ३ सूयगडं; पू. श्रीनिर्युक्तिकार जणावे छे, अने पू. श्रीवृत्तिकार सूतकृत, सूत्रकृत, अने सूचाकृत एम जणावे छे तीर्थंकर भगवंत पासेथी अर्थरूप उत्पन्न थयेलाने ग्रन्थरचना शैलीथी गणधर भगवंतोए जे गुंथ्युं ते सूतकृत-१, गणधर भगवंतविरचित-सूत्रानुसारे सूत्रस्थित-भावानुसारे, तद्विषयक-तत्त्वावबोध कराय छे, अर्थात् निर्वाणपथ जणाय छे, ते सूत्रकृत-२, अने स्वपरसमयना भावोनुं सूचन आ सूत्रोमां ठासी ठांसीने भरेलुं छे, तेथी "स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा" आ सूत्रने विषे करेली छे तेथी सूचाकृत ३; आ उपरना त्रण नामोना भावार्थने जणावीने ते ज नामोनी यथार्थ गुणनिष्पन्नता पू. निर्युक्तिकार वधु स्पष्ट करे छे.

सोऊण जिणवरमतं गणहारी काउ तक्खओवसमं । अज्झवसाणेण कयं सुत्तमिणं तेण सूयगडं ॥ १८ ॥

आ अध्ययनमां अनुकूळ उपसर्ग ...

निर्युक्तिना मङ्गलमा पद्यमां पू. श्री निर्युक्तिकार जणावे छे के–त्रैलोक्यनाथ तीर्थंकर भगवंतोना अभिप्रायने श्रवण करीने, अने स्वरसमाने अनुकूळनो कर्म क्षयोपशम करीने, शुभ–अध्यवसायथी आ सूत्रो कर्या छे, तेथी तेनु नाम सूयगडं=सूत्रकृत करेलुं छे आ रीते विवेकपूर्वक विचारतां प्रभनु नाम सूत्रकृतांग राखेलुं छे, ए गुणनिष्पन्न युक्तियुक्त छे

सूत्रकृतांगनी महत्ता—

वर्तमानकालीन श्रमण भगवंतोने उभय टंक प्रतिक्रमण काळे आ सूत्रकृतांगनु महत्त्व स्मृतिपथमां सर्वदा सुस्थिर राखवा माटे "पगामसिज्जाए०ना" (श्रमणसूत्रना) उच्चारण वखते "सोलसहिं गाहासोलसेहिं", अने "तेवीसाएहिं सूयगडज्झयणेहिं", आ बे वाक्योना उच्चारण कराय छे अभ्यासीओ श्रीसूत्रकृतांग–सूत्रना प्रतिस–अध्ययननो सारांश स्मृतिपथमां राखवाथी स्वदर्शनमां वधु ने वधु स्थिर बने छे, अने परदर्शननी मान्यताओ अने चित्तने विह्वळ–बनावनारा–चमत्कारादिथी कद छेक्षमर व्यामोहित बनता नथी प्रथमांग–श्रीआचारांगमां कथन करेला पांच आचारोथी पुनित–जीवन–जीवनारा श्रमण–भगवंतो स्वपरसमयने विवेकपूर्वक जाणीने श्रद्धामां वधु ने वधु स्थिर थईने अन्य जीवोने वधु स्थिर करे ते माटे आ सूत्रकृतांगनी महत्ता मूल्यांकन जेटलु करीए, कहीए, अने आलेखन करीए तेटलुं ओछुं छे माटे विवेकीओए आ महत्त्वमयो मूल्यांकन प्रसंगत अवश्यमेव विचारवानुं सबरनु छे प्रथम–श्रुतस्कंधना सोळ अध्ययनोना पूर्वापर–संबंधने विचारीने, परिशीलन करीने, अने अभ्यास करीने, साथे साथे बीजा श्रुतस्कंधना सात अध्ययनोना पूर्वापर संबंधने विचारीए तो, परिशीलन करीए तो; अने अभ्यास करीए तो विवेकी वाचकोने अवश्यमेव मालूम पडशे के दुनियाभरना विविध–जैनेतर–शासनोनी मान्यताओ सामे, आचारो,

विचारो, सिद्धान्तो, युक्तिओ अने प्रयुक्तिओ सामे अभेद्य दिवालनी जेम अडग रहेवानी अपूर्व आस्तिक्यतानुं अपूर्व जोम टकावी राखनार अने विद्वानो सामे सुंदर समाधानो आपीने जैन–शासननी अपूर्व जयपताका फरकाववानी ताकात समर्पण करनार होय तो आ एक ज सूत्रकृतांग छे.

सूत्रकृतांगनी सामग्रीओ—

शासनमान्य–प्रातःस्मरणीय–पूज्यपाद–पंचम गणधर भगवंत–श्री सुधर्मास्वामीजीए आ सूत्रकृतांग सूत्रनी रचना श्रुतस्कंधरूप बे विभागमां करी छे. प्रथम श्रुतस्कंधमां १६ अध्ययनो छे, अने बीजा श्रुतस्कंधमां सात अध्ययनो छे. एकंदर बे श्रुतस्कंध अने त्रेवीस अध्ययनो छे, अने ३३ उद्देशक छे. श्री आचारांग सूत्रथी बमणुं छे, अने छत्रीस हजार पदप्रमाण आ श्रीसूत्रकृतांग छे. आ ज वातने समर्थन करतां पू. श्री निर्युक्तिकार आ प्रमाणे सूत्रकृतांगनी निर्युक्तिमां जणावे छे.—

दो चेव सुयक्खंधा, अज्झयणाइं च हुंति तेवीसं। तेत्तिसुद्देसणकाला आयाराओ दुगुणमंगं ॥ २२ ॥

प्रथम अध्ययनमां चार, बीजा अध्ययनमां त्रण, त्रीजा अध्ययनमां चार, चोथा अध्ययनमां बे, पांचमा अध्ययनमां बे, अने छ थी सोळ अध्ययनमां एक एक उद्देशो एटले अगीआर उद्देशा छे. आथी प्रथम श्रुतस्कंधमां सोळ अध्ययनो, अने छवीस उद्देशा छे, अने बीजा श्रुतस्कंधमां सात अध्ययनना सात उद्देशा छे. एकंदर मळीने बन्ने श्रुतस्कंधना त्रेवीस अध्ययन छे, अने तेत्रीस उद्देशा छे. पोताना नामने सार्थक करनार नामथी विभूषित थयेला आ सूत्रना अध्ययनोनो अनुक्रम आ प्रमाणे छे, अने

पूर्वापर अनुस्यूत–संबंधने समजवाथी संयमधारिओना जीवनमां नवीन ओज प्रगट थाय छे

पूर्वापर अनुस्यूत–संबंधने समजवाथी संयमधारिओना आचारादिनुं स्वरूप

अध्ययनना अनुक्रमने समजवा पहेलां प्रथम श्री आचारांगसूत्रमां मुख्यरूपे कथन करेला श्रमण भगवंतोना आचारादिनुं स्वरूप समजीने एटले जैन शासनमान्य–आचारो अने विचारो, सिद्धान्तो अने युक्तिओ, मान्यताओ अने रूढिओ, समजवा छतां जैनेतर–दर्शनोना आचारो अने विचारो, सिद्धान्तो अने युक्तिओ, अने मान्यताओ अने रूढिओने समजवा वगर सत्यथी खसी जवाना प्रसंगो बने छे, ते हेतुथी श्रमण भगवंतोने स्व–परदर्शनमान्य–सिद्धांतोने, अने विचारोने विवेकपूर्वक समजवाने आचार–विचारमां अति सुस्थिर बनाववा माटे श्रीसूत्रकृतांग सूत्रनी रचना थयेली छे "परनी प्रशंसा करनी मा करे" ए प्रचलित–कहेवतने अनुसरीने आ कहेवानुं नथी, पण आ सूत्रकृतांगना अध्ययनोना पूर्वापर–अनुस्यूत–संबंधने समजवाथी हेतुपुरस्सरनी युक्तिसंगत रचना थयेली छे, एम दृढ श्रद्धापूर्वक प्रतीति थाय छे, अने ए मानवामां लेशमात्र वांधो आवतो नथी आ सूत्रकृतांगना अध्ययनोनो पूर्वापर संबंध आ प्रमाणे छे

अध्ययनोनी ओळख—

प्रथम अध्ययन स्वसमय–परसमयनी प्ररूपणाना नामथी मशहूर छे आ अध्ययनमां स्वसमय एटले जैन शासनमान्य सिद्धांतो, युक्तिओ, आचारो, विचारो, अने मान्यताओमां उन्मय–जीवन–जीवनाराओने विभ्रमरूप विविध–दर्शनोनी मान्यताविना प्रसंगमां अवसरे अवसरे प्रमादिनी प्रक्रियामां आवतुं पडे तो तेनुं समाधान केवी रीते करवुं ?, तेनुं शिक्षण आपीने, लौकिक मतोनी

1 जुओ परिशिष्ट १ली. पृ. १थी पृ. ५१

मान्यताओनुं यथावस्थित दिग्दर्शन करावीने, उपसंहारमां “तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू” पू. श्री निर्युक्तिकार–कथित–शासनमान्य–सिद्धांतरूपे चारित्र–ज्ञानमां रहेलो साधु मोक्षमार्ग साधी शके छे ए जणावाय छे. एटले अध्ययनमां स्व-समयना (जैनदर्शनना) गुणोने अने परसमयना (जैनेतर दर्शनोना) दोषोने जणावीने अने जैनशासनमान्य श्रद्धामां दृढ–श्रद्धालु बनावीने स्वसमयमान्य बोधने अनुसरवानी आ अध्ययनमां खास भारपूर्वकनी भलामण छे.

बीजा अध्ययननुं नाम वैतालीय अध्ययन छे. आ अध्ययनमां पू. श्री वृत्तिकार जणावे छे के, “स्वसमयगुणाः परसमय-दोषाश्च प्रतिपादिताः तांश्च ज्ञात्वा यथा कर्म विदार्यते तथा बोधो विधेयः” ॥ आ पंक्तिनो परमार्थ ए छे के—स्वसमयना अने परसमयना अनुक्रमे गुणोने अने दोषोने विवेकपूर्वक जाणीने, अने आ अध्ययनमां दर्शावेला मार्गने अनुसरीने स्वसमयने अनुसरता बोधथी जीवनने ओतप्रोत बनावनार साधुए अष्टविध–कर्मोने विदारण करवानी कुशळ–कार्यवाहीनुं शिक्षण दाखला–दलील–युक्तिओपुरस्सर आ अध्ययनमां अपाय छे.

त्रीजा अध्ययननुं नाम उपसर्ग अध्ययन छे. सफळ कार्यवाही करनारने शुभ कार्यमां विघ्नो अवश्यमेव प्रतिकूळ–अनुकूळ आवे छे, तेथी उपसर्गरूपी विघ्नोनुं स्वरूप, अने उपसर्गरूपी विघ्नो विदारण करवानी कुशळ कार्यवाहीनुं दिग्दर्शन अने पारमार्थिक–उपदेश आ अध्ययनमां आवे छे.

चोथा अध्ययननुं नाम स्त्रीपरिज्ञा–अध्ययन छे. सघळाए उपसर्गोमां अनुकूळ–उपसर्गनुं अधिकतम दुर्जयपणुं छे, तेथी ज आ अध्ययनमां अनुकूळ उपसर्गने अनुसरवामां स्त्री ए मुख्य साधन छे, माटे स्त्रीस्वभाव, स्त्रीसंगदोषादिनुं विस्तृत स्वरूप आपीने

स्त्रीसंगपरिहार माटे पारमार्थिक–उपदेश आ अध्ययनमां आपेलो छे

पांचमा अध्ययननुं नाम नरकविभक्ति–अध्ययन छे संयम लीधा छतां गभरायेला स्त्रीवशवर्ति–संयमधारि–जीवो नरकगामी बन्या छे, थाय छे अने थशे एटले आ अध्ययनमां नरकनुं स्वरूप, नारकनी यातनाओ, अने नरकना परमाधामी आदिना वर्णन साथे नरकगमन केवी रीते थाय छे तेनुं विस्तृत वर्णन आ अध्ययनमां आपे छे

छठ्ठा अध्ययननुं नाम वीरस्तुति छे प्रथम श्रुतस्कंधना सोळ–अध्ययनो कहेवाना छे, छतां भगवान्–श्रीमहावीर–महाराजानी प्रारंभमां स्तुति करी नथी, अने अंतिम–भागमां पण स्तुति करी नथि, परंतु छठ्ठा अध्ययनमां पूर्वे अनावेल शंकाना समाधानमां पू. श्री निर्युक्तिकार समजावे छे के–" एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाहि ।" जेवी रीते भगवान् महावीरे संसारने जीत्यो तेवी रीते तेने जीतवा प्रयत्न करवो । आ वीना भगवान् श्री सुधर्मास्वामीजी पोताना परमविनेय श्री जंबूस्वामीने जणावे छे, कारणके पूर्वार्धमां ते ज भाव भरेलो छे आ अनावेल समाधान सूत्रकृतांगनी प्रस्तावनामां के संक्षिप्तमां होय तो नवी रूपे छे, छतां अहीं पांचमा अध्ययननी अनतर छठ्ठुं 'अध्ययन श्री वीरस्तुतिनुं कर्युं छे तेथी छ अध्ययनोनो अने पछीना अध्ययनोना पूर्वापर–प्रसंग तपासतां मालुम पडे छे के, दुःषमकालमां नरकना आलनी प्रथा पण असत्य हशे, अने वर्तमानमां पण तत्संबन्धि वातावरण पण तेवुं ज छे, कारणके आधुना कहेवाता पंडितो पण नरकगति माटे अभक्ता धरावे छे अने ते अभ्द्दाना प्रतिबिम्बो निवेदनोमां, जाहेर सभाओना व्याख्यानोमां, लेखोमां अने भाषान्तरोमां ठाम ठाम नजरे पडे छे आ वस्तु विचारतां मालुम पडे छे के–" स्त्रीसंगनुं वर्णन नहिं करनारने नियमतः नरके जवुं ज पडशे", ए वीना सामान्य माणस कहेता नथी पण

भगवान्–श्रीमहावीर जणावे छे, अने तेथी पूर्व अधिकार साथे सबंध मेळवतां पू. वृत्तिकार पण जणावे छे के–" अत्रानन्तराध्ययने नरकविभक्तिः प्रतिपादिता सा च श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनाऽभिहितेत्यतस्तस्यैवानेन गुणकीर्तनं " ...इत्यादि ॥ आ आलेखन पू. वृत्तिकारनुं सुसगत छे.

विशेषमां युक्तिथी पण नरकनुं स्थान मान्या वगर अदल–इन्साफनी प्रवृत्ति थवी अशक्य छे, कारणके एक खून करनारने फांसीनी सजा तो, सो हजार–लाख–क्रोड माणसोने मारी नाखनार, अगर एटम बोम्बथी भरपूर वस्तीने भस्मीभूत करनार पकडाय तो, आजनुं राजतन्त्र फांसी आपे तो एकना खूनमां अने क्रोडोना खूनमां एक ज वखत फांसी आवे ए शुं न्याय कहेवाय ? तेथी कर्म–सिद्धान्तनी व्यवस्थामा न्यायनी खातर एवुं एक स्थान होवु ज जोइए, के जे स्थानमां करेला खूननो बदलो व्यवस्थित–रीतिए घटता न्यायथी पश्चात्तापपूर्वक भोगवाववो ज जोइए, अने ते भोगववानुं स्थान तेनुं नाम नरक छे. तेवी रीते क्रोडो माणसने सुख–शांति आपनारने न्यायी बदलो देवा खातर देवगति होवी ज जोइए अने ते माटे पण देवलोकनी मान्यता माटे विवेकपूर्वक समजवुं अवश्यमेव जरुरनुं छे आथी नरकनी वातो प्रति हास्यपूर्वक कटाक्ष करनाराओने, अने " नरकनी वातो तो भय देखाडवा माटे छे " एवुं बोलनाराओने आ पांचमा " नरक–विभक्ति "–अध्ययनमां कहेला भावो ए अंतिम–शासनाधिपति–श्रीमहावीर–महाराजाए जणावेला छे, अने तेथी ज छट्ठा अध्ययनमां योग्य–सूचनपूर्वकनी स्तुति छे. साथे साथे भगवान्–श्रीमहावीर–महाराजानी आज्ञानो लोप करीने जेओ स्त्रीनो ससर्ग सेवन करशे, तेओ जरुर नरकनी यातनाओने विना सकोचे भोगवशे, ए ज हिसाबे पांचमा अध्ययन पछी आ छट्ठा अध्ययननी रचनामां श्रीवीर–विभुनी यथार्थ–गुणोनी स्तुति करी छे; ते अवसरोचित–प्रासगिक छे, एम

समजवुं ते ज्ञानपुरस्सरतुं छे

आ सातमा अध्ययननुं नाम कुशील-परिभाषा छे आ अध्ययनमां कुशील एवा परतीर्थिको अगर पासत्थाओ के जेओ मार्ग-विरुद्ध निरूपण करी रह्या छे, ते संबंधिनुं वर्णन दृष्टान्तपुरस्सर विस्तारथी अहीं कराय छे, अने कुशीलपणुं ए ज संसारवर्धन माटे अमोघ साधन छे, ए अत्र जणावाय छे

आ आठमा अध्ययननुं नाम वीर्य-अध्ययन छे वीर्यान्तराय-कर्मना उदयथी कुशीलपणुं अने ते ज कर्मना क्षयोपशमादिथी सुशीलपणुं आविर्भाव थाय छे अने तेथी ज त्रण प्रकारना बालवीर्य, बाल-पंडितवीर्य, तथा पंडितवीर्यनुं अत्र हेतुस्वरूप-फल-द्वाराए शास्त्रविहित-नीतिरीतिए प्रतिपादन कराय छे आ रीते शास्त्रमान्य-पंडितवीर्यने अनुसरतुं जीवन जीवनारा श्रमण-भगवंतो बाह्य-ग्रन्थरूप-नवविध-परिग्रहादि साधन-सामग्री आदि संयोगोने तिलांजलि आपीने आभ्यन्तर-ग्रन्थिने भेदवामां उद्यत कार्यवाही करीने समस्त कर्मनो क्षय करी शकवानी शक्तिने केळवी शकशे, अने तेवी पंडितवीर्यनी पुनित-कार्यवाहीमां परिपूर्ण-जीवन-जीवनाराओ सर्वविरति-धर्मनुं सुन्दर सेवन करे छे तेथी ज अनन्तर नवमा अध्ययनमां धर्मनुं प्रतिपादन कराय छे

नवमा अध्ययननुं नाम धर्म-अध्ययन छे दुर्गतिमां पडता जीवोने धारण करीने, अने सद्गतिमां स्थापन करीने, सुन्दर साधन-सामग्री-संयोगोनी प्राप्ति करावनार धर्म छे श्रीदशवैकालिकना धर्मार्थ-काम नामना छठ्ठा अध्ययननी चोथी गाथामां "इमं धम्मत्थ-कामाणं०" इत्यादि पदोद्वारा धर्मादिनुं वर्णन पू. श्रीसूत्रकारे अने पू. श्रीनिर्युक्तिकारे पण विस्तृत-व्याख्याथी करेलुं छ, तो पछी धर्मनुं कथन आ अध्ययनमां आवे छे ते शुं ?, समाधानमां समजवुं के-आ अध्ययनमां आत्महितकर भाव-

भावमार्ग कही शकाय छे, अने आत्मिक-सुख-शान्ति-आनन्द
धर्मनो अधिकार छे, कारण के-प्रमुशासनमां भावधर्मने ज
आपनार भावधर्म ज छे, अने तेनु वर्णन आ अध्ययनमां आवे छे.
नवमा अध्ययनमां जणावेलो भाव-मार्गरूप भावधर्म-भावसमाधिनी विध-
दशमा अध्ययननुं नाम समाधि-अध्ययन छे.
द्रव्य-भावसमाधिना हेतु-फल जणावीने संयमधारीओने
मानतामां होय छे, माटे आ अध्ययनमां समाधिनुं द्रव्य-भावस्वरूप,
करवा जणावेल छे.
आ अध्ययनना उपसंहारमा भावसमाधिरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रनुं सेवन
आ अध्ययनमां भावसमाधिरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मार्गनुं प्रतिपादन
अगियारमा-अध्ययननुं नाम मार्ग-अध्ययन छे.
ते प्रश्नना समाधान साथे भावमार्गनी विशिष्टता देखाडाय छे.
कराय छे. द्रव्य-भावमार्गमां योग क्षेमपणु कया मार्गमा छे ?,
समजावीने भावमार्गना
पटलुं ज नहिं पण सन्मार्गना एकार्थिक-पंथ-मार्ग-न्यायादि तेर पदोनी यथार्थ विस्तारथी व्याख्या
योग-क्षेमकरणपणानी सिद्धि आ अध्ययनमां करेली छे.
ते समवसरणना
समवसरण एटले समुदायरूपे एक जगोए मळवुं.
बारमा अध्ययननुं नाम समवसरण-अध्ययन छे.
भावमार्ग प्रतिपादन करवो छे,
द्रव्य-भावादि विभागो जणावाय छे. हवे पूर्वे जणावेला अध्ययनमां कुमार्गनी भयंकरता दर्शावीने
करनारा क्रियावादिओ, अक्रिया-
तेथी ते ते मतोनी मान्यताओ प्रथम जणावाय छे. हवे आ अध्ययनमां कुमार्ग प्रतिपादन
अने तेओना विविध सिद्धान्तो अने
वादिओ, अज्ञानवादिओ, अने विनयवादिओ विगेरेनुं स्वरूप ते ते दरेकना चार समवसरण
ते ते वादिओना वादमां गुणदोषो जणावीने
मान्यताओने दूर करवा माटे तेनुं विस्तारहेतुयुक्तिपूर्वकनुं स्वरूप, अने समवसरणमा

अध्ययनमां निर्णय कराय छे

संसारमां परिभ्रमण करावनारा छे ते मत–मतान्तरो छे, एम आ अध्ययनमां

तेरमा अध्ययननुं नाम याथातथ्य अध्ययन छे पूर्वे जणावेला धर्म–समाधि–मार्ग–समवसरण नामना अनुक्रमे नव–दस–

अगियार–बार अध्ययनोमां जे शासनमान्य सिद्धान्तरूपे जे सत्य समजाव्युं छे ते ज सत्यने आ अध्ययनमां व्यवस्थित करेलुं छे

सन तेथी ज आ अध्ययननुं नाम याथातथ्य राखेलुं छे शरुआतमां शासनमान्य सिद्धान्तथी विपरीत शुं शुं छे ते छेवटः समजावीने,

अने शासनमान्य विपरीत सिद्धांतो–आचरणो केवी रीते गुणस्थानकारक छे ?, ते पू. श्री निर्युक्तिकार समालिना संघयने जणावे

छे अने उपसंहारमां याथातथ्य पदथी सम्यक्चारित्रनुं प्रतिपादन करेलुं छे

चौदमा अध्ययननुं नाम ग्रन्थ–अध्ययन छे नवविध बाह्य परिग्रह अने चौद प्रकारना अभ्यन्तर परिग्रहोने ग्रन्थ कहेवाय

छे ग्रन्थ एटले गांठ, अने कोईपण पदार्थने बंधनथी बांधवुं होय तो गांठ लगावाय छे, तेम आ संसारमां बंधनथी बांधी राखनारो

अमोघ उपाय कर्मबंधनने मेर बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रहरूप बंधन ते ज ग्रन्थ छे–गांठ छे आ बधे बंधन (द्रव्य–भाव–बंधन)

छोड्या वगर कोई आत्मा पामवा लायक परमोत्कृष्ट–पदार्थने पामी शक्यो ज नथी तेथी आ अध्ययनमां ग्रन्थनुं (परिग्रहरूप

गांठनुं) प्रतिपादन कराय छे बाह्य ग्रन्थरूप–परिग्रहने छोड्या वगर अभ्यन्तर गांठोने भेदवा शक्तिमान् थतो नथी, तेथी वरसंघथी

उपदेश आ अध्ययनमां आपेलो छे

पंदरमा अध्ययननुं नाम आदानीय–अध्ययन छे आदान पदनो अर्थ ग्रहण थाय छे, अथवा आदिमां स्वीकार कराय छे

ते आदान कहेवाय छे, आदि पदमां चार निक्षेपा करीने भाव आदिमां आगमथी अने नोआगमथी ए भेद छे आगमथी

बार–अंग–अध्ययन उद्देश–पाद–पद–अक्षर विगेरे, आ रीतिए बार अंगमां आदि आचारांग, तेनुं आदि अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा, तेनो आदि उद्देश जीवोद्देशक, तेनु पहेलुं सूत्र–'सुयं मे आउसतेणं', अने तेनु पहेलुं पद 'सुयं' तेनो पहेलो अक्षर 'सु' इति; अने तेवी रीते चालु श्रीसूत्रकृतांगनुं आदि अध्ययन स्व–समय पर–समय अध्ययननो आदि रूपे उद्देश–पाद–पद–अक्षरो विचारवा, अने नोआगमथी पञ्चमहाव्रतोमां आद्य व्रतनो स्वीकार आदि ग्रहण कराय छे, ते पण विचारवु. आ अध्ययननुं बीजुं नाम "ज मइयं" छे, एटले जे सर्व श्रमण भगवतोने इष्ट छे, ते ज आ अध्ययनमां प्रतिपादन कराय छे.

सोळमा अध्ययननुं नाम गाथाषोडशक–अध्ययन छे. आ अध्ययनमा बीजा श्रीसूत्रकृतांग–सूत्रना प्रथम श्रुतस्कंधना जे पंदर अध्ययनो कह्या तेनो विधि–प्रतिषेधरूप सारांश–एटले पिंडित–अर्थ अहीं जणावाय छे. अने तेथी आ अध्ययननुं नाम "गाथाषोडशक" राखेलुं छे,–गाथा–पद परमार्थ–तात्पर्यार्थ पण कहेवाय छे. आ प्रसंगने पू. श्री निर्युक्तिकार निर्युक्तिमां आ रीते जणावे छेः—

"पण्णरससु अज्झयणेसु पिंडितत्थेसु जो अवितहत्ति। पिंडियवयणेणऽत्थं गहेति तम्हा ततो गाहा ॥ १४० ॥"

एटले आ अध्ययनमा पंदर अध्ययननां परमार्थ प्रकाशन कराय छे. आवी रीते सोळ अध्ययननां पूर्वापर प्रसंगो समजीने, अने सोळ अध्ययनमा कथन करेला भावोथी भावित थईने श्रमण–भगवंतोए श्रमण–जीवन केवी रीते जीववु ?, ए उपरना सोळे अध्ययनोना सारांशने वांचीने, विचारीने, मनन करीने, परिशीलन–करीने कृतार्थ थवुं जरुरनुं छे.

पू. श्रीनिर्युक्तिकारनी ओळखः—

श्रीसूत्रकृतांग–प्रथम–श्रुतस्कंधना सोळ–अध्ययन उपर अर्थकार–शिरोमणि, चौद–पूर्वधर, निर्युक्तिकार, उवसग्गहरं स्तोत्रना रचयिता, भगवान्–श्रीमद्रबाहुस्वामीजीए निर्युक्तिने एकसो एकवाळीस पद्योमां रची छे, अने श्रीसूत्रकृतांगना सूत्र स्थित–पदोना परमार्थ जणाववा माटे प्रत्येक अध्ययनोमां निर्युक्तिस्थित–पद्योने विवेकपूर्वक समजवा माटे विस्तृत–विषयानुक्रम मामना प्रथम–परिशिष्टमां जणाव्या छे

आसन्नोपकारी–चरमतीर्थंकर–भगवान् श्रीमहावीर महाराजाना पंचमगणधर–श्रीसुधर्मस्वामीजीनी शिष्यादि परंपरामां अनुक्रमे शासननी पाटपरंपराने शोभावनार अने प्रभावना–करनार–श्रीजंबूस्वामीजी, श्रीप्रभवस्वामीजी, श्रीशय्यंभवसूरिजी (दशवैकालिकना रचयिता) अने तेओना शिष्य श्रीयशोभद्रसूरि थया तेओने पण श्रीसंभूतिविजयजी (श्रीस्थूलभद्रस्वामीजीना गुरु), अने बीजा श्रीमद्रबाहुस्वामीजी ये शिष्य थया पू. श्रीनिर्युक्तिकारनुं बहु वृत्तांत जाणवामां इच्छावाळाए श्रीकल्पसूत्रनी स्थविरावळी जोवी श्रीआवश्यकसूत्र, श्रीदशवैकालिक सूत्र आदि दश शास्त्रो उपर पू. श्री निर्युक्तिकारे निर्युक्ति रची छे, ते पैकी श्रीसूत्रकृतांग पर निर्युक्तिनी रचना पण तेओश्रीए ज करी छे आ वातनुं समर्थन करतां तेओश्री आवश्यकसूत्रनी निर्युक्तिमां जणावे छे केः—

" आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे । सूयगडे निज्जुत्तिं वुच्छामि तहा दसाण य ॥ ८४ ॥ "

पू. वृत्तिकार–श्रीशीलांकसूरिजी—

आ श्रीसूत्रकृतांगमां सूत्रोनी पद्यात्मक–रचना बहु प्रमाणमां छे, अने गद्यात्मक–रचना अल्पप्रमाणमां छे आ अंगना सूत्रो,

सूत्रस्थित पदो, अने ते ते सूत्रपदोना परमार्थने जणाववा माटे, अने पूज्य-निर्युक्तिकारे रचेली निर्युक्ति-पद्योना पदोना भावार्थ-रहस्यने जणाववा माटे वृत्तिनी रचना करनार पू श्रीशीलांकसूरिजी छे. पू. वृत्तिकारे प्रथम आचारांग उपर विस्तृत वृत्ति करीने शासननी भारे सेवा बजावी छे. आ वृत्तिकारना जीवनने स्पर्शता पूर्वावस्थाना पुनित-प्रसगो अने श्रमण-अवस्थाना सुंदर-प्रसगोनो निर्णय करी शकाय तेवा साधनो दुर्लभ छे एटलुं ज नहिं पण पू. वृत्तिकारे श्रीआचारांगसूत्र अने श्रीसूत्रकृतांगसूत्र उपर वृत्ति क्यारे करी ?, ते सबधमां श्रीआचारागनी प्रशस्तिमा गुप्तसंवत्सर मळे छे, ते सिवाय बीजी कोई साधन-सामग्री वर्तमानमां उपलब्ध नथी. परंतु वृत्तिमां आवता साक्षिपाठो जे जे आपेला छे ते ते पाठो उपरथी तेओश्रीनी वृत्तिना रचनासमयनुं प्रायः अनुमान करी शकीए. वधुमां श्री सूत्रकृतागना बीजा भागना प्रकाशन वखते बन्ने अंगना साक्षिपाठोना स्थलादि जणाशे, त्यारे आ पू श्रीवृत्तिकारना रचनासमयादिनो निर्णय तेने अनुसरीने विचाराशे, अने साथे साथे प्राप्त थतां साधनरूप जैन-साहित्यनो सक्षिप्त-इतिहास, प्राचीन लिपिमाळा, अने हिंदुस्ताननो इतिहास-ए त्रणना आधारे पण तेओश्रीनु जीवन विचाराशे.

पाठान्तरोनो अने प्रतिओनो परिचय—

आ सूत्रकृताग सूत्रनी बीजी आवृत्ति छे, के जेनी अंदर प्रथम श्रुतस्कंधना सोळ अध्ययनना सूत्र-निर्युक्ति-वृत्ति अने टिप्पनमां पाठान्तरोथी परिपूर्ण आ प्रथमविभाग छे. सूत्र-निर्युक्ति-वृत्ति-संबंधि योग्य परिचय करावीने, पाठान्तरोनो परिचय अत्र अपाय छे. आ ग्रन्थनुं द्वितीय-संस्करण करती वखते प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-आगमोद्धारक-पू० गुरुदेवनी पुनित नजरथी पावन थयेल संस्करणने लक्ष्यमा राखेलुं छे. एटले टिप्पनमा प्रथम पृष्ठ-प्रथम पुंठीनी दशमी पंक्ति पर-“ सा. १ सदृश पाठाः । २ शब्द-

पर्यायाः । ३ अमिमेय गुणः । ४ नयगहनम् ह । ” आ चार पाठान्तरो छे तथा सा अक्षरथी प्रातःस्मरणीय–पूज्यपाद–श्री सागरानन्दसूरीश्वरजी ग्रहण करशु, अने सा थी शरु थयेल एक नवरथी पण पाठान्तरो प्रथम संस्करणना प्रत्यन्तर–पाठो पण तेमोश्रीना छ एम समजवु अने ४ नंबरमा पाठान्तरना अंतमां ह संज्ञाथी संक्षित थयेल छे, ते द्वितीय–संस्करणनो पाठान्तर छ आवी रीते टिप्पनमां सा संज्ञाथी शरु थता जे जे पाठान्तरो अगर प्राकृत–पदोनी संस्कृत–छाया आपे ए सर्व प्रथम संस्करणनी पू० श्री गुरुदेवनी कार्यवाही छे अने ते सिवाय अ आ ह संज्ञाथी संक्षित थयेल पाठान्तरो द्वितीय–संस्करणना छे अने ते पाठान्तरोना मूलस्थानना परिचयने मेळववा अभिलाषि–अभ्यासको माटे प्रतिओनी संक्षिप्त–रूपरेखा अपाय छे, अने आ बीना खंभात–श्रीशान्तिनाथ–ताडपत्रीयादि–ग्रंथ–भंडार तरफथी प्रकाशित थयेल सूचिपत्रमां पण जणावेल छे

अ —संक्षिप्तप्रति–खंभात म २ डाबडा म ४५ प्रति न १ पत्र ४२९
आ —संक्षिप्तप्रति– ” ” ” ” ” ४२ ” ” १ ” ४१२ } भाषा–प्राकृत–संस्कृत

उपर जणावेल श्रीसूत्रकृतांग–सूत्रनियुक्ति–वृत्तिनी बे ताडपत्रीओ अनुक्रमे ३२–३१ इंच लांबी छे अने पहोळाईमां अनुक्रमे २।–१।।। छे, अने दरेक पत्र पर लगारेमां लगारे चार पांच पंक्तिओ छे, अने ओछामां ओछी बे त्रण पंक्तिओ आपेली छे

छसो वर्ष उपरांतनो काळ व्यतीत थया छतां पण ते प्रतिओ घणीज सारी अवस्थामां छे, अने ते बन्ने प्रतिओनुं श्लोकप्रमाण (११७०) अने १२०००) अनुक्रमे वि सं १३२७ भादरवा वद २ रविवारे श्रीजापुरमां अने वि सं १२४९ मां लखाई छे

बन्ने प्रतिओनुं लखाण सरखुं होवा छतां अक्षरो नानामोटा लखवानी पद्धतिथी पाना ओछा-वधु प्रमाणमां होय ते स्वाभाविक छे, पण श्लोकप्रमाणनी गणत्रीमां लेखक (लहीया) विगेरेनी खामी कल्पी शकाय छे. आ सर्व हकीकत मुद्रित-सूचिपत्र-पृ. १०-१४ पर आलेखेली छे.

ई—संज्ञिकप्रति मुद्रित-सूचिपत्र-४४ पर नीचेनी हकीकत आलेखेली छे.

काश्मीरी-कागलपर लखायेल सूयगडांगवृत्तिनी आ प्रति सारी अवस्थामां छे. पत्र ३७४ छे, भाषा प्राकृत-संस्कृत छे. दाबडा-नं. २, प्रति नंबर २४; आ प्रतिपर संवत्-स्थलादि स्पष्ट जणातां नथी.

एक सरखुं लखाण आवतां लखनार-लहीयाओने भूल थवानो संभव केवी रीते उत्पन्न थाय छे, अगर प्रमादादि दोषोने लीधे पण केवी केवी भूलो थाय छे, तेवा पाठान्तरो पण लीधा छे; माटे वांचनारे विवेकपूर्वक ते ते स्थानादिमां पाठान्तरोनो आश्रय लेतां पहेलां पूर्वापर प्रसंगोने विचारीने उपयोग करवो.

हवे उपयोगी बीजी एक समजवानी छे, पू. श्रीवृत्तिकारे ज्यारे वृत्तिनी रचना करी त्यारे तेओश्रीने जे जे सूत्रकृताग-सूत्रनी अने तेनी निर्युक्तिनी लखेली प्रतिओ मळी हशे ते ते प्रतिओ उपरथी प्राप्त थयेल लगभग पंचावन-प्रत्यन्तरो लीधा छे, अने प्रसंगे प्रसंगे पण तेओश्रीए ते ते प्रत्यन्तरोनी पण वृत्ति लखी छे. पाठान्तरोनुं परिशीलन करवाना अभ्यासीओ वृत्तिना पाठान्तरोना स्थानोने सहेलाइथी जोई शके, विचारी शके अने परिशीलन करी शके; ते हेतुथी ७ मुं परिशिष्ट जोवानी भलामण छे.

परिशिष्टोनो परिचयः—

प्रथम–परिशिष्टमां आ ग्रन्थना अध्ययनो, उद्देशाओ, मूलसूत्रो, निर्युक्ति, अने चूर्णिना विवरण अवसरे आवनारा अनेकविध विषयोनो अनुक्रम आपवामां आवेलो छे

द्वितीय–परिशिष्टमां चूर्णि रचनाकाले आपेल पद्यात्मक–गद्यात्मक–साक्षिपाठोना अकारादिक्रमे पत्रांक–पृष्ठांक–पंक्त्यंक–सहित अनुक्रम आपवामां आवेल छे

तृतीय–परिशिष्टमां सूत्र–निर्युक्ति अने चूर्णिमां आपेला दृष्टांतोना–पत्रांक–पृष्ठांक–पंक्त्यंक–साथे स्थानो बताववामां आव्या छे, अने आ प्रथम विभागमां लगभग २४०) उपर दृष्टांतोनो समावेश थाय छे

चतुर्थ–परिशिष्टमां अभ्यासिओने अने वक्ताओने मननीय एवी लगभग मार्गदर्शक–सुनित–पंक्तिओना संचय स्थानोना निर्देश पूर्वक बतावेलो छे

पञ्चम–परिशिष्टमां विशेष–नामो, छठ्ठा–परिशिष्टमां न्यायशास्त्रना अभ्यासिओने उपयोगी एवा न्याय–पदो, सातमा–परिशिष्टमां चूर्णि–रचनाकाले श्री पू. चूर्णिकारने प्राप्त थयेल सूत्र–निर्युक्तिगत–असम्मत पाठान्तरो, अने अष्टम–परिशिष्टमां भाषासंबन्धि–चाकेलनो अने आर्ष–वचननो संचय करवामां आवेलो छे

अभ्यासीओने भलामण—

सुधारील छापवानी रजा आपती वखते प्रेसना कम्पोझीटरथी नजर–चूकथी, सुधारा प्रमाण न सुधर्या होय अगर मुद्रण वती

वखते कानो, मात्रा, मींडी वगेरे आघापाछा टाइपो थई जवाथी, अथवा सुधारवा अवसरे नजरदोषथी जे जे अशुद्धि रहेवा पामे ते स्वाभाविक छे, तेथी ग्रन्थ–परिसमाप्तिनी साथे पृ. २७६ थी पृ. २७८ सुधीना शुद्धिपत्रकथी अशुद्ध–स्थळोने प्रथमतः सुधारी लईने अभ्यासीओने मुद्रित थयेल ग्रन्थनो अभ्यास करवा भलामण छे. विशेषमां पृ. १ थी पृ. २८ सुधीना आठ–परिशिष्टोमां नीचे मुजब सुधारो करीने अभ्यास करवो.

पत्राङ्क	पृष्ठाङ्क	पङ्क्त्याङ्क	अशुद्धम्	शुद्धम्	पत्राङ्क	पृष्ठाङ्क	पङ्क्त्याङ्क	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	१	२	प्रथमश्रुतस्कन्धीय- श्रीमत् सूत्रकृताङ्गे	श्रीमत्सूत्रकृताङ्गीय प्रथमश्रुतस्कंधे	१५	२	२	०ताङ्गीय–द्विती०	०ताङ्गद्विती०
					१५	२	३	प्रदर्शयन्ते	प्रदर्श्यन्ते
७	१	७	अगत्य०	विशिष्ट०	२०	१	९	०प्तेदं०	०प्तमिदं०
७	२	१	०धर्मा०	०धर्म०	२०	२	२	०ताङ्गीय–द्विती०	०ताङ्गद्विती०
७	२	२	०ताङ्गीय–द्विती०	०ताङ्गद्विती०	२०	२	४	०र्थेऽगत्य०	०र्थं विशिष्ट०
[illegible]	२	३	०राधअनु०	०राधनु०	२२	२	१०	०प्तेदं	०प्तमिदं
७	२	४	निर्देशकपूर्व	निर्देशपूर्व	२६	१	११	,,	,,
१५	१	७	०प्तेदं	०प्तमिदं	२६	२	१३	[illegible]	,,
१५	१	७	द्वितीय०	द्वितीयं०	२७	१	२	०ताङ्गिय	०ताङ्गद्विती०

२८	१	१३	०प्येई	०प्यमिय	२८	२	२	प्रव्रश्यन्ते	प्रव्रर्यन्ते
२८	१	१२	षष्ठ परि०	सप्तम परि०	२८	२	११	समाप्तेय	समाप्यमिय

ऊपर मुजबनी शुद्धि करीने अभ्यासीओए अभ्यास करवानुं लक्ष्य राखवुं

उपसंहारमां—

आ रीते सम्पादन-संशोधन-कार्यमां अंगे सावधानीपूर्वक काम करवा छतां प्रमादादि दोषथी जे कांई क्षति थई होय, अथवा प्रातःस्मरणीय-पूज्यपाद-पंचम गणधर भगवन्त, पू. श्रीनिर्युक्तिकार, पू. श्रीवृत्तिकार अने पू. श्रीगुरुदेवना आशय विरुद्ध जे कांई दोष रहेवा पाम्यो होय, ते संबंधमां " मिच्छा दुक्कड थाओ " एवी हार्दिक-अभिलाषापूर्वक विवेकी-वाचकोने, विचारकोने; अने अभ्यासकोने अभ्यास करवा सादर भलामण छे अने प्रकाशन बाद आ ग्रन्थने प्रकाशमां के परोक्षमां प्रेसकोपी तैयार करवामां, प्रूफ सुधारवामां-तथा प्रकाशन अंगे आर्थिक-सहाय करवा विगेरेमां जेओए उदारता बतावी छे ते सर्वने स्मृतिपट पर स्थिर करीने आ प्रस्तावनानी परिसमाप्ति कराय छे आ ग्रन्थनुं वाचन-वांचन-मनन-परिशीलन करीने, शासन-साम्य-भावनाओथी भावित थईने, स्व परहित साधवामां बधु ने बधु अभ्यासको अविरत-उद्यमवंत थाय ए ज एक महेच्छापूर्वक विरमुं छुं

लि०—श्रीतपागच्छगगनार्हमणि-गीतार्थ-सार्वभौम-आगमोद्धारक-श्रीवर्धमान-जैनागममन्दिरायनेक-संस्थानिर्माणोपदेशक-शासनसंरक्षक-श्रीआनन्दसागरसूरीश्वरचरणचञ्चरीकः—

चन्द्रसागरः

॥ १ परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव प्रथमश्रुतस्कन्धीय–श्रीमत्सूत्रकृताङ्गेऽध्ययनान्यध्ययनस्थित–सूत्रकारसुनिर्मितसूत्राणि, तत्स्थितनिर्युक्तिकारनिर्मलपद्यानि, तत्स्थितवृत्तिकारविरचितविषयाणि च तेषां पृष्ठपङ्क्त्याद्यनुसारेणाऽत्र प्रथमपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ।

॥ श्रीमत्सूत्रकृताङ्गे विस्तृतविषयाद्यनुक्रमः ॥

१ श्रीसमयाध्ययने–उद्देशकाः ४, मू० श्लो० ८८, नि० श्लो० ३५; पृष्ठ–१ पृ० ५३ ।

द्वितीयोद्देशके—मू० श्लो० ३२।

तृतीयोद्देशके—मू० श्लो० १६।

६ श्रीवीरस्तुत्याख्याध्ययने—मू० श्लो० २९, नि० श्लो० (८३—८५) ३; पृ० १४१—१५२ ।

७ श्रीकुशीलपरिभाषाऽध्ययने—मू० श्लो० ३०, नि० श्लो० (८६—९०)=५; पृ० १५२—१६४ ।

८ श्रीवीर्याऽध्ययने—मू० श्लो० २६, नि० श्लो० (९१–९८) ८, पृ० १६५–१७५ ।

९ श्रीधर्माऽध्ययने—मू० श्लो० ३६, नि० श्लो० (९९–१०२) ४; पृ० १७६–१८६ ।

१० श्रीसमाध्यध्ययने–मू० श्लो० २६; नि० श्लो० (१०३–१०६) ४; पृ० १८६–१९७।

११ श्रीमार्गाध्ययने–मू० श्लो० ३८, नि० श्लो० (१०७–११५) ९; पृ० १९७–२१०।

१२ श्रीसमवसरणाध्ययने—मू० श्लो० २२, नि० श्लो० (११६–१२१) ६, पृ० २११–२३५ ।

१५ श्रीआदाननामकाध्ययने–मू० श्लो० २५, नि० श्लो० (१३२–१३६) ५, पृ० २५८–२६८।

१६ श्रीगाथाध्ययने–मू० श्लो० ४ नि० श्लो० (१३७–१४१) ५, पृ० २६९–२७५।

॥ समाप्तोऽयं विषयानुक्रमः ॥

प्रकीर्णाः ।

॥ परिशिष्टानि ॥

॥ २ परिशिष्टम् ॥

परम-प्रभाविक-पञ्चमगणधरभगवच्छ्रीमत्सुधर्मास्वामिविरचितसूत्रकृताङ्गीय-द्वितीयाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे श्रीशीलाङ्कसूरि-विरचितवृत्ति-व्याख्यावसरे वृत्तिस्पष्टीकरणार्थमनेकशास्त्र-प्रसिद्धानि-स्वीकृतान्यकाराद्यनुक्रमेण पद्यान्यत्रस्थलनिर्देशकपूर्वकं द्वितीयपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते।

को सीम सेज्ज०	१०४	१	१
कोई माग व मार्ग च०	९१	१	११
कोई मार्य व मार्य [redacted]	१४२	१	९
का कण्टकानामित्यादि०	२१४	१	७
किसेव क्कर्ता०	१९९	१	२
किर्ता व मग्मानवियोगनिष्कर्ष	२२४	२	७
वान्ते व समवा०	९९	१	८
ख			
खेहिं सबमेव०	४	२	२
खिज्जइ मुहमवण्ण	८१	२	९
ग			
गहूसरसमसो पम्मो०	१७१	२	५
गमिते‌ऽन्म०	१०	१	५
गविमतो मुखे रैम्बं०	८१	२	१०
गन्ता व नास्ति कश्चिद्‌गता०	२१९	२	६
गहमि अग्गिगाममण्डंमि०	२५२	२	८
गाम्धर्वनगरतुल्या माया०	२१९	२	१२
मामवेग्रगृहादीनां०	२०७	१	१०
गाहासोक्खगाम०	९	२	९
गिम्हमुहमिह०	१२७	२	३
गुरवो वत्र पूज्यन्ते०	८५	२	३
गगामे वासुवा०	१०४	१	७
गयेसु य मरयपावएसु०	११४	२	१
गंभीर सुसिरा पवे०	१८२	१	८
गीष्मे हस्यगुहां०	११६	१	२
च			
चिन्तयेव हि संसारो	५०	२	१
चिचिधि०	१०४	२	१

फ

॥ समाप्तमिदं द्वितीयपरिशिष्टम् ॥



॥ ३—परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नत्र श्रीसूत्रकृताङ्गीय-द्वितीयाङ्गे प्रथमव्याख्यानावसरे विविधप्रसङ्गस्पष्टीकरणार्थं स्थलनिर्देशपूर्वकं दृष्टान्तादयः तृतीयपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ॥

॥ दृष्टान्तादयः ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पंक्तिः	आदिपदम्
१८	२	११	देवदत्तवत्०
३३	१	८	जविणो मिगा जहा संता०
३५	१	१०	जहा बुधाणुभासए०
३५	२	१	म्लेच्छभाषानभिज्ञस्य म्लेच्छाभिहित यद् अनुभाषते०
३६	१	२	गोरक्षरवदरण्यमिति०
३६	२	१	वणे मूढे जहा जंतू०
३६	२	२	अंधो अंधं पहं णितो०
३७	२	११	यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं मोचयितुं—
३८	२	९	पथि गच्छन्तो यथा०
३९	२	८	पुर्व पिया समारब्भ०
४०	१	३	जहा अस्साविणिं णावं०
४१	१	५	आसमन्तात् स्रवति०
४२	२	३	मत्स्या -पृथुरोमाणो विसाळ० (वैसालिकमत्स्यानां)

पत्राङ्कः	पृष्ठांकः	पङ्क्तिः	आदिपदम्
४२	२	१०	समुद्रवायसवत्०
४२	२	११	अरहट्टघटीन्यायेन०
४३	१	८	घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं०
४३	२	१	कण्टकादितैक्ष्ण्यवत्०
५१	२	८	अन्तर्बाह्लोकः सप्तद्वीपावच्छिन्नत्वा०
५१	२	९	अपुत्रस्य न सन्ति लोका०
५२	१	९	उरालं जगतो जोगं०
५५	१	२	भरताधिपभरतेन........अङ्गार-दाहकदृष्टान्तं०
५६	२	१	यथा श्येनः पक्षिविशेषो०
५७	१	६	ताले जहा बंधणच्चुए०
५७	२	२	यथा तालफलं०
५८	१	४	जइ वि य णिगणे०
५८	१	१०	मिथ्यादृष्ट्युपदिष्टतपसाऽपि०
५९	२	३	कुड्य गोमयादिलेपेन०
६२	१	२	यथा उरगः स्वां त्वचं०
६२	२	३	तत्रेह जन्मनि सुघरो०
६३	१	११	स्कन्दकशिष्यगणवत्०
६३	२	८	राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः०
६४	२	१	ह्रद इव स्वच्छाम्भसा०
६६	१	९	आभिग्गहिको०
६६	१	११	समुद्रवन्नक्रादिभिः०
६७	१	१	शून्यागारगतस्य०
६७	२	६	सागपत्तेहिं०
६८	१	१०	कुक्कुटमाध्यो लोको०
६८	२	४	कुजए अपराजिए जहा०
७०	२	१०	युगसमिलादिदृष्टान्तनीत्या०

७२	१	४	यटाकोपरसंस्थितमुवक०	८०	१	६	सामङ्गाम: मधुपदानागण्डा०
७२	२	९	यथा प्रधानरत्नानां०	८०	१	१०	यमुनेवसुताप०
७३	१	१	पद्मम्मणिकुट्टिमवशा०	८०	२	५	साम्प्रत सर्वजनमतीव०
७३	१	५	कूटपाशाविना यतः०	८१	१	२	रत्नदीपा व स्वतिया०
७३	२	१	क्षुल्लककुमारवत्०	८१	१	९	राजन्मुताः यथा–क्षत्रिया०
७३	२	१	वैरस्वामिजम्बूस्वामादिवत्०	८१	१	१०	मच्छा अप्पोदए जहा०
७४	१	२	सागरोपमापेक्षया०	८१	२	४	मत्स्या अल्पोदके विपीदन्ति०
७४	१	६	न य संसारभासु वीसिय०	८२	१	५	संगामम्मि भीरुया०
७४	२	९	भावतुल नाणेहिं संजय०	८२	१	६	सुण्णी वंसम्मि लूसए०
७७	१	१	णो सुलभ बोहिं च०	८२	१	८	यथा भीरवः संग्रामे०
७८	१	१	बौद्धमतनिरासद्वारेण०	८२	२	११	सनत्कुमारचक्रिनिदर्शनात्०
७८	२	९	वस्त्वमेपपर्याये०	८३	२	१	मच्छा विद्धा व केयणे०
७९	१	३	तमोभिक्षो०	८३	२	४	यथा मत्स्याः केतने०
७९	१	४	औपक्रमिकमस्तु०	८४	१	२	नातीव सच्ची वाले०
७९	२	१	पृथग्विमात्रावत्०				

पत्राङ्कः	पृष्ठांकः	पंक्तिः	आदिपदम्
८४	१	३	हस्ती वा सरसंविचा०
८४	१	८	मातुलिङ्गादिना०
८४	१	१०	यथा स्त्री क्रुद्धा सती०
८४	२	४	हस्तिन इव रणशिरसि०
८५	२	६	अयमेव लौकिकः पन्था०
८६	१	१	परित्यक्ता सती अन्यं जनं०
८६	१	४	तावद्गृहकर्मभि०
८६	२	४	जहा रुक्खं वणे जायं०
८६	२	७	गृहपाशमनुबध्नातीति०
८६	२	८	यथा वृक्षं वने अटव्यां०
८७	१	१	विबद्धो नातिसंगेहिं०
८७	१	२	एते संगा मणूसाणं०
८७	१	३	' विबद्धो ' इत्यादि०
८७	१	५	यथाऽभिनवप्रसूता गौ०
८७	१	७	मनुष्याणां पाताला इव०
८७	१	१२	अहिमे सति आवट्टा०
८७	२	६	प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्ताः०
८८	१	१	यथा ब्रह्मदत्त०
८८	२	२	तत्थ मंदा विसीयंति०
८८	२	६	यथा ' नीवारेण '०
८८	२	११	ऊर्ध्वं यानमुखानं०
८९	१	२	उज्जाणंसि जरग्गवा०
८९	१	६	' जिर्णो दुर्बलो गौरिव युनोऽपि '०
८९	२	४	जहा संगामकालंमि०
९०	२	७	जे उ संगामकालंमि०
९१	१	१	जे उ संगाम०
९२	२	८	नातिकंडूइयं सेयं०

९३	१	१	यथा अजयः प्रणस्या०
९३	१	५	गोशळकमतानुसारिण आजीवि कापयः०
९३	१	१२	गिहिणो अभिदं सेयं०
९३	२	१२	गोशालकमतानुसारिणो०
९३	२	१३	वाई नियमस्य, सम्यग्वृत्यन्ते०
९४	१	१०	यथा 'वरुणा' म्लेच्छविशेषा०
९५	२	४	असुखिया नमी०
९६	१	३	नमीराजा विदेहो०
९६	१	४	यथा रामगुप्तस्य०
९६	१	५	आसिले देविले०
९६	१	७	एते पुव्व महापुरिसा०
९६	१	८	असिलो नाम महर्षिस्तथा०
९६	२	१	तस्य मेधा०
९६	२	२	इहमेगे उ०
९६	२	५	वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव०
९६	२	६	यहन बाहो–मारोप्यवहनं०
९६	२	७	यथा पृष्ठसर्पिणो०
९७	१	२	ज्ञानिमीमाप्यास्यङ्कुरो०
९७	२	१२	मनोज्ञाऽऽहारादिना०
९८	१	१	यथाऽसौ अयसो–लोहस्याऽऽहर्ता
९८	१	९	एवमेगे०
९८	१	१०	जहा गढ पिवाग वा०
९८	१	११	जहा मधादए नाम०
९८	१	१२	जहा विहंगमा पिंगा०
९८	२	८	'जहा गढं' इत्यादि०
९९	१	१	जहा विहगम०
९९	१	२	'पिंगे'त्ति कपिञ्जल०
९९	१	८	जह णाम मंडकजोण०

पत्राङ्कः	पृष्ठांकः	पंक्तिः	आदिपदम्
९९	१	९	जह् वा विस गंडूस०
९९	१	१०	जह् नाम सिरिघराओ०
९९	१	११	नाम कश्चिन्मन्डलाग्रेण०
९९	१	१२	यथा कश्चिद्विषगण्डूषं०
९९	२	१	तथा—यथा कश्चित् श्रीगृहाद्०
११	२	२	यथा कश्चिद् शठतया०
९९	२	१०	यथा वा पूतना डाकिनी०
९९	२	९९	यथा किल सर्वपशूनामपत्यानि०
१००	१	२	अणागयमपरसंता०
१००	१	३	जेहिं काले परिक्कंतं०
१००	२	२	जहा नई वेयरणी०
१००	२	३	जेहिं नारीण संजोगा०
१००	२	७	तदेवं वैतरणीनदीवत्०
१०१	१	४	लवणसागरमिव०
१०३	२	१	सुरामो मन्नंता०
१०३	२	६	तम्हाण उ वीसंभो०
१०३	२	७	सुगतिमार्गार्गला०
१०५	२	४	कुलवालुकादीनामिव०
१०६	२	९	पाशा इव पाशिका०
१०७	१	६	सीहं जहा व कुणिमेण०
१०७	२	१	' सीहं जहा ' इत्यादि०
१०७	२	७	यथा रथकारो०
१०७	२	८	स च साधुर्मङ्गवत्०
१०८	१	२	असुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति० (कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं)
१०८	१	९	तम्हा उ वज्जए०
१०८	१	१२	विपोपलिप्तं०

१०८	२	११	भक्ष्याहारपुरस्सरम्
१०९	२	१२	निवर्तनमव यथा०
१११	२	१	एको युवा०
११२	२	६	इयावेक्षिकवत्०
११३	१	१	यत्कुंभे यदा०
११३	१	६	कुम्भालुकमिव०
११३	१	८	यथा मातुषा कुम्भो०
११३	२	१	मातुपकुम्भवत्
११३	२	९	मर्मपादुद्दिदकस्या०
११४	१	५	यथाहि निवारेण०
११५	२	१२	वाकुम्भानि०
११७	१	९	कुम्भधर्मनिकाधि०
११८	२	६	दासकुम्भास्तु०
११८	२	११	उष्ट्रा इव परवशा०
११९	१	१०	पापुरापतितः०
१२१	१	१०	काककसोकरिकायम०
१२८	२	८	वचोधर्म०
१२८	२	१०	भिक्षिको यथा शूर इव०
१३०	१	११	ते तस्य भिद्दव०
१३०	२	२	इत्येहि पश्यहि०
१३०	२	५	यथा जीवन्तो ' मरस्वा० '
१३१	२	८	आकम्पनकम्पो०
१३३	२	२	सैवम्भूता कुम्भी समन्वयो०
१३३	२	१	समूसिर नाम विघूसठाम०
१३६	२	१०	संधीमणी नाम चिरट्टिवीया०
१३७	१	३	सञ्जीमनीमत्०
१३७	२	२	सर्पी यथा पक्षिम०
१३७	२	७	यथा—'सर्पिः घृत क्योक्षिमैष्मे०
१३८	२	८	कोट्टबाढि०

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१३८	२	९	वेतालिए नाम महाभितावे०
१३९	२	१२	सदा जलाभिमाना वा नदी०
१४०	१	७	रत्नप्रभायामुत्कृष्टा०
१४०	१	१०	किल सीतेन्द्रेण लक्ष्मणस्य०
१४२	१	७	दोसोला बत्तीसा०
१४२	२	४	भावे सताण गुणाण०
१४२	२	८	एव महप्पा वीरो०
१४२	२	१०	यथा भगवान०
१४४	१	११	संसारार्णवपतितानां०
१४४	१	१२	द्विप इव द्विपः०
१४५	१	६	यथा—सूर्यः 'अनुत्तरं' सर्वाधिकं०
१४७	१	१३	मेरुदृष्टान्तोपक्षेपेण दार्ष्टान्तिकं०
१४७	२	१	साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिकं०
१४७	२	५	गिरीवर०
१४८	२	३	दृष्टान्तद्वारेण भगवतः स्तुतिमाह०
१४९	१	९	हत्थीसु एरावणमाहु०
१५०	१	४	अभयप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थं कथानकमिदं०
१५४	१	१	जह णाम गोयमा चंडीदेवगा वारि-भद्दगा चेव । जे अग्गिहोत्तवादी०
१५५	२	२	मृगापुत्रस्य०
१६६	२	६	कोटिशिला त्रिपृष्ठेन०
१६७	१	३	षट्खण्डमपि भरतं०
१६७	२	१	कूर्मवदतिष्ठत०
१६९	२	९	तन्दुलमत्स्यवन्मनसैव०
१७०	२	१	जमदग्निना स्वभार्याऽकार्ये०
१७२	१	१	इलापुत्रवत् श्रुत्वा०

१७२	१	६	अहा कुम्भे समेगाह०
१७२	१	१०	' अहा कुम्भे ' इत्यादि०
१७२	२	३	कूर्मेपयस्तो पाश्रो०
१७२	२	११	सुमूमारीनामिव०
१७३	१	१	सुमटसकडे परानीक०
१७४	१	१२	कुरैपयिकित्सा०
१७८	१	२	जमदग्निकृतवीर्यादीनामिव०
१७८	२	४	कालसौकरिकसुतः
१९१	१	८	असावेव राजगृहनगरोत्सव०
१९५	१	११	तपथा कश्चिद्भमिग् महता क्लेशेन०
१९५	२	२	मम्मणवणि०
१९५	२	१०	कणवीकयत्
"	"	"	मम्मणवणिग्वत्
"	"	"	निःशङ्कभेदित्वद्
१९८	१	७	पाडदसो०
१९८	१	७	पेत्रवती०
१९८	१	१०	सुवर्णभूम्यां०
१९८	१	१०	पाडपसो०
२०७	१	२	अहा तका च कका च०
२०७	२	११	'यथा' येन प्रकारेण 'हह्मावयः०'
२०८	१	५	अहा आसाविधि नाम०
२०९	१	५	संवि ठेसि पइट्ठामं मूवाण वागती अहा०
२१०	१	२	शान्ति प्रतिष्ठानरये दृष्टान्तमाह०
२१०	१	११	अत्र च दृष्टान्तः,तद्यथा कश्चिद्गोपः०
२११	२	१२	गान्धर्वं नागदत्तस्या०
२२३	१	१२	मरुमरीचिकानिचये०
२२४	२	१	करतलामलकन्यायेन०

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
२२५	२	६	पर्याप्तं परिक्षेपमरघट्टघटीन्यायेन०
२२६	१	६	सोहया इव०
२२६	२	४	अणगारे णं भंते ! माई मिच्छाविट्ठी०
२३७	१	१	दृष्टान्तगर्भं दर्शयितुमाह०
२४५	२	५	पालकपुरोहितवत्०
२४८	२	२	जहा दियापोतमपत्तजातं
२४९	१	१०	गच्छतसमुद्राम्भिःसारयन्ति०
२४९	२	११	न हि भवति निर्विगोपकमनुपासित०
२४९	२	१२	तथाऽर्जा गळविलग्नवालुका०
२५१	२	१३	वणंसि मुढस्स०
२५२	१	१०	'वणंसि' इत्यादि, 'वने'—गहने महाटव्यां०
२५२	२	८	गड्डंमि अग्गिजाला०
२५२	२	९	अह वा बिससंजुत्तं०

॥ समाप्तमेवं तृतीय-परिशिष्टम् ॥

॥ ४–परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीप्रक्रियाकौमुदी-द्वितीयांशे प्रथमश्रुतस्कन्धे पठन-पाठनाभ्यास-परिशीलनकाले स्मृतिकरणार्थमगस्त्य-पद्यशः पतुर्थपरिशिष्टे मरर्पन्ते ।

॥ परिशीलनार्थेऽगस्त्य-पद्यक्रमः ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१	२	५	नागमय प्रस्तावारिक्रम०
१	१	५	मासतीर्थे०
२	१	९	तागुः मासम्येन०
२	१	१२	निर्मुक्ति वीनविन्ये०
६	२	२	सुमहत्नाम०
६	२	२	यथा यथा गयपरा०
७	२	४	भमरगुप्पमतिर्सपवनायोगेन०
८	१	९	यथा येयं प्रास्ताद्वी
८	१	८	प्राप्त श्रुतरूप्यो०
१०	२	११	तत्र तीर्थकल्पपयो०
३२	१	२	आरमनात्मामूर्तस्याभिस्पत्यात्०
२८	२	१०	पञ्चमूलवीपतम्भारित्यादि०
४२	१	९	आहाकर्म पं भुञ्जमाणे०
५१	२	२	वे पय मृगाको कामवे०
५५	२	९	माधुर्य लग्न०

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
५६	१	१२	त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि०
५८	१	६	यद्यपि तिर्यिकः०
६२	१	१	यथा उरगः स्वां त्वचं०
६२	१	१०	तपः संयम ज्ञानेष्वपि०
६५	२	८	साधोः स्वाध्यायध्यान०
६७	२	५	महत्पुण्यं तत्कलहं०
७५	२	२	सव्वत्थ विणीयमच्छरे०
७५	२	९	सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स०
७६	१	२	धर्मेणार्यो धर्म एव०
७६	१	१०	'नो' नैव वित्तादिकं०
७७	१	९	'जिनो' रागद्वेषजेता०
७८	२	९	तत्रोपसर्गा उपतापः
९३	२	७	यतो न हि सर्वज्ञा०
९५	२	५	अभुंजिया नमी०
१२२	१	९	तत्राप्यार्यं क्षेत्र०
१२२	२	३	अनार्यं क्षेत्र०
१२७	१	६	किण्हलेसे णं भंते०
१२८	१	६	ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना०
१३५	२	५	तिसृषु नरकपृथिवीषु०
१४४	१	९	शाक्यादिमतनिरासेन०
१५०	२	३	तपस्सु मध्ये यथैवोत्तमं०
१५१	१	१०	निदानोच्छेदेन०
१५३	२	९	सुत्ति पससा०
१५६	१	१२	तथा चाऽऽगमः—दो भंते ! पुरिसा०
१५६	२	३	अपि चोक्तम् भूयाणं०
१५७	१	१०	कललार्बुदमांसपेशी

१५८	१	१	' सपुरुषा ' इत्यादि, द्वे ' ' वल्यः '
१५८	२	१०	ज्यपेन हि०
१५९	२	९	यतीनां ब्रह्मचारिणाम्०
१६१	२	३	सर्वेऽप्यनुमन्या०
१६२	१	११	यथैवम्भूता०
१६२	२	१०	पञ्चमाध्यमारस्य०
१६३	२	४	पञ्चमो मध्यमानुगम०
१६४	२	१०	यथा सुमतः कथित्०
१६६	१	११	दीर्घकालमनुपरो०
१६६	२	१	तत्र सम्मये दीर्घस्या०
१६६	२	१०	यस्य कस्यचिदनुपाते०
१६७	२	२	क्रमसम्प्रतिचार०
१६७	२	१२	पण्डितवीर्य०

१६८	२	५	प्रमाणप्रदः०
१६८	२	११	पाश्चवीर्यसम्बन्धानाम०
१७१	२	७	आरायतः सर्वदेवधर्मेभ्य०
१७३	२	२	परपक्षनाथ सूपायतो०
१७४	१	५	ये केवन ' मधुरा '०
१७४	१	८	महान्वय दे०
१७४	१	११,	पामनो परिकमपि०
१७५	१	१०	' सुमव ' साधुः ' अस्वं '०
१७७	१	२	साधुगुप्मानो पार्श्वे०
१७९	२	२	पञ्चिमपर्ण च मयम च,०
१८०	१	३	विचित्रत्वात्०
१८१	१	३	' भापतनम् '—व्याधिष्करणं०
१८२	१	१०	बहुसमरसाहू०
१८३	२	२	भिन्नापि माया दोषाय०

पत्राङ्कः	पृष्ठांकः	पंक्तिः	आदिपदम् ।
१८४	२	४	साम्प्रतमल्पानि०
१८५	१	८	गिह दीवमपासंता०
१८६	१	२	द्वीपःसमुद्राद्रौ०
१८७	२	११	दर्शनसमाद्यौ०
१८८	१	३	तपः समाधिनापि०
१९१	२	१०	श्लाघाभिलाषी०
२००	१	६	' सुगतिरिति०
२००	१	७	सुगति शब्देन०
२०५	२	५	ये केचन प्रपासत्रादिकं
२०७	२	५	येऽपि च किल सूक्ष्मधियो०
२०६	१	२	यद्यस्ति पुण्यमित्येव०
२०७	१	८	सातर्द्धिर सगौरवा०
२०७	१	९	न ह्यैहिकसुखैषिणां०
२०९	१	९	तमेवंभूतं कषायत्रातं०
२०९	२	९	तथोपधानं–तपस्तत्र
२२२	२	८	भौममुत्पातं स्वप्नमान्तरिक्षमाङ्गं,०
२२४	१	४	सर्वा हि क्रिया०
२२४	१	५	ज्ञानस्यापि प्राधान्यं०
२२५	१	६	मनुष्याणामेव०
२३७	१	१२	एवं तस्मादात्मोत्कर्षः०
२३८	२	९	ते हि गम्भीराभिप्रायं०
२३९	१	६	ये केचनाविदितपरमार्थाः
२४१	१	६	जलचन्द्रवत्तदर्थशून्यं०
२४३	२	१	यो ह्यल्पान्तरायो०
२४४	२	९	महामुनेरप्यस्नानतया०
२४५	१	[illegible]	स्वयम्–आत्मना०
२४५	२	७	धर्मदेशना हि०

५८	१	९	' मधुमत्ता ' इत्यादि, हे ! ' माधवः '
१५८	२	१०	ममेम हि०
१५९	२	९	यशीतो मणधारिणाम्०
१६१	२	३	सर्वेऽप्यमुमन्तः०
१६२	१	११	सधैरम्भूता०
१६२	२	१०	स्वमहाजनमारम्य०
१६३	२	४	पवमहो समनानुष्ठाने०
१६४	२	१०	यथा सुमटः कश्चित्०
१६५	२	११	तीर्थंकृत्वामनुपरो०
१६६	२	१	तत्र सम्मते तीर्थकृता०
[illegible]	२	१०	यस्य कस्यचिदनुपद्रवे०
		[illegible]	कममद्गतिपार०
१६८	१	९	प्रमादप्रवाः०
१६८	२	११	नाकवीर्यममप्यानाम०
१७१	२	७	मारावतः सर्वेर्यवर्तम०
१७३	२	२	परपद्मनाम मृपाभावो०
१७४	१	५	ये केवल ' मधुरा '०
१७४	१	८	महात्मन हे०
१७४	१	११	नाकानो सरिकमरि०
१७५	१	१०	' मुनयः ' साधुः ' यस्ये '०
१७७	१	९	साधुगुणानां पार्श्वे०
१७९	२	९	पश्चिवर्षे च मयण च,०
१८०	१	३	पिपिपत्वात्०
१८१	१	३	' मायवम् '—आविष्करणे०
१८२	१	१०	बहुसमरसमुद्र०
१८३	२	९	भिन्नापि भाषा दोषाय०

॥ ५—परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गीय-प्रथमश्रुतस्कन्धे सूत्र-निर्युक्ति-वृत्तिव्याख्यानावसरे आगतानि-विशेषनामानि तानि सर्वाणि चात्र पञ्चमपरिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ।

॥ विशेषनामानि ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१	२	५	आर्यरक्षितमिश्रै०
१	२	५	चरणकरण०
१	२	६	आचाराङ्गं०
१	२	[illegible]	सूत्रकृताख्यं०
३	१	४	०मुत्तराध्ययन०
३	१	५	ज्ञातधर्मकथादि०
३	१	५	ब्रह्मचर्याध्ययनादि०
३	१	६	कापिलीयमध्ययनं०
६	२	२	सूत्रकृतस्य०
६	२	९	सूत्रकृताङ्गं०
८	२	४	अनुपयोगो०
९	२	८	गाहासोलस
९	२	११	अनुयोगद्वारा०
११	२	१०	मीलक०
११	२	१०	वाममार्गो०

२४६	१	१०	एतदसपवि–' स्पैः'०
२४८	१	८	क्षिप्यापेक्षया०
२४८	२	१२	यथा हि आसुरा०
२४९	२	८	यथा शिवपोतसमस्तजातपर्यं०
२४९	२	८	स एव च परमार्थतो०
२५०	१	१	अनुपासितगुरोर्वेद्यो०
२५०	२	७	गुरुकुलवासे निवसन्०
२५१	१	११	'नीयमानः' प्राप्यमानो०
२५१	१	११	यथा हि हस्तिपार्श्व०
२५७	१	१	विभयपदादः–स्याद्यवस्त्व०
२६२	१	१०	असर्वज्ञत्वाच्च०
२६४	२	१०	पराणि व्रतानि०
२६४	२	११	सर्वाण्यपि व्रतानि०
२६५	१	५	ये महासत्त्वाः०
२६५	१	८	सर्वाविनयास्पदभूतः०
२६६	२	११	यथा सुरादीनां०
२६७	१	१०	यथा मनुष्य०
२७४	२	१०	आह–शान्तो ह्यम्भूतो०

॥ समाप्तं चतुर्थ-परिशिष्टम् ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
७३	२	१	क्षुल्लककुमारवत्०
७७	१	९	नाभेयो०
९२	२	२	दिगम्बराणां०
९३	२	१२	गोशालकमतानुसारिणो दिगम्बरा०
९५	१	४	काश्यपेन श्रीमन्महावीरवर्द्धमान-स्वामिनो०
९६	२	५	वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव०
९७	१	३	आगमो०
१३६	२	३	क्षितिकाकृति०
१४५	२	७	स्वयम्भूरमण
१४८	२	४	शाल्मलीवृक्षः
१४८	२	५	नन्दनं वनं०
१५२	१	९	णाणतवादि०
१५५	२	२	मृगापुत्र०
१५९	२	३	वारिभद्रकादयो०
१६५	२	११	योनिप्राभृतका०
१६५	२	१२	देवकुर्वादिकं
१६६	२	६	कोटिशिला त्रिपृष्ठेन०
१६६	२	८	जम्बूद्वीपं०
१६७	१	३	भरतं०
१६७	२	३	वीर्यप्रवाद–पूर्वं०
१६९	१	४	चाणक्याभिप्रायेण०
१६९	१	५	कामशास्त्रादिकं०
१६९	२	९	तन्दुलमत्स्यवत्०
१७०	२	१	जमदग्निना०
१७०	२	२	परशुरामेण०
१७२	१	१	इलापुत्रवत्०

११	२	११	शाक्यानां
११	२	११	गण्डित्यक्तम
१३	१	३	आचाराङ्गे०
१३	१	९	'वीरा'
१४	२	११	शाक्या
१४	२	१२	सांख्या
१५	१	२	वैशेषिकाः
१५	१	२	नैयायिकाः
१५	१	३	मिमांसकाः
१५	१	४	चार्वाकाः
१५	२	४	साङ्ख्यादि
१५	२	८	वैशेषिका
२०	१	८	कपिलकणादयः
२२	२	९	नास्ति सत्ता०

२८	२	१२	सांख्याद्यः
४२	१	८	शाक्यपाशुपताद्यः
४३	१	६	प्रज्ञया०
४३	१	७	प्रज्ञापरत्वा०
४३	१	१	शास्त्राद्विपदिति०
४३	१	८	ईश्वरकारणिका०
४५	१	१३	स्वयम्भूः
६५	१	४	नागार्जुनीयः०
६५	२	७	नागार्जुनीया०
६९	१	११	ऋषभस्वामिनो०
६९	१	११	वर्धमानस्वामिनो०
६९	२	२	श्रीमद् वर्धमानस्वामिना०
६९	२	३	जमालिप्रभृतयः
७३	२	१	वैरस्वामिजम्बूनामादिवद् वा०

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१९८	१	७	चारुदत्तो०
"	"	"	वेत्रवती
"	"	१०	सुवर्णभूम्यां
"	"	१०	चारुदत्तो
२००	१	६	मापतुषादा०
२००	२	८	जम्बूस्वामी
२००	२	९	सुधर्मस्वामीनम्
२०१	१	११	सुधर्मस्वाम्याह
२०१	२	२	सुधर्मस्वामी०
२०२	१	१	महावीरवर्धमानस्वामी
२०२	१	१०	सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं०
२०२	२	६	बौद्धादिमतनिरासः
२०२	२	७	प्रसिद्धस्वरूपनिरूपणमाचारे०
२०२	२	७	शस्त्रपरिज्ञाख्ये०
२०६	१	१०	अग्निन्यादिनां
२०८	१	१२	शाक्यादीनां०
२०८	२	३	शाक्यादयो०
२०८	२	९	श्रीवर्धमानस्वामिना०
२१०	१	१०	मेरुरिति०
२१०	२	५	जम्बूस्वामिनम्
"	"	"	सुधर्मस्वाम्याह०
२१५	२	९	वीरो वरैषणां चरन्नभिनिर्वृतः०
२१८	२	८	शाक्यादयश्च०
२१८	२	९	बौद्धानामयमभ्युपगमो०
२१९	१	५	लोकायतिकबौद्धसांख्या०
२१९	२	४	लोकायतिका०
२१९	२	६	बौद्धा०

१७२	१	१	विमलपुत्रवत्०
१७२	१	९	मच्छपरितो०
१७२	१	१०	'महाकुम्भे०'
१७२	२	११	संभूसादीनामिव०
१७४	१	७	दशवैकालिकसूत्रस्य०
१७५	१	२	सूयगडे अज्झयणे०
१७७	१	१	पार्श्वस्था । अवसन्ना ।
१७७	१	४	कुशीला । सूयगडेऽङ्गे०
१७७	१	११	जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमुद्दिश्ये समाह
१७७	१	१२	भगवान् वीरवर्धमानस्वामी क्षेम ?
१७७	२	२	सुधर्मस्वाम्याह०
१७८	१	२	समतिनिठसपीपोषि०
१७८	२	४	कालसौकरिकसुतः
"	"	"	सुलसानाम
"	"	"	अभयकुमारस्य
१८१	१	५	महावीरे महामुनौ०
१८२	२	९	'महावीर' इति श्रीमद्वर्धमान स्वामी०
१८५	१	२	नाप्यनागतान् प्रत्युत्प०
१८७	१	६	उत्तराध्ययनेषु षष्ठमध्ययनं
१८८	२	६	वीरवर्धमानस्वामी
१८८	२	१०	शाक्याः
१९४	१	११	कपिलदर्शने
१९५	२	२	मम्मणवणियवत्
१९५	२	१०	कण्डरीकवत्
"	"	"	मम्मणवणियवत्
"	"	'	विपकमेष्ठिवद्

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१९८	१	७	चारुदत्तो०
"	"	"	वेत्रवती
"	"	१०	सुवर्णभूम्यां
"	"	१०	चारुदत्तो
२००	१	६	मापतुशादा०
२००	२	८	जम्बूस्वामी
२००	२	९	सुधर्मस्वामीनम्
२०१	१	११	सुधर्मस्वाम्याह
२०१	२	२	सुधर्मस्वामी०
२०२	१	९	महावीरवर्धमानस्वामी
२०२	१	१०	सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं०
२०२	२	६	बौद्धादिमतनिरासः
२०२	२	■	प्रसिद्धस्वरूपनिरूपणमाचारे०
२०२	२	७	शक्रपरिज्ञाख्ये ■
२०६	१	१०	अग्निन्यादीनां०
२०८	१	१२	शाक्यादीनां०
२०८	२	३	शाक्यादयो०
२०८	२	९	श्रीवर्धमानस्वामिना०
२१०	१	१०	मेरुरिति ■
२१०	२	५	जम्बूस्वामिनम्
"	"	"	सुधर्मस्वाम्याह०
२१५	२	९	बीरो पुसैवणां धम्ममिनिधुतः०
२१८	२	८	शाक्यादयश्च०
२१८	२	९	बौद्धानामयमभ्युपगमो०
२१९	१	५	लोकायतिकबौद्धमाख्या०
२१९	२	४	लोकायतिका०
२१९	२	६	बौद्धा०

५

२१९	२	१०	मावीचिमरकं०
२२०	१	७	चोपाश्च चनित्वात्०
२२०	१	८	सोक्याय
२२०	२	८	देवदत्त
२२०	२	१०	चार्वाकमीमांसको
२२१	१	७	बौद्धानाम
२२२	२,	९	नवमपूर्वरक्रियाचार
२२४	१	१२	' लोक 'चतुर्दशरज्ज्वात्मक०
२२५	२	८	स्वयम्भुरमणसमुद्रोपकपार०
२२५	२	८	स्वयम्भुरमणसमुद्रोपो०
२२६	१	६	वैशेषिकस्याभो०
२२६	२	४	राजगिरि०–वाराणसीप०
२२८	२	१	' लोक ' पदानंर०
२२८	२	६	द्रव्यास्तिकनयाश्रयात्

२२९	२	७	नैयायिकदर्शनेन०
२३०	१	६	कपिलकदर्शनादिति०
२३१	१	४	सांख्यानां
२३१	१	२	सर्वतन्त्रसिद्धान्तः०
२३१	१	४	समानतन्त्रसिद्ध०
२३१	१	५	सोऽधिकरणसिद्धान्तः०
२३१	१	९	अभ्युपगमसिद्धान्तः०
२३१	२	१	उपनयः०
२३१	२	८	वादो जल्पो वितण्डा०
२३२	१	५	वाक्छल०
२३२	२	२	वैशेषिकोक्तं०
२३२	२	४	अविपक्ष०
२३४	१	१	समवाय
२३४	१	१	वैशेषिकमते



पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
२३५	२	१	जमालिनासं
२३७	१	१	सुधर्मस्वामिजम्बूनामप्रभवार्य-रक्षिता०
२३७	१	५	'जमालिनासं'-
२३७	१	८	देवदत्ते । कान्यकुब्जं । देवदत्तो ।
२३८	२	७	गोष्ठामाहिलवक्तृ
२४२	१	१	हरिवंशस्थानीये
२४३	२	८	इक्ष्वाकुवंश-हरिवंशादिके
२४४	२	१३	प्रभादीनि
२४५	२	५	पालकपुरोहितवत् । स्कन्दकाचार्यस्येति
२४७	२	४	उत्तराध्ययने ध्वध्ययनं०
२४७	२	४	क्षुल्लकनैर्ग्रन्थ्यं
२५७	१	७	०उदायिनृपमारक०
२६२	१	५	औदायिके०
२६२	१	६	शाक्यमुनिः
२६७	२	[illegible]	युगसमिलादि०
२७०	१	१	श्रीवीरवर्धमानस्वामिना

॥ समाप्तमिदं पञ्चमपरिशिष्टम् ॥

॥ ६ परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीमद्भागवतीयप्रथमस्कन्धे प्रतिव्याख्यानावसरे प्रकटीकृतानि न्यायपदस्थानान्यत्र परिशिष्टे दर्श्यन्ते ।

॥ न्यायपदस्थानानि ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
२	२	४	सत्यमेवपर्यरे०
८	१	६	सदसिप्रशंसिनो वर्णा०
२३	२	१२	मुखप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग०
४२	२	११	अरघट्टघटीन्यायेन०
४६	१	८	अरघट्टघटीन्यायेन०
५२	२	१	भवोत्पादरघट्टघटीन्यायेन०
७६	२	१०	अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन०
१४४	२	१२	करतलाऽऽमलकन्यायेन०
१५६	१	१०	निदानोच्छेदेन०
१५७	२	४	अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन०
२००	१	७	'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' इति न्यायात्०
२०८	२	११	अरघट्टघटी न्यायेन०
२१९	१	७	काकाक्षिगोलकन्यायेन०
२२४	२	१	करतलामलकन्यायेन०
२२५	२	६	अरघट्टघटीन्यायेन.

॥ समाप्तमिदं षष्ठपरिशिष्टम् ॥

॥ ७ परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गीयद्वितीयाङ्के प्रथमश्रुतस्कन्धेऽभ्यासकालेऽवश्यमेव विचारणार्थं पाठान्तराण्यत्र सप्तम-परिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते ॥

॥ पाठान्तराणि ॥

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
२७	१	३	जाणगा ।
३४	१	१	पदं–कूटं पाशः–प्रतीतस्ताभ्यां मुच्येत क्वचित्पद्पाशादीति पठ्यते ।
४८	२	१	क्वचित् समारम्भर्धनमिति पाठः ।
४९	१	६	जस्य थालेऽवसीयइ
५६	१	९	' सुव्रतः ' शोभनव्रतः सन् सुस्थितो चेति ।
६२	१	३	' महण 'त्ति साधुः पाठान्तरं वा जे विउ'त्ति ।
६२	२	१	' महद् ' अदणं महान्तं वा क्वचित् ' चिरम् ' इति पाठः
६३	१	१२	' मन्नवाऽहियामप० '
६३	२	१	पडिसमयारो०
७०	२	५	' अगद्दे ' नि०
७१	१	८	वा ' चयितद् '०

७२	१	१२	'वहु विरिय०'
७३	१	९	पाठान्तरं वा 'अहियासए'
७९	१	१	पाठान्तर वा 'स्वोपसर्ग०'
८७	२	१	पाठान्तर वा 'अहो' इति०
९६	२	११	'मायन्ने' मुणते मन्यन्ते वा०
१०५	२	१	क्वचित्पाठो 'विविधे खित्ते' 'विविध'
१०५	२	९	पाठान्तर वा [illegible]
१०८	१	६	[illegible] वा क्वचित् पाठः
११०	१	६	क्वचित्पाठोऽयं [illegible]
१११	१	३	'रूक्ष मिति सयम मौनमिति
११६	१	३	[illegible]०
१२०	२	४	पाठान्तरं वा पुनः
१२६	२	१०	पाठान्तरं वा 'दुच्चरियं' ति०

११०	१	१	कुम्भकाकवि: सर्व एव०
१३०	१	१	समुस्सिओ [illegible]०
१४३	२	११	महर्षिरिति क्वचित्पाठः०
१४५	२	९	भिक्षुरिति क्वचित्पाठः०
१५७	१	४	(पाठांतरे पोकसा य)
१५७	२	१२	मच्छिमपोकसा०
१५८	२	९	आहारस पंचमवज्जनेण
१५९	१	२	पाठान्तर वा आहारओ०
१६९	२	९	पाठान्तरं वा [illegible] विग्गहइ
१७०	२	११	पाठान्तरं वा सत्त [illegible] अप्पणो
१७२	२	१०	" " [illegible]
१७२	२	१२	" " [illegible]०
१७३	१	२	" " [illegible]०
१७७	२	३	" " 'अप्पगा [illegible]०'

पत्राङ्कः	पृष्ठाङ्कः	पङ्क्तिः	आदिपदम् ।
१७८	१	१	,, ,, 'वेरं तेसिं पव- इइ'त्ति
१७९	१	१	,, ,, चिचा णऽणंतगं०
१८४	१	७	,, ,, न निश्रितोऽनिश्रितः०
१९०	२	९	,, ,, एवं तु बाले०
१९१	१	६	,, ,, आदीनभोज्यपि पाप करोतीति०
१९२	२	७	,, ,, 'छन्दणं कुजा' इत्यादि०
१९५	१	८	,, ,, जायाएँ वालस्स पगब्भणाए०
१९६	२	७	,, ,, निव्वाणभूए व परिव्वएजा०
२०९	२	७	,, ,, 'मद्दहे साधुधर्म्मं' प०
२२३	१	८	,, ,, जाणासुलोगंसि वयंति
२२४	२	२	,, ,, तथा तथेति वा क्वचित्पाठः
२२६	१	१०	,, ,, नावदति क्वचित्पाठः
२२७	१	११	,, ,, विण्णत्तिवीरा य भवंति०
२३८	२	१३	क्वचित्पाठः अट्ठाणिए होंति०
२४०	२	२	पाठान्तरं 'एगंतमहि'
२४२	१	१०	,, ,, 'अगारिकर्म्मं' ति
२४६	१	१०	आगमायं ति क्वचित्पाठः

॥ समाप्तेदं सप्तपरिशिष्टम् ॥

॥ ८ परिशिष्टम् ॥

अस्मिन्नेव श्रीसूत्रकृताङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धे भाषापद-पद्य-पदानि आर्षवचनानि चात्र अष्टम-परिशिष्टे प्रदर्श्यन्ते।

भाषा (भा०)

पत्राङ्का	पृष्ठाङ्का	पङ्क्ति	आर्षवचनम् ।
७	१	८	[illegible]०
१००	१	१०	'परि[illegible]न्ते' न [illegible] भवन्ति, [illegible] (भा)
१५४	२	१	[illegible]० (भा)
१७६	२	४	'कुसीमव' इति [illegible] (भा)
२१७	२	१०	[illegible], [illegible] [illegible] इति (भा)
१९०	१	१०	[illegible] (भा)

आर्षवचनानि

पत्राङ्का	पृष्ठाङ्का	पङ्क्ति	आर्षवचनम्
४०	१	१०	[illegible] [illegible] [illegible]०
२८	१	९	[illegible], [illegible] एवं "[illegible]०"
४२	१	१०	'सिया' इति [illegible] वचनेन०

॥ समाप्तोऽष्टमपरिशिष्टम् ॥

॥ अर्हम् ॥

श्रीपञ्चमगणधरवरसुधर्मस्वामिसंदब्धम् ।

श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिनिर्मितनिर्युक्तियुतम् ।

श्रीमच्छीलाङ्काचार्यविहितविवरणशोभितम् ।

श्रीसाधुरङ्गोपाध्यायरचितदीपिकालंकृतम् ।

श्रीमत्सूत्रकृताङ्गम् ।

स्वपरसमयार्थ[1]सूचकमनन्त[2]गमपर्यया[3]र्थ[4]गुणकलितम् । सूत्रकृतमङ्गमतुलं विवृणोमि जिनान्नमस्कृत्य ॥१॥

व्याख्यातमङ्गमिह यद्यपि सूरिमुख्यैर्भक्त्या तथापि विवरीतुमहं यतिष्ये ।

सा. १ सदृशपाठः । २ शब्दपर्याया । ३ अभिधेयगुणा ॥ ४ नयगहनम् इ. ।

किं पक्षिराजगतमित्यवगम्य सम्यक्, तेनैव वाञ्छति पथा शलभो न गन्तुम् ? ॥२॥[1]

ये मय्यवज्ञां व्यधुरिद्धबोधा, जानन्ति ते किञ्चन तानपास्य। मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथार्थी, तस्योपकाराय ममैष यत्न[2] ॥३॥[3]

इहापसदसंसारान्तर्गतेनासुमताऽवाप्यातिदुर्लभं मनुजत्वं सुकुलोत्पत्तिसमग्रेन्द्रियसामग्र्याद्युपेतेनार्हद्दर्शनम् अशेषकर्मोच्छित्तये यत्नो विधेयः, कर्मोच्छेदश्च सम्यग्विवेकसव्यपेक्षः, असावप्याप्तोपदेशमन्तरेण न भवति, आप्तश्चात्यन्तिकाशेषदोषक्षयात्, स चार्हन्नेव, अतस्तत्प्रणीतागमपरिज्ञाने यत्नो विधेय[4], आगमश्च द्वादशाङ्गादिरूप[5], सोऽप्यार्यरक्षितमिश्रैरैदंयुगीनपुरुषानुग्रहबुद्ध्या चरणकरणद्रव्यधर्मकथागणितानुयोगभेदाच्चतुर्धा व्यवस्थापितः, तत्राचाराङ्गं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम्, अधुनाऽवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताख्यं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यत इति। ननु चार्हतस्य शासनाच्छास्त्रमिद, शास्त्रस्य चाक्षेपप्रत्यूहोपशान्त्यर्थमादिमङ्गलं तथा स्थिरपरिचयार्थं मध्यमङ्गलं शिष्यप्रशिष्याविच्छेदार्थं चान्त्यमङ्गलमुपादेयं तच्चेह नोपलभ्यते, सत्यमेतत्, मङ्गलं हीष्टदेवतानमस्कारादिरूपम्, अस्य च प्रणेता सर्वज्ञः, तस्य चापरनमस्कार्याभावान्मङ्गलकरणे प्रयोजनाभावाच्च न मङ्गलाभिधानं, गणधराणामपि, तीर्थकृदनुवादित्वान्मङ्गलाकरणं, अस्मदाद्यपेक्षया तु सर्वमेव शास्त्रं मङ्गलम्। अथवा निर्युक्तिकार एवात्र भावमङ्गलमभिधातुकाम आह—

"तित्थयरे य जिणवरे सुत्तकरे गणहरे य णमिऊण। सूयगडस्स भगवओ णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि ॥१॥

क. १ पक्षिराजगतमवगम्यापीति प्र । २ रवी जी पी मपमतिश्च (कल्पो०ऽनुशासने च १ पृ. १११) । ३ पो पी पतिकिश्चन (कल्पो ९–१५४)। ४ इहापसदसंसारेति प्र । ५ 'सम्पूर्णत्वे' आ.। ६ सुकुलमनुजत्वं आ. इ । ७ चार्हत एव आ. इ । ८ 'प्रधान्य' आ । ९ नोपलभ्यते आ. ह. । [illegible] १ भोपाद० ।

११ नमो जिनाय जिन अ–आ । १२ सूत्र अ. आ ।

गाथापूर्वार्द्धेनेह भावमङ्गलमभिहितं, पश्चार्द्धेन तु प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनादित्रयमिति, तदुक्तम्—"उक्तार्थं ज्ञातसंबन्धं, श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते। शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः, सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥१॥" तत्र सूत्रकृतस्येत्यभिधेयपदं, निर्युक्तिं कीर्त्तयिष्ये इति प्रयोजनपदं, प्रयोजनप्रयोजनं तु मोक्षावाप्तिः, सम्बन्धस्तु प्रयोजनपदानुमेय इति पृथङ् नोक्तः, तदुक्तम्—"शास्त्रं प्रयोजनं चेति, सम्बन्धस्याश्रयावुभौ। तदुक्त्यन्तर्गतस्तस्माद्भिन्नो नोक्तः प्रयोजनात् ॥१॥" इति समुदायार्थः ॥ अधुनाऽवयवार्थः कथ्यते—तत्र तीर्थं द्रव्यभावभेदाद्द्विधा, तत्रापि द्रव्यतीर्थं नद्यादेः समुत्तरणमार्गः, भावतीर्थं तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, संसारार्णवादुत्तारकत्वात्, तदाधारो वा सङ्घः प्रथमगणधरो वा, तत्करणशीलास्तीर्थङ्करास्तान्नत्वेति क्रिया। तत्रान्येषामपि तीर्थकरत्वसंभवे तद्व्यवच्छेदार्थमाह—'जिनवरानि'ति रागद्वेषमोहजितो जिनाः, एवंभूताश्च सामान्यकेवलिनोऽपि भवन्ति, तद्व्यवच्छेदार्थमाह—वराः-प्रधानाः चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितत्वेन, तान्नत्वेति, एतेषां च नमस्कारकरणमागमार्थोपदेष्टृत्वेनोपकारित्वात्, विशिष्टविशेषणोपादानं च शास्त्रस्य गौरवाधानार्थं, शास्तुः प्राधान्येन हि शास्त्रस्यापि प्राधान्यं भवतीति भावः। अर्थस्य सूचनात्सूत्रं, तत्करणशीलाः सूत्रकराः, ते च स्वयंबुद्धादयोऽपि भवन्तीत्यत आह—गणधरास्तांश्च नत्वेति, सामान्याचार्याणां गणधरत्वेऽपि तीर्थकरनमस्कारानन्तरोपादानाद्गौतमादय एवेह विवक्षिताः। प्रथमश्चकारः सिद्धाद्युपलक्षणार्थो द्वितीयः समुच्चितौ। क्त्वाप्रत्ययस्य क्रियाऽन्तरसव्यपेक्षत्वात्तामाह—स्वपरसमयसूचनं कृतमनेनेति सूत्रकृतस्तस्य, महार्थवत्त्वाद्गवांस्तस्य, अनेन च सर्वज्ञप्रणीतत्वमावेदितं भवति। 'निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये' इति योजनं युक्तिः—

सा. १ उक्तप्रयोजन। २ चान्द्रमतेन णिजन्तात्कर्त्रर्यात्मनेपदभावान्न परस्मैपदित्वादसाधु प्रयोगोऽयमिति शङ्क्यम्। स्वपरसमयसूचनार्थत्वात्सूत्रकृतशब्दस्य नाभिधेयत्वेऽस्य क्षति, स्वकृत्यपेक्षया निर्युक्तिं कीर्तयिष्य इति प्रयोजनोक्तिः। ३ सम. समुत्तरणमार्ग प्र०। ४ जिनेत्यनुक्त्वा जिनवरानिति वरत्वयुक्तजिनेत्युपादानं॥

ग्रथ्यन्ना, नियमनाभिसम्येन सा युक्तिर्निर्युक्तिः—सम्यगर्थप्रकटनमितियावत्, निर्युक्तानां वा—सूत्रेष्वेव परस्परसम्बद्धानामर्थानामावि भावन, युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिरिति, तां 'कीर्तयिष्यामि' अभिधास्य इति ॥ इह सूत्रकृतस्य निर्युक्तिं कीर्तयिष्ये इत्यनेनोपक्रमद्वारमुपक्षिप्तम्, तच 'इहापमद' त्यादिनेपदमिहितमिति, तदनन्तरं निक्षेप', स च त्रिविध', तद्यथा—ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति। तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽङ्ग, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे सूत्रकृतमिति ॥१॥ तत्र 'तस्यभेदपर्यायैर्व्याख्ये'त्यत पर्यायप्रदर्शनार्थं निर्युक्तिकृदाह—

सूयगडं अंगाणं बितियं तस्स य इमाणि नामाणि। सूतगडं सुत्तकडं सूयगडं चेव गोण्णाइं ॥२॥

सूत्रकृतमित्येतदङ्गानां द्वितीयं, तस्य चामून्येकार्थिकानि, तद्यथा—सूतम्—उत्पन्नमर्थरूपतया तीर्थकृद्भ्यः ततः कृतं ग्रन्थरचनया गणधरैरिति, तथा 'सूत्रकृत'मिति सूत्रानुसारेण तत्त्वावबोधः क्रियतेऽस्मिन्निति, तथा 'सूचाकृत'मिति स्वपरसमयार्थसूचनं सूचा साऽस्मिन् कृतेति, एतानि चास्य गुणनिष्पन्नानि नामानीति ॥२॥ साम्प्रतं सूत्रकृतपदयोर्निक्षेपार्थमाह—

दव्वं तु पोण्डयादी भावे सुत्तमिह सूयगं नाणं। सण्णासंगहवित्ते जातिणिबद्धे य कत्थादी ॥३॥

नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यसूत्रं दर्शयति—'पोण्डयाइ'त्ति पोण्डकं च वनीफलात्तदुत्पन्नं कार्पासिकं, आदिग्रहणादण्डजवालजादेर्ग्रहणं, भावसूत्रं तु 'इह' अस्मिन्नधिकारे सूचकं ज्ञानं—श्रुतज्ञानमित्यर्थः, तस्यैव व्यपरार्थसूचकत्वादिति। तच श्रुतज्ञानसूत्रं चतुर्धा

१ स्पष्टे(मेरिरो)मेप्पदि ६। २ वीर्य ब. वीर्य स.। खा ३ सुत्तगडमिति सूत्रे पीयडस्थितिति सम्प्रदायोऽत्र हस्तत्र तथा च म पर्यायैर्व्या ४ पुन्दोंस स स.। ख. ५ सम्भूतेन सूत्रानुसारेण निर्योगतो गम्यते च. ६ ६ चर्मा' स. ३।

भवति, तद्यथा—संज्ञासूत्रं संग्रहसूत्रं वृत्तनिबद्धं[1] जातिनिबद्धं च, तत्र संज्ञासूत्रं यत् स्वसंकेतपूर्वकं निबद्धं, तद्यथा—"[2]जे छेए सागारियं न सेवे, सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए" इत्यादि, तथा लोकेऽपि–पुद्गलाः "संस्कारः क्षेत्रज्ञा इत्यादि। संग्रहसूत्रं तु यत्प्रभूतार्थसंग्राहकं, तद्यथा–द्रव्यमित्याकारिते समस्तधर्माधर्मादिद्रव्यसंग्रह इति, यदिर्वा, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदि'ति, वृत्तनिबद्धसूत्रं पुनर्यदनेकप्रकारया वृत्तजात्या निबद्धं तद्यथा–बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जेत्यादि', जातिनिबद्धं तु चतुर्द्धा, तद्यथा—कथनीयं कथ्यमुत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादि, पूर्वर्षिचरितकथानकप्रायत्वात्तस्य, तथा गद्यं ब्रह्मचर्याध्ययनादि, तथा पद्यं—छन्दोनिबद्धं, तथा गेयं यत् स्वरसंचारेण गीतिकाप्रायनिबद्धं, तद्यथा कापिलीयमध्ययनं 'अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए' इत्यादि ॥३॥ इदानीं कृतपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद्गाथामाह—

करणं च कारओ[11] य कडं च तिण्हंपि छक्कनिक्खेवो। दव्वे खित्ते काले भावेण उ कारओ [12]जीवो ॥४॥

इह कृतमित्यनेन कर्मोपात्तं, न चाकर्तृकं कर्म भवतीत्यर्थात्कर्तुराक्षेपो धात्वर्थस्य च करणस्य, अमीषां त्रयाणामपि प्रत्येकं नामादिः षोढा निक्षेपः, तत्र गाथापश्चार्द्धेनाल्पवक्तव्यत्वात्तावत्करणमतिक्रम्य कारकस्य निक्षेपमाह, तत्र नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य

१ वृत्तबद्ध वृत्तनिरुद्ध आ.। सा. २ यश्छेकः स सागारिक (मैथुनं) न सेवेत, सर्वमामगन्धं परिज्ञाय निरामगन्ध परिव्रजेत् (आम विशोधि गन्धमविशोधि)। ३ सागारियं ण सेवे से सव्वा० आ. सागारियं न सेसेवो सव्वा० इ। ४ संस्काराः इ.। सा. ५ उभए ज ससमए परसमए य चू०। ६ चोत्पाद०। सा. ७ बुध्येतेति त्रोटयेत्। ८ बुज्झेज्जतिउट्टेज्जेत्यादि आ इ.। सा. ९ वित्तबद्ध सिलोगादिबद्धं वा चू०। १० अध्रुवेऽशाश्वते संसारे दुःखप्रचुरतायाम् (दुःखप्रचुरे)। ११ कारगो वा अ. कारयो वा आ.। १२ करगो जीवा अ. करगो जीवो आ.॥

द्रव्यादिकं दर्शयति—'दव्वे' इति द्रव्यविषय कारकश्चिन्त्यः, स च द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यभूतो वा कारको द्रव्यकारकः, तथा क्षेत्रे भरतादौ यः कारको यस्मिन् वा क्षेत्रे कारको व्याख्यायते स क्षेत्रकारकः, एवं कालेऽपि योज्यम्, 'भावेन तु' भावद्वारेण चिन्त्यमानो जीवोऽत्र कारको, यस्मात्सूत्रस्य गणधरः कारकः, एतच्च निर्युक्तिकृदेवोत्तरत्र वक्ष्यति 'ठिइ अणुभावे'त्यादौ ॥४॥ साम्प्रतं करणव्याचिख्यासया नामस्थापने मुक्त्वा द्रव्यादिकरणनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

[1]दव्वे पओगवीससा पओगसा मूल उत्तरे चेव। उत्तरकरणं वजण अत्थो उ उवक्खरो सव्वो ॥५॥

'द्रव्ये' द्रव्यविषये करणं चिन्त्यते, तद्यथा—द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यनिमित्तं वा करणम्—अनुष्ठानं द्रव्यकरणं, तत्पुनर्द्विधा—प्रयोगकरणं विस्रसाकरणं च, तत्र प्रयोगकरणं पुरुषादिव्यापारनिष्पाद्यं, तदपि द्विविधं—मूलकरणमुत्तरकरणं च, तत्रोत्तरकरणं गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति—उत्तरं करणमुत्तरकरणं—कर्णवेधादि, यदिवा तन्मूलकरणं घटादिकं येनोपस्करेण—दण्डचक्रादिना अभिव्यज्यते स्वरूपतः प्रकाश्यते तदुत्तरकरणं, कर्तुरुपकारकः सर्वोऽप्युपस्कारार्थ इत्यर्थः ॥५॥ पुनरपि प्रपञ्चतो मूलोत्तरकरणे प्रतिपादयितुमाह—

मूलकरणं सरीराणि पंच तिसु कण्णखंधमादीयं। दव्विंदियाणि परिणामियाणि विसओसहाईहिं ॥६॥

मूलकरणमौदारिकादीनि शरीराणि पञ्च, तत्र चौदारिकवैक्रियाहारकेषु त्रिषूत्तरकरणं कर्णस्कन्धादिकं विद्यते, तथाहि—'सीसंमुरो-

1 एतद्गाथास्थाने मूलपाठः चरणं खं. ६। सा. २ कण्णाकरणं मोक्खनकरणं च करणं भवाकरणं वेखकरणादि चू.। ३ दर्शी पर्यन्तं च [illegible]। ४ स्कन्धो-त्तदुत्तरकरणं खं. खा.। ५ च खा. ६। ६ दण्डचक्रादिना खा.। ७ अभिव्यज्यते खा.। ८ सु. उपकारसमर्थं भवति संस्कारादीत्यर्थः चू.। ९ दवि खा. ६। १ म्यमुत्तरकरणमिति दीपिकायामेवम्। ११ वदिव नेपथ्याबाहिर चिन्ता विस्तरेण पूर्णे ब च खा.। १२ सीसंमुर उयरं पिट्ठि दो बाहू दो य ऊरू अंगानि ॥

यर पिट्ठी दो बाहू ऊरया य अट्ठंग'त्ति त्रयाणामप्येतन्निष्पत्तिर्मूलकरणं, कर्णस्कन्धाद्यङ्गोपाङ्गनिष्पत्तिस्तूत्तरकरण, कार्मणतैजसयोस्तु स्वरूपनिष्पत्तिरेव मूलकरणम्, अङ्गोपाङ्गभावान्नोत्तरकरणं, यदिवा औदारिकस्य कर्णवेधादिकमुत्तरकरणं, वैक्रियस्य तूत्तरकरणम्—उत्तरवैक्रियं दन्तकेशादिनिष्पादनरूपं वा, आहारकस्य तु गमनाद्युत्तरकरणं यदिवा औदारिकस्य मूलोत्तरकरणे गाथापश्चार्द्धेन प्रकारान्तरेण दर्शयति—'द्रव्येन्द्रियाणि' कलम्बुकापुष्पाद्याकृतीनि मूलकरणं तेषामेव परिणामिनां [1]विषौषधादिभिः पाटवाद्यापादनमुत्तरकरणमिति ॥६॥ साम्प्रतमजीवाश्रितं करणमभिधातुकाम आह—

संघायणे य [3]परिसाडणा य मीसे तहेव पडिसेहो। पडसंखसगडथूणाउड्ढतिरिच्छादिकरणं च ॥७॥

संघातकरणम्—आतानवितानीभूततन्तुसंघातेन पटस्य, परिसाटकरणं—करपत्रादिना शङ्खस्य निष्पादनं, संघातपरिसाटकरणं शकटादेः, तदुभयनिषेधकरणं—स्थूणादेरूर्ध्वतिरश्चीनाद्यापादनमिति ॥७॥ प्रयोगकरणमभिधाय विस्रसाकरणाभिधित्सयाऽऽह—

खंधेसु दुप्पएसादिएसु अब्भेसु [5]विज्जुमाईसु। णिप्फण्णगाणि दव्वाणि [7]जाण तं वीससाकरणं ॥८॥

विस्रसाकरणं साद्यनादिभेदाद्द्विधा, तत्रानादिकं धर्माधर्माऽऽकाशानामन्योऽन्यानुवेधेनावस्थानम्, अन्योऽन्यसमाधानाश्रयणाच्च सत्यप्यनादित्वे करणत्वाविरोधः, रूपिद्रव्याणां च द्व्यणुकादिप्रक्रमेण भेदसंघाताभ्यां स्कन्धत्वापत्तिः सादिकं करणं, पुद्गलद्रव्याणां च दशविधः परिणामः, तद्यथा—[8]बंधनगतिसंस्थानभेदवर्णगन्धरसस्पर्शअगुरुलघुशब्दरूप इति, तत्र बन्धः स्निग्धरूक्षत्वात्, गतिपरि-

सा १ विधिविपर्ययेऽन्यथाभाव विविधा गतिर्वा चू० ॥ २ विविधौषधादिभि आ। ३ परिसाडणे अ. आ। ४ विश्रसा० आ। सा ५ अचिता काचिद्विद्युदिति लस्यतेऽनेन ॥ ६ निप्पण्णगाणि अ. आ.। ७ जाणि त अ. आ.। ८ बंधन १ गति २ संस्थान ३ भेद ४ वर्ण ५ गन्ध ६ रस ७ स्पर्श ८ अगुरुलघु ९ शब्दरूप १० इ.।

गामो—देशान्तरप्राप्तिलक्षण, संस्थानपरिणामः—परिमण्डलादिकः पञ्चधा, भेदपरिणामः—खण्डप्रतरचूर्णकानुतटिकोत्करिकाभेदेन पञ्चधैव, शब्दादिस्वरूपप्रतिपादकं चेदं गाथात्रयम्, तद्यथा—"खंडेहिं खंडमेयं पयरब्भेयं अब्भपडलस्स। चुण्णं चुण्णियभेयं अणुतडियं वंसवक्कलियं ॥१॥ दुंदुमि समारोहे भेए उक्केरिया य उक्केरं। वीससपओगमीससमंसायपविओग विविहगमो ॥२॥ वर्णपरिणामः पञ्चानां मतादीनां वर्णानां परिणतिस्तद्द्व्यादिसंयोगपरिणतिश्च, एतत्स्वरूपं च गाथाभ्योऽवसेयं, ताश्चेमा—जइ कालगमेगगुणं सुक्किलयंपि य हविज्ज बहुयगुणं। परिणामिज्जइ कालं सुक्केण गुणाहियगुणेणं ॥१॥ जइ सुक्किलमेगगुणं कालगदव्वं तु बहुगुणं जइ य। परिणामिज्जइ सुक्कं कालेण गुणाहियगुणेणं ॥२॥ जइ सुक्कं एक्कगुणं कालगदव्वंपि एक्कगुणमेव। कवोयं परिणामं तुल्लगुणत्तेण संभवइ ॥३॥ एव पंचवि वण्णा संजोएणं तु वण्णपरिणामो। एक्कवीसं भंगा सव्वेवि य ते मुणेयव्वा ॥४॥ एमेव य परिणामो गंधाण रसाण तह य फासाण। संठाणाण य भणिओ संजोगेण बहुविगप्पो ॥५॥ एकद्विकसंयोगा एवं पूर्यन्ते—दश द्विकसंयोगा दश त्रिकसंयोगाः पञ्च चतुष्कसंयोगा एकः पञ्चकसंयोग प्रत्येक भगाः पञ्चेति। अगुरुलघुपरिणामस्तु परमाणोरारभ्य यावदनन्तानन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूक्ष्माः, शब्दपरिणामस्ततविततघनशुषिरभेदाच्चतुर्धा, तथा ताल्वोष्ठपुटव्यापारादिनिर्वर्त्यश्च, अन्येऽपि च पुद्गलपरिणामाश्छायादयो भवन्ति, ते चामी—छाया य

ब. १ खण्डानां खण्डभेदः प्रतरभेदो यथाऽभ्रपटलस्य। चौर्णश्चूर्णितभेदोऽनुतटिका वंशवल्किका ॥१॥ २ दुन्दुभौ समारोहे भेदे उत्कीरिका चोत्कीर्णः। विस्रसाप्रयोगमिश्रसमुत्थवियोगतो विविधो गमः ॥२॥ ■ दुंदेत्ति पाठान्तरं मुद्रित इति चि पं० ॥ ३ यदि कालकमेकगुणं शुक्लमपि च भवेद् बहुकगुणम्। परिणम्यते कालकं शुक्लेन गुणाधिकगुणेन ॥१॥ ४ यदि शुक्लमेकगुणं कालकद्रव्यं तु बहुगुणं यदि च। परिणम्यते शुक्लं कालकेन गुणाधिकगुणेन ॥२॥ ५ यदि शुक्लमेकगुणं कालकद्रव्यमप्येकगुणमेव। कपोतः परिणामः तुल्यगुणत्वेन संभवति ॥३॥ ६ एवं पञ्चापि वर्णाः संयोगेन तु वर्णपरिणामः। एकविंशतिर्भङ्गाः सर्वेऽपि च ते ज्ञातव्याः ॥४॥ ७ एवमेव च परिणामो गन्धानां रसानां तथैव स्पर्शानाम्। संस्थानानां च भणितः संयोगेन बहुविकल्पः ॥५॥

-आयवो य उज्जोओ तहय अंधकारो य। एसो उ पुग्गलाणं, परिणामो फंदणा चेवं ॥१॥ सीया णाइपगासा छाया णोइच्चिया बहुवि-
गप्पा। उण्हो पुणप्पगासो णायव्वो आयवो नाम ॥२॥ नेवि सीओ नवि उण्हो समो पगासो य होइ उज्जोओ। कालं मइलं तमंपि य
वियाण तं अंधयारंति ॥३॥ दव्वस्स चलण पप्फंदणा उ सा पुण गई उ निदिट्ठा। वीससपओगमीसा अत्तपरेणं तु उभओवि ॥४॥
तथाऽभ्रेन्द्रधनुर्विद्युदादिषु कार्येषु यानि पुद्गलद्रव्याणि परिणतानि तद्विस्रसाकरणमिति ॥८॥ गतं द्रव्यकरणम्, इदानीं क्षेत्रकरणाभि-
धित्सयाऽऽह—

ण विणा आगासेणं कीरइ जं किंचि खेत्तमागासं। वंजणपरियावण्णं उच्छुकरणमादियं बहुहा ॥९॥

'क्षि निवासगत्योः' अस्मादधिकरणे ष्ट्रना क्षेत्रमिति, तच्चावगाहदानलक्षणमाकाशं, तेन चावगाहदानयोग्येन विना न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यत इत्यतः क्षेत्रे करणं क्षेत्रकरणं, नित्यत्वेऽपि चोपचारतः क्षेत्रस्यैव करणं क्षेत्रकरणं, यथा गृहादावपनीते कृतमाकाशमुत्पादिते विनष्टमिति, यदिवा 'व्यञ्जनपर्यायापन्नं' शब्दद्वाराऽऽयातम् 'इक्षुकरणादिक'मिति इक्षुक्षेत्रस्य करणम्—लाङ्गलादिना संस्कारः क्षेत्रकरणं, तच्च बहुधा—शालिक्षेत्रादिभेदादिति ॥९॥ साम्प्रतं कालकरणाभिधित्सयाऽऽह—

सा १-आतपो' द्योतस्तथैवान्धकारश्च च। एष एव पुद्गलाना परिणाम' स्पन्दन चैव ॥१॥ २ जाया आ इ। सा ३शीता नातिप्रकाशा छाया अनादित्यिका बहुविकल्पा। उष्ण पुन प्रकाशो ज्ञातव्य आतपो नाम ॥२॥ ४ णायच्चिया आ. इ.। सा. ५ नापि शीतो नाप्युष्ण सम प्रकाशो भवति द्योत। कालं मलिन तमोऽपि च विजानीहि तदन्धकार इति ॥३॥ ६ द्रव्यस्य चलनं प्रस्पन्दना तु पुनर्गतिस्तु निर्दिष्टा। विश्रसाप्रयोगमिश्रादात्मपराभ्यां तूभयतोऽपि ॥४॥ ७ °दादिषु ××× यानि इ। ८ उत्थ° आ. आ.। ९ °स्यैव करण ××× यथा आ.। सा. १० साहूहिं अच्छमाणेहिं गामो खेत्तीकओ चू०।

काले जो जावइओ ज कीरइ जंमि जंमि कालंमि। ओहेण णामओ पुण करणा एक्कारस हवंति ॥१०॥

कालस्यापि मुख्यं करणं न संभवतीत्यौपचारिकं दर्शयति—'कालो यो यावानिति' यः कश्चित् घटिकादिको नलिकादिना व्यवच्छिद्य व्यवस्थाप्यते, तद्यथा—षट्पुष्पकपलमाना घटिका द्विघटिको मुहूर्तस्त्रिंश न्मुहूर्तमहोरात्रमित्यादि, तत्कालकरणमिति, यद्वा—यत् यस्मिन् काले क्रियते यत्र वा काले करणं व्याख्यायते तत्कालकरणम्, एतदोघतः नामतस्त्वेकादश करणानि ॥१०॥ तानि चामूनि—

बव च बालवं चेव, कोलवं तेत्तिलं तहा। गराइ वणियं चेव, विट्ठी हवइ सत्तमा ॥११॥ सउणि चउप्पयं नागं किंसुग्घं च करणं भवे एय। ऐते चत्तारि धुवा अन्ने करणा चला सत्त ॥१२॥ चाउद्दसि रत्तीए सउणी पडिवज्जए सदा करणं। तत्तो अहक्कमं खलु चउप्पयं णाग किंसुग्घं ॥१३॥

ऐंदंपर्यं सुबोधमिति ॥११॥१२॥१३॥ इदानीं भावकरणप्रतिपादनायाऽऽह—

भावे पओगवीससा पओगसा मूल उत्तरे चेव। उत्तर कमसुयजोव्वण वण्णादी भोअणादीसु ॥१४॥

भावकरणमपि द्विधा—प्रयोगविस्रसाभेदात्, तत्र जीवाश्रितं प्रायोगिकं मूलकरणं पञ्चानां शरीराणां पर्याप्तिः, तानि हि पर्याप्ति

---

१ [illegible] अ आ. । २ [illegible] अ. आ. । ३ [illegible] अ. आ. । ४ भवंति अ आ. । ५ [illegible] । ६ [illegible] अ. आ. । ७ [illegible] । ८ [illegible] । ९ [illegible] अ. आ. । १० [illegible] अ आ । ११ [illegible] अ. आ. । १२ एए अ आ । १३ [illegible] । १४ [illegible] अ. आ । १५ [illegible] अ. आ. । ता. १६ [illegible] । १७ [illegible] अ. आ. । १८ [illegible] अ आ. । १९ [illegible] आ. ।

नामकर्मोदयादौदयिके भावे वर्तमानो जीवः स्ववीर्यजनितेन प्रयोगेण निष्पादयति। उत्तरकरणं तु गाथापश्चार्द्धेनाह—उत्तरकरणं क्रमश्रुतयौवनवर्णादिचतूरूपं, तत्र क्रमकरणं शरीरनिष्पत्त्युत्तरकालं बालयुवस्थ[1]विरादिक्रमेणोत्तरोत्तरोऽवस्थाविशेषः, श्रुतकरणं तु व्याकरणादिपरिज्ञानरूपोऽवस्था[2]विशेषोऽपरकलापरिज्ञानरूपश्चेति, यौवनकरणं कालकृतो वयोऽवस्थाविशेषो रसायनाद्यापादितो वेति, तथा वर्णगन्धरसस्पर्शकरणं विशिष्टेषु [3]भोजनादिषु सत्सु यद्विशिष्टवर्णाद्यापादनमिति, एतच्च पुद्गलविपाकित्वाद्वर्णादीनामजीवाश्रितमपि द्रष्टव्यमिति ॥१४॥ इदानीं [4]विस्रसाकरणाभिधित्सयाऽऽह—

[5]वण्णादिया य वण्णादिएसु जे केइ वीससामेला। ते हुंति थिरा अथिरा [6]छायातवदुद्धमाईसु ॥१५॥

'वर्णादिका' इति रूपरसगन्धस्पर्शाः ते यदाऽपरे[7]ष्वपरेषां वा स्वरूपादीनां मिलन्ति ते वर्णादिमेलका [8]विस्रसाकरणं, ते च मेलकाः स्थिरा—असंख्येयकालावस्थायिनः, अस्थिराश्च—क्षणावस्थायिनः—सन्ध्यारागाभ्रेन्द्रधनुरादयो भवन्ति, तथा छायात्वेनातपत्वेन च पुद्गलानां [9]विस्रसापरिणामत एव परिणामो भावकरणं दुग्धादेश्च स्तनप्रच्यवनानन्तरं प्रतिक्षणं [10]कठिनाम्लादिभावेन गमनमिति ॥१५॥ साम्प्रतं श्रुतज्ञानमधिकृत्य मूलकरणाभिधित्सयाऽऽह—

मूलकरणं पुण [11]सुते तिविहे जोगे सुभासुभे झाणे। ससमयसुएण पगयं अज्झवसाणेण य [12]सुहेणं ॥१६॥

'श्रुते' पुनः श्रुतग्रन्थे मूलकरणमिदं [13]'त्रिविधे योगे' मनोवाक्कायलक्षणे व्यापारे शुभाशुभे च ध्याने वर्तमानैर्ग्रन्थरचना क्रियते,

१ स्थविरादिक आ इ। २ विशेष॰ अपर॰ आ. इ.। ३ भोगादिषु आ.। ४ विश्रसा आ.। ५ वण्णाईया य वण्णाइएसु अ. आ। ६ छायायवदुद्धमाईसु अ. आ। ७ परेषु परेषा आ.। ८ विश्रसा॰ आ. इ। ९ विश्रसा॰ आ.। १० कठिना॰ आ. इ.। ११ सुए अ. आ। १२ सुभेणं अ. आ.। १३ त्रिविध आ. इ।

तत्र लोकोत्तरे शुभध्यानावस्थितैर्ग्रन्थरचना विधीयते, लोके त्वशुभध्यानाधिष्ठितैर्ग्रन्थप्रणयनं क्रियत इति, लौकिकग्रन्थस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् कर्तुरशुभध्यायित्वमवसेयम्, इह तु यत्कृतस्य सावद्यत्वसमेयत्वेन शुभाध्यवसायेन च प्रकृत, यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदमङ्गं कृतमिति ॥१६॥ तेषां च ग्रन्थरचनां प्रति शुभध्यायिनां कर्मद्वारेण योऽध्यवसायविशेषस्तं दर्शयितुकामो निर्युक्तिकृदाह—

ठिइअणुभावे बंधणनिकायणनिहत्तदीहह्रस्सेसु । संकमउदीरणाए उदए वेदे उवसमे य ॥१७॥

तत्र कर्मस्थितिं प्रति अजघन्योत्कृष्टकर्मस्थितिभिर्गणधरैः सूत्रमिदं कृतमिति, तथाऽनुभावो—विपाकस्तदपेक्षया मन्दानुभावैः, तथा च बन्धमङ्गीकृत्य ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीर्मन्दानुभावा बध्नद्भिः तथाऽनिकाचयद्भिरेव निधत्तावस्थामकुर्वद्भिः तथा दीर्घस्थितिकाः कर्मप्रकृतीर्ह्रस्वीकुर्वद्भिः, तथोत्तरप्रकृतीर्बध्यमानासु संक्रामयद्भिः, तथोदयवतां कर्मणामुदीरणां विदधानैरप्रमत्तगुणस्थैस्तु सातासाते अनुदीरयद्भिः, तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गादिकर्मणामुदये वर्तमानैः, तथा वेदमङ्गीकृत्य पुंवेदे सति, तथा 'उवसमे'त्ति वचनात्सूत्रमिति क्षायोपशमिके भावे वर्तमानैर्गणधारिभिरिदं सूत्रकृताङ्गं रच्यमिति ॥१७॥ साम्प्रतं स्वमनीषि-कापरिहारद्वारेण ग्रन्थप्रक्रमभिधातुकाम आह—

सोऊण जिणवरमतं गणहारी काउ तक्खओवसमं । अज्झवसाणेण कयं सुत्तमिणं तेण सूयगडं ॥१८॥

---

१ ठिइअणुभा मा. ६। सा. २ वमसेन प्र । ३ रामपक्षेणेति पाठे योगप्रवृत्यपेक्षया अन्यथा स्वसमयप्रवृत्त्यपेक्षः, शुभध्यानमशुभध्यानोऽशुभध्यान । ४ बंधणनिकायणनिहत्त मा. ६। सा. ५ 'रित्यपोह्य इति प्र । ६ भावे सा. । ७ बंधणनिकायणनिहत्तदीहह्रस्सेसु सा. बंधणनिकायणनिहत्तदीहह्रस्सेसु मा. । ८ पेर स सा. । ९ मनं म. सा. । १ उवसमे म आ. । ११ सूतगडं मा. ।

'श्रुत्वा' निशम्य जिनवराणां—तीर्थकराणां मतम्—अभिप्रायं मातृकादिपदं 'गणधरैः' गौतमादिभिः कृत्वा 'तत्र' ग्रन्थरचने क्षयोपशमं, तत्प्रतिबन्धककर्मक्षयोपशमाद्दत्तावधानैरितिभावः, शुभाध्यवसायेन च सता कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥१८॥ इदानीं कस्मिन् योगे वर्तमानैस्तीर्थकृद्भिर्भाषितं ? कुत्र वा गणधरैर्द्दब्धमित्येतदाह—

वइजोगेण पभासियमणेगजोगंधराण साहूणं । तो वयजोगेण कयं जीवस्स सभावियगुणेण ॥१९॥

तत्र 'तीर्थकृद्भिः' क्षायिकज्ञानवर्तिभिर्वाग्योगेनार्थः प्रकर्षेण भाषितः प्रभाषितो गणधराणां, ते च न प्राकृतपुरुषकल्पाः किं त्वनेकयोगधराः, तत्र योगः—क्षीराश्रवादिलब्धिकलापसंबन्धस्तं धारयन्तीत्यनेकयोगधरास्तेषां, प्रभाषितमिति सूत्रकृताङ्गापेक्षया नपुंसकता, साधवश्चात्र गणधरा एव गृह्यन्ते, तदुद्देशेनैव भगवतामर्थप्रभाषणादिति, ततोऽर्थं निशम्य गणधरैरपि वाग्योगेनैव कृतं, तच्च जीवस्य 'स्वाभाविकेन गुणेनेति' स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः प्राकृत इत्यर्थः, प्राकृतभाषयेत्युक्तं भवति, न पुनः संस्कृतया लैट्लिट्शप्प्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्नयेति ॥१९॥ पुनरन्यथा सूत्रकृतनिरुक्तमाह—

अक्खरगुणमतिसंघायणाए कम्मपरिसाडणाए य । तदुभयजोगेण कयं सुत्तमिणं तेण सूत्तगडं ॥२०॥

अक्षराणि—अकारादीनि तेषां गुणः—अनन्तगमपर्यायवत्त्वमुच्चारणं वा, अन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्, मतेः—मतिज्ञानस्य संघटना मतिसंघटना, अक्षरगुणेन मतिसंघटना अक्षरगुणमतिसंघटना, भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतेन प्रकाशनमित्यर्थः, अक्षरगुणस्य वा

१ तीर्थकृतां आ. इ. । २ मातृकपदादिकं आ इ. । सा. मातृकपदादिकं प्र० । ३ वइ° अ. आ. । ४ सवधस्तान् आ. । ५ लट्लिट्ण° आ. लट्लडशब० इ. । ६ °महजोगणाद° आ. । ७ °पडिसाडणाए य अ. आ । ८ सूयगड अ. । ९ अक्षण्यक्खरा° आ. इ. ।

मत्या–बुद्ध्या संघटना रचनेतियावत् तयाऽक्षरगुणमतिसंघटनया, तथा कर्मणां–ज्ञानावरणादीनां परिशाटना–जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणं तया च हेतुभूतया, सूत्रकृतमिति कृतमिति संबन्धः, तथाहि–यथा यथा गणधराः सूत्रकरणायोद्यमं कुर्वन्ति तथा तथा कर्मपरिशाटना भवति, यथा यथा च कर्मपरिशाटना तथा तथा ग्रन्थरचनायोद्यम संपद्यत इति, एतदेव गाथापश्चार्धेन दर्शयति–'तदुभययोगेन' अक्षरगुणमतिसंघटनायोगेन कर्मपरिशाटनायोगेन च, यदिवा वाग्योगेन मनोयोगेन च कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥२०॥ सूत्रकृतानन्तरं सूत्रकृतस्य निरुक्तमुक्तम्, अधुना सूत्रपदस्य निरुक्ताभिधित्सयाऽऽह—

सुत्तेण सुत्तिया च्चिय अत्था तह सूइया य जुत्ता य। तो बहुविहप्पउत्ता एय पसिद्धा अणादीया ॥२१॥

अयमस्य गाथार्थः 'तेन सूत्रेण केचिदर्थाः साक्षात्सूत्रिता–मुख्यतयोपात्ता', तथाऽपरे सूचिता–अर्थापत्त्याक्षिप्ताः साक्षादनुपात्ता अपि दध्यानयनचोदनया तदाधारानयनचोदनावदिति, एवं च कृत्वा चतुर्दशपूर्वविदः परस्परं षट्स्थानपतिता भवन्ति, तथा चोक्तम्–"अक्खरलंभेण समा ऊणहिया "हुति मतिविसेसेहिं। तेऽविय मईविसेसा सुयणाणऽब्भंतरे जाण ॥१॥" तत्र ये साक्षादुपात्तास्तान् प्रति सर्वेऽपि तुल्याः, ये पुनः सूचितास्तदपेक्षया कश्चिदनन्तभागाधिकमर्थं वेत्त्यपरोऽसंख्येयभागाधिकमन्यः संख्येयभागाधिकं तथाऽन्यः संख्यातसंख्येयगानन्तगुणमिति, ते च सर्वेऽपि 'युक्ता' युक्त्युपपन्ना' सूत्रोपात्ता एव वेदितव्याः, तथा चाभिहितम्–'तेऽविय मईविसेसे"

1 रचना आ. । 2 सूत्त तिर° अ. आ. । ता 3 प्रोक्तः । 4 पुब्वमाया । 5 बहुविहे पउत्तापमाण सिया संपदेव अ आ. । 6 वक्ष्यमाणेन चक्र... 7 सूत्र्यार्थ ... अ आ. । 8 तेण य सूत्रेण आ इ. । 9 एवं कृत्वा इ । 10 अक्खरलंभेण समा ऊणाहिया भवन्ति ... । 11 होति आ. इ. ।

इत्यादि, ननु किं सूत्रोपात्तेभ्योऽन्येऽपि केचनार्थाः सन्ति ? येन तदपेक्षया चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानपतितत्वमुद्घुष्यते[1], बाढं विद्यन्ते, यतोऽभिहितम्—"पण्णवणिज्जा[2] भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं। पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुयनिबद्धो[3] ॥१॥" यतश्चैवं ततस्ते अर्था आगमे बहुविधं प्रयुक्ताः—सूत्रैरुपात्ताः केचन साक्षात्केचिदर्थापत्त्या समुपलभ्यन्ते, यदिवा क्वचिद्देशग्रहणं क्वचित्सर्वार्थोपादानमित्यादि, यैश्च पदैस्ते अर्थाः प्रतिपाद्यन्ते तानि पदानि[4] प्रकर्षेण सिद्धानि प्रसिद्धानि न साधनीयानि, तथाऽनादीनि च तानि नेदानीमुत्पाद्यानि, तथा चेयं द्वादशाङ्गी शब्दार्थरचनाद्वारेण विदेहेषु नित्या, भरतैरावतेष्वपि शब्दरचनाद्वारेणैव प्रति तीर्थकरं क्रियते अन्यथा तु नित्यैव। एतेन च 'उच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णा' इत्येतन्निराकृतं वेदितव्यमिति ॥२१॥ साम्प्रतं सूत्रकृतस्य श्रुतस्कन्धाध्ययनादिनिरूपणार्थमाह—

दो चेव सुयक्खंधा अज्झयणाइं च हुंति[5] तेवीसं। तेत्तिंसुदेसणकाला[6] आयाराओ[7] दुगुणमंगं[8] ॥२२॥

द्वावत्र श्रुतस्कन्धौ, त्रयोविंशतिरध्ययनानि, त्रयस्त्रिंशदुद्देशनकालाः, ते चैवं भवन्ति—प्रथमाध्ययने चत्वारो, द्वितीये त्रयस्तृतीये चत्वारः, एवं चतुर्थपञ्चमयोर्द्वौ द्वौ, तथैकादशस्वेकसरकेष्वेकादशैवेति प्रथमश्रुतस्कन्धे; तथा द्वितीयश्रुतस्कन्धे सप्ताध्ययनानि तेषां सप्तैवोद्देशनकालाः, एवमेते सर्वेऽपि त्रयस्त्रिंशदिति। एतच्चाचाराङ्गाद्द्विगुणमङ्गं—षट्त्रिंशत्पदसहस्रपरिमाणमित्यर्थः ॥२२॥ साम्प्रतं सूत्रकृताङ्गनिक्षेपानन्तरं प्रथमश्रुतस्कन्धस्य नामनिष्पन्ननिक्षेपाभिधित्सयाऽऽह—

१ °सुदुष्यते आ.। सा. २ प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभाग एवानभिलाप्यानाम्। प्रज्ञापनीयाना पुनरनन्तभाग श्रुतनिबद्धः ॥१॥ ३ सुअणिबद्धो आ.। ४ पदानि XXXX सिद्धानि आ इ.। ५ होंति अ आ.। ६ तेत्तिस उद्देसा XXX आया० अ. आ.। ७ °उ अ. आ.। ८ °मग अ. °सगं आ.।

निक्खेवो गाहाए चउव्विहो छव्विहो य सोलसस्सु। निक्खेवो ये सुयम्मि य खंधे य चउव्विहो होइ ॥२३॥

गाथाषोडशकस्कन्धस्य गाथाषोडशक इति नाम, गाथाख्यं षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथेति, तत्र गाथाया नामस्थापनाद्रव्यभावरूपश्चतुर्विधो निक्षेपः, नामस्थापने प्रसिद्धे, द्रव्यगाथा द्विधा—आगमतो नोआगमतश्च, तत्र आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः 'अनुपयोगो द्रव्य'मितिकृत्वा, नोआगमतस्तु त्रिधा—ज्ञशरीरद्रव्यगाथा भव्यशरीरद्रव्यगाथा ताभ्यां विनिर्मुक्ता च—"सव्वह्लुवरूवे विसमे य मे इया नाण छट्ठ जह उन्नया। गाहाए पच्छद्ध भेओ छट्ठोवि इक्कलो ॥१॥" इत्यादिलक्षणलक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति, भावगाथापि द्विविधा—आगमनोआगमभेदात्, तत्राऽऽगमतो गाथापदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, नोआगमतस्त्विदमेव गाथाख्यमध्ययनम्, आगमैकदेशत्वादस्य। षोडशकस्यापि नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषोडशकं ज्ञशरीरभव्यशरीरनिर्मुक्तं सचित्तादीनि षोडश द्रव्याणि, क्षेत्रषोडशकं षोडशाकाशप्रदेशाः, कालषोडशकं षोडश समयाः एतत्कालावस्थायि वा द्रव्यमिति, भावषोडशकमिदमेवाध्ययनषोडशकं, क्षायोपशमिकभाववर्तित्वादिति। श्रुतस्कन्धयोः प्रत्येकं चतुर्विधो निक्षेपः, स चान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपादित इति नेह प्रतन्यते ॥२३॥ साम्प्रतमध्ययनानां प्रत्येकमर्थाधिकारं दिदर्शयिषयाऽऽह—

ससमयपरसमयपरूवणा य णाऊण बुज्झणा चेव। संबुद्धस्सुवसग्गा थीदोसविवज्जणा चेव ॥२४॥

---

१ ग्रु च०। २ ज्ञ० च०। ३ श्री च० म०। म० ४ सा तस्सा (चतुर्मात्रा गणः) मज्झा (गुरु) विसमे न (जगण) तस्स्याषाढवस्स्तणो रो रुद्धे (कर्णे) च्चे य। पच्छद्ध छट्ठो भेओ पय एकलो इति ॥१॥ ५ शुष्ज० म०। ६ मेरो य म०। ७ षोडशप्रेमप्रदेशाः म०। ८ एत-त्रिसमय० म०। ९ तु म०। १ च च म०।

उवसग्गभीरुणो[1] थीवसस्स णरएसु[2] होज्ज उववाओ। एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाह[6] ॥२५॥
परिचत्त[3]निसीलकुसीलसुसीलसविग्ग सीलवं चेव। णाऊण[4] वीरियदुगं पंडियवीरिए[5] पयट्टेइ (पयट्टिज्जा) ॥
धम्मो समाहि[6] मग्गो[7] समोसढा चउसु[8] सव्ववादीसु[9]। सीसगुणदोसकहणा[10] गंथंमि सदा गुरुनिवासो[11] ॥२७॥
आदाणिय संकलिया आदाणीयंमि[10] आययचरित्तं[11]। अप्पगंथे पिंडियवयणेणं[12] होइ अहिगारो ॥२८॥

तत्र प्रथमाध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणा, द्वितीये स्वसमयगुणान् परसमयदोषांश्च ज्ञात्वा स्वसमय एव बोधो विधेय इति, तृतीयाध्ययने तु संबुद्धः सन् यथोपसर्गसहिष्णुर्भवति तदभिधीयते, चतुर्थे स्त्रीदोषविवर्जना, पञ्चमे त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा—उपसर्गासहिष्णोः[13] स्त्रीवशवर्तिनोऽवश्यं नरकेषूपपात इति, षष्ठे पुनः 'एवमिति' अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहनेन स्त्रीदोषवर्जनेन च भगवान् महावीरो जेतव्यस्य कर्मणः संसारस्य वा पराभवेन जयमाह ततस्तथैव यत्नं विधत्त यूयमिति शिष्याणामुपदेशो दीयते, सप्तमे त्विदमभिहितं, तद्यथा—निःशीला—गृहस्थाः कुशीलास्तु[14]—अन्यतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा ते परित्यक्ता येन साधुना स परित्यक्तानिःशीलकुशील इति, तथा सुशीला—उद्युक्तविहारिणः संविग्नाः[15]—संवेगमग्नास्तत्सेवाशीलः शीलवान् भवतीति, अष्टमे त्वेतत्प्रतिपाद्यते, तद्यथा—ज्ञात्वा वीर्यद्वयं पण्डितवीर्ये प्रयत्नो विधीयत इति, नवमे[16] अर्थाधिकारस्त्वयं, तद्यथा—यथाऽवस्थितो धर्मः कथ्यते, दशमे तु समाधिः प्रतिपाद्यते, एका-

१ नरगेसु अ आ.। २ °उ। ३ निस्सीलकुसीलजढोसुसीलसेवीयसी° अ आ.। ४ ना° अ. आ। ५ विरिए य जइयव्व अ.। ६ ससमाहिं अ.। ७ °ईसु अ. आ। ८ °यम्मि आ। ९ °या अ आ। १० आयणीज्जमि अ आ। ११ °य° अ. आ। १२ °ण गाहाएहो° अ आ। सा. १३ स्त्रीवशगस्य प्र०। स्त्रीवशगस्य आ. इ। १४ कुशीलास्तीर्थिकाः आ। १५ संविग्नास्तान् स च शीलवान् भवतीति आ. संविग्नास्तत्सेवाशीलः शीलवान् भवतीति इ.। १६ नवमे चार्थाधिकार इ.।

दशे तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः कथ्यते, द्वादशे त्वयमर्थाधिकारः तद्यथा—'समवसृता' अवतीर्णा व्यवस्थिताश्चतुर्षु मतेषु क्रियाऽक्रियाऽज्ञानवैनयिकाख्येष्वभिप्रायेषु त्रिषष्ट्युत्तरशतत्रयसंख्याः पापण्डिनः स्वीयं स्वीयमर्थं प्रसाधयन्तः समुत्थितास्तदुपन्यस्तसाधनदोषोद्भावनतो निराक्रियन्ते, त्रयोदशे त्विदमभिहितं, तद्यथा—सर्वेष्वपि कपिलकणादाक्षपादशौद्धोदनिजैमिनिप्रभृतिमता नुसारिषु कुमार्गप्रणेतृत्वं ख्याप्यते, चतुर्दशे तु ग्रन्थाख्येऽध्ययनेऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा—शिष्याणां गुणदोषकथना, तथा शिष्यगुणसम्पदुपेतेन च विनेयेन नित्यं गुरुकुलवासो विधेय इति, पञ्चदशे त्वादानीयाख्येऽध्ययनेऽर्थाधिकारोऽयं, तद्यथा—आदीयन्ते—गृह्यन्ते उपादीयन्ते इत्यादानीयानि—पदान्यर्था वा ते च प्रागुपन्यस्तपदैरर्थैश्च प्रायशोऽत्र संकलिता, तथा आयतं चरित्र—सम्यक्चरित्रं मोक्षमार्गप्रसाधकं तदत्र व्यावर्ण्यत इति, षोडशे तु गाथाख्येऽल्पग्रन्थेऽध्ययनेऽयमर्थो व्यावर्ण्यते, तद्यथा—पञ्चदशभिरध्ययनैर्योऽर्थोऽभिहितः सोऽत्र 'पिण्डितवचनेन' संक्षिप्ताभिधानेन प्रतिपाद्यत इति ॥२८॥ "गाहासोलसगाणं पिंडत्थो वण्णिओ समासेण। इत्तो इक्किक्कं पुण अज्झयणं कित्तयिस्सामि ॥१॥" तत्राद्यमध्ययनं समयाख्यं, तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमणमुपक्रम्यते वाऽनेन शास्त्रं न्यासदेशं—निक्षेपावसरमानीयत इत्युपक्रमः, स च लौकिको नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदेन षड्रूप आवश्यकादिष्वेव प्रपञ्चितः, शास्त्रीयोऽप्यानुपूर्वीनामप्रमाणवक्तव्यताऽर्थाधिकारसमवताररूपः षोढैव, तत्रानुपूर्व्यादीन्यनुयोगद्वारानुसारेण यथासम्भवं ताववधार्याणि समवतारः, तत्रैतदध्ययनमानुपूर्व्यादिषु यत्र यत्र समवसरति तत्र तत्र समवतारयितव्यं, तत्र दशविधायामानुपूर्व्यां

खं. १ पुण्डरीक० प्र । २ गाथाषोडशकानां पिण्डार्थो वर्णितः (समुदायार्थः) समासेन। इत एकैकं पुनरध्ययनं कीर्तयिष्यामि ॥१॥ ३ कथिता खं. द. ४ एवं खं. । ५ एतेन खं. द. । ६ कित्तइस्सामि खं. द. । खं. ७ चर्चितः । ८ शेषाणि खं. द. । ९ यथावसराधिकृतं खं. द. ।

गणनानुपूर्व्यां समवतरति, सापि त्रिधा–पूर्वानुपूर्वी पश्चानुपूर्वी अनानुपूर्वी चेति, तत्रेदमध्ययनं पूर्वानुपूर्व्यां प्रथमं, पश्चानुपूर्व्यां षोडशम्, अनानुपूर्व्यां तु चिन्त्यमानमस्यामेवैकादिकायामेकोत्तरिकायां षोडशगच्छगतायां श्रेण्यामन्योऽन्याभ्यासाद्विरूपोनसंख्याभेदं भवति। अनानुपूर्व्यां[1] तु भेदसंख्यापरिज्ञानोपायोऽयं, तद्यथा–"एकाद्या गच्छपर्यन्ताः, परस्परसमाहताः। राशयस्तद्धि विज्ञेयं, विकल्पगणिते फलम् ॥१॥" प्रस्तारानयनोपायस्त्वयम्–"पुव्वाणुपुव्वि हेट्ठा समयाभेएण कुण जहाजेट्ठं। उवरिमतुल्लं-पुरओ नसेज्ज पुव्वक्कमो सेसे ॥१॥" तत्र[3]–"गणितेऽन्त्यविभक्ते तु, लब्धं शेषैर्विभाजयेत्। आदावन्ते च तत् स्थाप्यं, विकल्पगणिते क्रमात् ॥१॥" अयं श्लोकः शिष्यहितार्थं विव्रियते–तत्र सुखावगमार्थं षट् पदानि समाश्रित्य तावत् श्लोकार्थो योज्यते, तत्रैवं[4] १२३४५६ षट् पदानि स्थाप्यानि, एतेषां परस्परताडनेन सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि गणितमुच्यते, तस्मिन् गणितेऽन्त्योऽत्र षट्कः तेन भागे हृते विंशत्युत्तरं शतं लभ्यते, तच्च षण्णां पङ्क्तीनामन्त्यपङ्क्तौ षट्कानां न्यस्यते, तदधः पञ्चकानां विंशत्युत्तरमेव शतम्, एवमधोऽधश्चतुष्कत्रिकद्विकैककानां प्रत्येकं विंशत्युत्तरशतं न्यस्यम्, एवमन्त्यपङ्क्तौ सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियाया आदिरुच्यते, तथा यच्चद्विंशत्युत्तरं शतं लब्धं, तस्य च पुनः शेषेण पञ्चकेन भागेऽपहृते लब्धा चतुर्विंशतिः, तावन्तस्तावन्तश्च पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैककाः प्रत्येकं पञ्चमपङ्क्तौ न्यस्याः यावद्विंशत्युत्तरं शतमिति, तदधोऽग्रतो न्यस्तमङ्कं मुक्त्वा येऽन्ये तेषां यो यो महत्संख्यः स सोऽधस्ताच्चतुर्विंशतिसंख्य एव तावत् न्यस्यो यावत्सप्त शतानि विंशत्युत्तराणि पञ्चमपङ्क्तावपि पूर्णानि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियैवान्त्योऽभिधीयते, एवमनया प्रक्रियया चतु-

१ °न्व्यास्तु आ इ। २ °हेट्ठा इत्यादि पदानि न सन्तीति आ इ। ३ तथा गणिते° आ. इ.। ४ तत्रैवं पदानि स्थाप्यानि १२३४५६ आ. इ। °कियैवात्याभिधीयते आ. क्रियैवांत्याऽभिधीयते इ।

विभक्ते शेषचतुष्ककेन भागे हृते षट् लभ्यन्ते, तावन्तश्चतुर्थपङ्क्तौ चतुष्ककाः स्थाप्याः, तदधः षट् त्रिकाः, पुनर्द्विका भूय एकका, पुनः पूर्वन्यायेन पङ्क्तिः पूरणीया, पुनः षट्कस्य शेषत्रिकेण भागे हृते द्वौ लभ्येते, तावन्मात्रौ त्रिकौ तृतीयपङ्क्तौ, शेषं पूर्ववत्, शेषपङ्क्तिद्वये क्रमोत्क्रमाभ्यां न्यसनीयमिति [1]१२३४, २१३४, १३२४, ३१२४, २३१४, ३२१४, १२४३, २१४३, १४२३, ४१२३, २४१३, ४२१३, १३४२, ३१४२, १४३२, ४१३२, ३४१२, ४३१२, २३४१, ३२४१, २४३१, ४२३१, ३४२१, ४३२१। तथा नाम्नि पङ्क्तिनाम्न्यवतरति, यतस्तत्र षड् भावाः प्ररूप्यन्ते, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकभाववर्तित्वात्। प्रमाणमधुना—प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, तद् द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा, तत्रास्याध्ययनस्य क्षायोपशमिकभावव्यवस्थितत्वाद्भावप्रमाणेऽवतारः, भावप्रमाणं च गुणनयसंख्याभेदात्त्रिधा, तत्रापि गुणप्रमाणे समवतारः, तदपि जीवाजीवभेदाद् द्विधा, समयाध्ययनस्य च क्षायोपशमिकभावरूपत्वात् तस्य च जीवानन्यत्वाज्जीवगुणप्रमाणे समवतारः, जीवगुणप्रमाणमपि ज्ञानदर्शनचारित्रभेदात्त्रिविधं, तत्रास्य बोधरूपत्वात् ज्ञानगुणप्रमाणे समवतारः, तदपि प्रत्यक्षानुमानोपमानागमभेदाच्चतुर्धा, तत्रास्यागमप्रमाणे समवतारः, सोऽपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विधा, तदस्य लोकोत्तरे समवतारः, तस्य च सूत्रार्थतदुभयरूपत्वात्त्रैविध्यं, (अस्य त्रिरूपत्वात्) त्रिष्वपि समवतारः, यदि वा—आत्मानन्तरपरम्परभेदादागमस्त्रिविधः, तत्र तीर्थकृतामर्थापेक्षयाऽऽत्मागमो गणधराणामनन्तरागमस्तच्छिष्याणां परम्परागमः, सूत्रापेक्षया तु गणधराणामात्मागमस्तच्छिष्याणामनन्तरागमस्तदन्येषां परम्परागमः, गुणप्रमाणानन्तरं नयप्रमाणावसरः, तस्य चेदानीं पृथक्त्वानु-

[1] दशवै० अ० १। २ [illegible] । [illegible] दशवै० अ० ६ । १ [illegible] । [illegible] ४ [illegible]

योगे नास्ति समवतारो, भवेद्वा पुरुषापेक्षया, तथा चोक्तम्–"मूढनइयं सुयं[2] कालियं तु ण णया समोयरंति[3] इहं। अपुहुत्ते समोयारो णत्थि पुहुत्ते[4] समोयारो ॥१॥" तथा "आसज्ज[5] उ सोयारं[6] नए नयविसारउ बूया," संख्याप्रमाणं त्वष्टधा–नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालपरिमाणपर्यवभावभेदात्, तत्रापि परिमाणसंख्यायां समवतारः, सापि कालिकदृष्टिवादभेदात् द्विधा, तत्रास्य कालिकपरिमाणसंख्यायां समवतारः, तत्राप्यङ्गानङ्गयोरङ्गप्रविष्टे समवतारः, पर्यवसंख्यायां त्वनन्ताः[7] पर्यवाः, तथा संख्येयान्यक्षराणि, संख्येयाः संघाताः, संख्येयानि पदानि, संख्येयाः पादाः, संख्येयाः श्लोकाः, संख्येया गाथाः, संख्येया वेढाः, संख्येयान्यनुयोगद्वाराणि। साम्प्रतं वक्तव्यतायाः समवतारश्चिन्त्यते–सा च स्वपरसमयतदुभयभेदात्त्रिधा, तत्रेदमध्ययनं त्रिविधायामपि समवतरति। अर्थाधिकारो द्वेधा–अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारोऽभिहितः, उद्देशार्थाधिकारं तु गाथान्तरितं निर्युक्तिकृद्वक्ष्यति। साम्प्रतं निक्षेपावसरः, स च त्रिधा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च, तत्रौघनिष्पन्नेऽध्ययनं, तस्य च निक्षेप आवश्यकादौ प्रबन्धेनाभिहित एव, नामनिष्पन्ने तु समय इति नाम, तन्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकार आह–

नामं ठवणा दविए खेत्ते काले कुतित्थसंगारे। कुलगणसंकरगंडी बोद्धव्वो[8] भावसमए य ॥२९॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालकुतीर्थसंगारकुलगणसंकरगण्डीभावभेदात् द्वादशधा समयनिक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यसमयो

सा १ मूढनयिक (नयशून्य) श्रुत कालिक तु न नया समवतरन्तीह। अपृथक्त्वे समवतारो नास्ति पृथक्त्वे समवतार. ॥१॥ २ सूय इ। ३ समोयरति आ. इ। ४ °पुहुत्थो आ.। ५ आसाद्य तु श्रोतारं नयान् नयविशारदो ब्रूयात् ॥ ६ सोतार णए णय° आ। ७ × अनता. पर्याया आ। ८ बोधव्वे आ।

द्रव्यस्य सम्यगयनं—परिणतिविशेषः—स्वभाव इत्यर्थः, तद्यथा—जीवद्रव्यस्योपयोगः पुद्गलद्रव्यस्य मूर्त्तत्वं धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहदानलक्षणं, अथवा यो यस्य द्रव्यस्यावसरो—द्रव्यस्योपयोगकाल इति, तद्यथा—"वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसो घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते ॥१॥" क्षेत्रसमयः—क्षेत्रम्—आकाशं, तस्य समयः—स्वभावः, यथा "एगेणवि से पुण्णे दोहिवि पुण्णे सयंपि माएज्जा। लक्खसएणवि पुण्णे कोडिसहस्संपि माएज्जा ॥१॥" यद्वा देवकुरुप्रभृतीनां क्षेत्राणामीदृशोऽनुभावो यदुत तत्र प्राणिनः सुरूपा नित्यसुखिनो निर्वैराश्च भवन्तीति, क्षेत्रस्य वा परिकर्मणावसरः क्षेत्रसमय इति, कालसमयस्तु सुषमादेरनुभावविशेषः, उत्पलपत्रशतभेदाभिव्यङ्ग्यो वा कालविशेषः कालसमय इति, अत्र च द्रव्यक्षेत्रकालप्राधान्यविवक्षया द्रव्यक्षेत्रकालसमयता द्रष्टव्येति, तीर्थसमयः पाखण्डिकानामात्मीयात्मीय आगमविशेषः तदुक्तं वाऽनुष्ठानमिति, संगारः—संकेतस्तद्रूपः समयः संगारसमयः, यथा सिद्धार्थेन संसाराद्विभेदेन पूर्वकृतसंगारानुसारेण गृहीतपरिव्रज्यो बलदेवः प्रतिबोधित इति, कुलसमयः—कुलाचारो यथा शकानां पितृशुद्धिः आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः, गणसमयो यथा मल्लानामयमाचारो—यथा यो ह्यनाथो मल्लो म्रियते स तैः संस्क्रियते, पतितश्चोद्ध्रियत इति, सङ्करसमयस्तु सङ्करो—भिन्नजातीयानां मीलकस्तेन च समयः—एकवाक्यता, यथा वाममार्गादावनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति, गण्ठीसमयो—यथा शाक्यानां भोजनावसरे गण्डीताडनमिति, भावसमयस्तु नोआगमत इदमेवाध्ययनम्, अनेनैवात्राधिकारः, शेषाणां तु शिष्यमतिविकासार्थमुपन्यास इति ॥२९॥ साम्प्रतं प्रागुपन्यस्तोऽर्थाधिकाराभिधित्सयाऽऽह—

म १ एगओ मवते सुर्वत्तं ... सितो तिसो ... ... २ यथा ... । ... १ एगेणवि ... ... ।
... । ... पूर्ण। कोडिसहस्समपि मायत ॥१॥ ४ पुण्णे ... । ५ ... xxx पी ... । ६ ... ... ।

महपंचभूय एकप्पए य तज्जीवतस्सरीरे य । तहय अगारगवाती अत्तच्छट्ठो अफलवादी ॥३०॥
बीएनियईवाओ अण्णाणिय तहय नाणवाईओ । कम्मं चयं न गच्छइ चउव्विहं भिक्खुसमयंमि ॥३१॥[3]
तइए आहाकम्मं कडवाई जह य ते य वाईओ । किच्चुवमा य चउत्थे परप्पवाई अविरएसु ॥३२॥

अस्याध्ययनस्य चत्वार उद्देशकाः, तत्राद्यस्य षडर्थाधिकारा आद्यगाथयाऽभिहिताः, तद्यथा पञ्च भूतानि–पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यानि महान्ति च तानि सर्वलोकव्यापित्वात् भूतानि च महाभूतानि इत्ययमेकोऽर्थाधिकारः । तथा चेतनाचेतनं सर्वमेवात्मविवर्त इत्यात्माऽद्वैतवादः प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारो द्वितीयः । स चासौ जीवश्च तज्जीवः–कायाकारो भूतपरिणामः, तदेव च शरीरं जीवशरीरयोरैक्यमितियावदिति तृतीयोऽर्थाधिकारः । तथाऽकारको जीवः सर्वस्याः पुण्यपापक्रियाया इत्येवंवादीति चतुर्थोऽधिकारः । तथाऽऽत्मा षष्ठ इति पञ्चानां भूतानामात्मा षष्ठः प्रतिपाद्यत इत्ययं पञ्चमोऽर्थाधिकारः । तथाऽफलवादीति न विद्यते कस्याश्चित् क्रियायाः फलमित्येवंवादी च प्रतिपाद्यत इति षष्ठोऽर्थाधिकार इति । द्वितीयोद्देशके चत्वारोऽर्थाधिकाराः, तद्यथा–नियतिवादस्तथाऽज्ञानिकमतं ज्ञानवादी च प्रतिपाद्यते, कर्म चयम्–उपचयं चतुर्विधमपि न गच्छति 'भिक्षुसमये' शाक्यागमे इति चतुर्थोऽर्थाधिकारः । चातुर्विध्यं तु कर्मणोऽविज्ञोपचितम्–अविज्ञानमविज्ञा तयोपचितम् अनाभोगकृतमित्यर्थः, यथा मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रव्यापत्तावप्यनाभोगान्न कर्मोपचीयते, तथा परिज्ञानं परिज्ञा–केवलेन मनसा पर्यालोचनं, तेनापि कस्यचित्प्राणिनो व्यापादनाभावात् कर्मोपचयाभाव इति, तथा

१ अकारयवादी अ आ । २ आयछट्ठो अ आ । ३ ॥३४॥ अ. आ । ४ ॥३५॥ अ आ । ५ इति द्वितीयोऽर्थाधिकार आ इ. । ६ चतुर्थोऽर्थाधिकार आ इ. । ७ द्वितीये तूद्देशके आ. इ । ८ कर्म च चयमुपचय इ. । ९ चतुर्थोधिकार आ । १० कर्मण अविज्ञोप आ. कर्मण. अविज्ञोप. इ. । ११ कर्मोपचीयत इति आ. ।

रणमाणा–गमनं तेन जनितमीर्याप्रत्ययं तदपि कर्मोपचयं न गच्छति, प्राणिव्यापादनाभिसन्धेरभावादिति, तथा स्वप्नान्तिक–स्वप्न प्रत्ययं कर्म नोपचीयते, यथा स्वप्नभोजने तृप्त्यभाव इति । तृतीयोद्देशके स्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा–आधाकर्मगतविचारस्तद्भोजिनां च दोषोपदर्शनमिति, तथा कृतवादी च भण्यते, तद्यथा–ईश्वरेण कृतोऽयं लोकः, प्रधानादिकृतो वा, यथा च ते प्रवादिन आत्मीयमार्गं कृतवाद गृहीत्वोत्थितास्तथा भण्यन्त इति द्वितीयोऽधिकारः, चतुर्थोद्देशकाधिकारस्त्वयं, तद्यथा–अविरतेषु–गृहस्थेषु यानि कृत्यानि–अनुष्ठानानि स्थितानि तैरसंयमप्रधानैः कर्तव्यैः 'परप्रवादी' परतीर्थिक उपमीयत इति । इदानीमनुगमः, स च द्वेधा–सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिविधः, तद्यथा–निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्च । तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतः, ओघनामनिष्पन्ननिक्षेपयोरन्तर्गतत्वात्, तथाच वक्ष्यमाणस्य सूत्रस्य निक्षेप्स्यमानत्वात् । उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगमस्तु षड्विंशतिद्वारप्रतिपादकाद्गाथाद्वयादवसेयः, तद्यथा–'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादि । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमस्तु सूत्रे सति सम्भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स चावसरप्राप्त एव, तत्रास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्–

१–[illegible] २ । २ [illegible] [illegible] । ३ [illegible] । ४ उद्देसे निद्देसे य निग्गमे खित्त काल पुरिसे य । कारण पच्चय लक्खण नए समोयारणाणुमए ॥१॥ किं कइविहं कस्स कहिं केसु कहं किच्चिरं हवइ कालं । कइ संतर [illegible] भवागरिस फासण निरुत्ती ॥२॥ उद्देशो निर्देशश्च निर्गमः क्षेत्रं कालः पुरुषश्च । कारणं प्रत्ययो लक्षणं नयः समवतारोऽनुमतम् ॥१॥ किं कतिविधं कस्य क्व केषु कथं कियच्चिरं भवति कालम् । कति सान्तरमविरहितं भवा आकर्षाः स्पर्शना निरुक्तिः ॥२॥ ५ [illegible]–[illegible] न [illegible] । उपोद्घातं विना [illegible] न [illegible] ॥१॥
६ [illegible] × [illegible], [illegible] । [illegible] ७ [illegible] [illegible] च [illegible] । [illegible] च [illegible] च [illegible] [illegible] ॥१॥

बुज्झिज्जत्ति[1][2] तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया। किमाह बंधणं वीरो[3], किंवा जाणं तिउट्टई ? ॥१॥

अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या—बुध्येतेत्यादि, सूत्रमिदं सूत्रकृताङ्गादौ वर्तते, अस्य चाचाराङ्गेन सहायं संबन्धः, तद्यथा—आचाराङ्गेऽभिहितम्—'जीवो छक्कायपरूवणा य तेसिं वहेण बंधोत्ति' इत्यादि तत्सर्वं बुध्येतेत्यादि, यदिवेह केषाञ्चिद्वादिनां ज्ञानादेव मुक्त्यवाप्तिरन्येषां क्रियामात्रात्, जैनानां तूभाभ्यां निःश्रेयसाधिगम इत्येतदनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते। तत्रापि ज्ञानपूर्विका क्रिया फलवती भवतीत्यादौ बुध्येतेत्यनेन ज्ञानमुक्तं त्रोटयेदित्यनेन च क्रियोक्ता, तत्रायमर्थो—'बुध्येत' अवगच्छेत् बोधं विदध्यादित्युपदेशः, किंपुनस्तद्बुध्येतात आह—'बन्धनं' बध्यते जीवप्रदेशैरन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति बन्धनं—ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं कर्म तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाविरत्यादयः परिग्रहारम्भादयो वा, न च बोधमात्रादभिलषितार्थावाप्तिर्भवतीत्यतः क्रियां दर्शयति—तच्च बंधनं परिज्ञाय विशिष्टया क्रियया—संयमानुष्ठानरूपया 'त्रोटयेद्' अपनयेदात्मनः पृथक्कुर्यात्परित्यजेद्वा, एवं चाभिहिते जम्बूस्वाम्यादिको विनेयो बन्धादिस्वरूपं विशिष्टं जिज्ञासुः पप्रच्छ—'किमाह' किमुक्तवान् बन्धनं 'वीरः' तीर्थकृत् ?, किंवा 'जानन्' अवगच्छंस्तद्बन्धनं त्रोटयति ततो वा त्रुट्यति ?, इति श्लोकार्थः ॥१॥ बन्धनप्रश्नस्वरूपप्रश्ननिर्वचनायाह—

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि। अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ[11] ॥२॥

१ नमः श्रीवर्द्धमानाय अ । अर्हम् आ. । २ °ज× तिउ° अ आ । ३ वीरे अ आ. । ४ °बुवघर° आ. । ५ सा० एकान्तपरोक्षे चू० । ६ बन्धनप्रश्न ××××× निर्वचनायाह—आ इ. । ७ °मत्तम° अ । ८ कसामवि अ. । ९ अण्ण अ. । १० °जाणाति अ °जाणाए आ. । ११ मुच्चती अ. ।

इह यच्चन कर्म सद्वतो वाऽभिधीयन्ते, यत्र न निदानमन्तरेण निदानिनो जन्मेति निदानमेव दर्शयति, तत्रापि सर्वारम्भा' द-र्शयति, तत्रापि मत्वारम्भा कर्मोपादानरूपा' प्रायश्च आत्मात्मीयग्रहोत्थाना इतिकृत्वाऽऽदौ परिग्रहमेव दर्शितवान्, चित्तम्—उपयोगो ज्ञानं तद्विद्यते यस्य तच्चित्तवत्—द्विपदचतुष्पदादि, ततोऽन्यदचित्तवत्—कनकरजतादि, तदुभयरूपमपि परिग्रहं परिगृह्य 'कृशमपि' स्तोक-मपि तृणतुषादिकमपीत्यर्थः, यदिवा कसनं कसः—परिग्रहग्रहणबुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणाम इतियावत्, तदेवं स्वतः परिग्रहं परिगृह्या-न्यान्वा ग्राहयित्वा गृह्णतो वाऽन्याननुज्ञाय दुःखयतीति दुःखम्—अष्टप्रकारं कर्म तत्फलं वा असातोदयादिरूपं तस्मान्न मुच्यत इति, परिग्रहाग्रह एव परमार्थतोऽनर्थमूलं भवति, तथा चोक्तम्—"ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः, कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः। यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः, परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते॥१॥" तथा च—'द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधिर्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः। दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं पापस्य वासो निजः, प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च॥२॥" तथा च—परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ, प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चातृप्तिरित्येवं परिग्रहे सति दुःखात्मकाद् बन्धनान्न मुच्यत इति॥२॥ परिग्रहवतश्चावश्यमारम्भस्तस्मिंश्च प्राणातिपात इति दर्शयितुमाह—

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए। हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो॥३॥

जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे। ममाइ लुप्पई बाले, अन्ने अन्नेहि मुच्छिए॥४॥

प्र. १ धर्मतो कम्पकारणे। २ 'वेरं' प्र.। ३ ...जन्मतो प्र.। ४ पश्य प्र प्रा. ५ ...प्राप्त प्र.। ६ वेरं प्र.। ७ ...नादि प्र.। ८ ममाती कप्पती प्र. प्र.। ९ ...मन्नेहि प्र. प्रा.।

यद्वा-प्रकारान्तरेण बन्धनमेवाह—'सयं तीत्यादि', स परिग्रहवानसंतुष्टो भूयस्तदर्जनपरः समर्जितोपद्रवकारिणि च द्वेषमुपगतस्ततः 'स्वयम्' आत्मना 'त्रिभ्यो' मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलशरीरेभ्यो वा 'पातयेत्'-च्यावयेत् 'प्राणान्'-प्राणिनः, अकारलोपाद्वा अतिपातयेत् प्राणानिति, प्राणाश्चामी—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥१॥" तथा स परिग्रहाग्रही न केवलं स्वतो व्यापादयति अपरैरपि घातयति घ्नतश्चान्यान् समनुजानीते, तदेवं कृतकारितानुमतिभिः प्राण्युपमर्दनेन जन्मान्तरशतानुबन्ध्यात्मनो वैरं वर्धयति, ततश्च दुःखपरम्परारूपाद् बन्धनान्न मुच्यत इति। प्राणातिपातस्य चोपलक्षणार्थत्वात् मृषावादादयोऽपि बन्धहेतवो द्रष्टव्या इति ॥३॥ पुनर्बन्धनमेवाश्रित्याह—'जस्सि' मित्यादि, 'यस्मिन्' राष्ट्रकूटादौ कुले जातो 'यैर्वा' सहपांसुक्रीडितैर्वयस्यैर्भार्यादिभिर्वा सह संवसेन्नरः, तेषु मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यावयस्यादिषु ममायमिति ममत्ववान् स्निह्यन् 'लुप्यते' विलुप्यते, ममत्वजनितेन कर्मणा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरलक्षणे संसारे भ्रम्यमाणो बाध्यते-पीड्यते। कोऽसौ?—'बालः' अज्ञः, सदसद्विवेकरहितत्वाद्, अन्येष्वन्येषु च 'मूर्छितो' गृद्धोऽध्युपपन्नो, ममत्वबहुल इत्यर्थः, पूर्वं तावन्मातापित्रोस्तदनु भार्यायां पुनः पुत्रादौ स्नेहवानिति ॥४॥ साम्प्रतं यदुक्तं प्राक्—'किं वा जानन् बन्धनं त्रोटयतीति' अस्य निर्वचनमाह—

वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेयं न ताणइ। संखाए जीविअं चेवं, कम्मुणा उ तिउट्टइ ॥५॥

१ °स्तदार्जे° आ. इ। २ °गतः XXX स्व° आ °गत XXX स्व° इ.। सा. ३ अष्टप्रकारं कर्म चू०। ४ द्वाभ्यामाकलित चू०। ५ °मेत न ताणए आ। ६ कम्मुणा उ तिवट्टतिए अ कम्मणा उ तिउट्टइ आ।

'चित्तं' द्रव्यं, तच्च सचित्तमचित्तं वा, तथा 'सोदर्याः' भ्रातृभगिन्यादयः, सर्वमपि च 'एतद्' वित्तादिकं संसारान्तर्गतस्यासुमतो निरुद्धस्य शारीरमानसीर्वेदनास्समनुभवतो न 'त्राणाय' रक्षणाय भवतीत्येतत् 'संख्याय'–ज्ञात्वा तथा 'जीवितं च' प्राणिनां स्वल्पमिति सम्ख्याय–ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु सचित्ताचित्तपरिग्रहप्राण्युपघातस्वजनस्नेहादीनि बन्धनस्थानानि प्रत्याख्याय 'कर्मणः' सकाशात् 'त्रुट्यति' अपगच्छत्यसौ, तुरवधारणे, त्रुट्येदेवेति, यदिवा–'कर्मणा' क्रियया संयमानुष्ठानरूपया बन्धनात्त्रुट्यति, कर्मणः पृथग्भवतीत्यर्थः ॥५॥ अध्ययनाद्याधिकाराभिहितत्वात्स्वसमयप्रतिपादनानन्तरं परसमयप्रतिपादनाभिधित्सयाऽऽह—

एए गंथे विउक्कम्म, एगे समणमाहणा। अयाणंता विउस्सित्ता, सत्ता कामेहि माणवा ॥६॥

'एतान्' अनन्तरोक्तान् ग्रन्थान् 'व्युत्क्रम्य' परित्यज्य स्वरुचिविरचितार्थेषु ग्रन्थेषु सक्ताः 'सिताः' बद्धाः, एके न सर्वे इति मताः। [illegible] तदुक्तायानभ्युपगमात्, अनन्तरग्रन्थेषु चायमर्थोऽभिहितः, तद्यथा–जीवास्तित्वे सति ज्ञानावरणीयादिकर्म [illegible] पक्षे, तस्य हेतवो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादाद्य परिग्रहारम्भादयश्च, तत्त्रोटने च सम्यग्दर्शनाद्युपायेन, मोक्षसद्भावश्चेत्येवमादिका, [illegible] 'श्रमणाः' शाक्यादयो बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च ब्राह्मणाः 'एतान्' अर्हदुक्तान् ग्रन्थानतिक्रम्य परमार्थमजानाना विविधम्–[illegible] उत्–प्राबल्येन सिता–बद्धा स्वसमयेष्वभिनिविष्टाः। तथाच शाक्या एवं प्रतिपादयन्ति, यथा–सुखदुःखेच्छाद्वेषज्ञाना पाञ्चभूतो नास्त्यात्मा कश्चित्, किन्तु विज्ञानमेवैकं विवर्तत इति, क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यादि, तथा सांख्या एवं व्यवस्थिता–सत्त्व

१ 'सं' [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible] ५ 'सिताः' [illegible] ६ [illegible]
[illegible]

रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, तस्माद्गणश्च षोडशकः, तस्मात्षोडशकादपि पञ्च भूतानि, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यादि, वैशेषिकाः पुनराहुः—'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट् पदार्थाः' इति, तथा नैयायिकाः—प्रमाणप्रमेयादीनां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकपरिज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति व्यवस्थिताः, तथा मीमांसकाः—चोदनालक्षणो धर्मो, न च सर्वज्ञः कश्चिद्विद्यते, मुक्त्यभावश्चेत्येवमाश्रिताः, चार्वाकास्त्वेवमभिहितवन्तो, यथा—नास्ति कश्चित्परलोकयायी भूतपञ्चकाद्व्यतिरिक्तो जीवाख्यः पदार्थो, नापि पुण्यपापे स्त इत्यादि। एवं चाङ्गीकृत्यैते लोकायतिकाः 'मानवाः'—पुरुषाः, 'सक्ता'—गृद्धा अध्युपपन्नाः, 'कामेषु'—इच्छामदनरूपेषु, तथाचोचुः—"एतावानेव पुरुषो, यावानिन्द्रियगोचरः। भद्रे! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः॥१॥ पिब खाद च साधु शोभने!, यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते। नहि भीरु! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥२॥" एवं ते तत्रान्तरीयाः स्वसमयार्थवासितान्तःकरणाः सन्तो भगवदर्हदुक्तं ग्रन्थार्थमज्ञातपरमार्थाः समतिक्रम्य स्वकीयेषु ग्रन्थेषु सिताः—संबद्धाः कामेषु च सक्ता इति॥६॥ साम्प्रतं विशेषेण सूत्रकार एव चार्वाकमताश्रित्याऽऽह—

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया। पुढवी आउ तेऊ वा, वाउ आगासपंचमा॥७॥

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया। अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो॥८॥

'सन्ति' विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्त्वविशेषणम्, अनेन च भूताभाववादिनिरा-

१ तस्मादपि षोडशात्पञ्चत्य पञ्चभूतानि आ. इ। २ गम इति xxxx तथा आ। सा ३ लोकोऽयं। ४ शोभने आ.। ५ °सिआहिया अ. °सिमाहिया आ। ६ °तेउ×वाऊ° अ आ.। ७ एसिं विणासेण आ.। ८ देहिणं आ.।

परम् द्रष्टव्यम्, 'इह' अस्मिन् लोके 'पञ्च' भूतवादिनाम् 'आख्यातानि' प्रतिपादितानि तत्तीर्थकृता तैर्वा भूतवादिभिर्यदस्त्यम तानुसारिभिराख्यातानि-अपरमतीकृतान्यन्यथा च प्रतिपादितानि। तानि चामूनि, तद्यथा-पृथिवी कठिनरूपा, आपो द्रवलक्षणाः, तेज उष्णरूपं, वायुश्चलनलक्षणः, आकाशं शुषिरलक्षणमिति, तत्र पञ्चम येषां तानि तथा, एतानि साङ्गोपाङ्गानि प्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणा वसेयानि न क्वचिद्धेतुं गम्यानि। ननु च साङ्ख्यादिभिरपि भूतान्यभ्युपगतान्येव, तथाहि सांख्यास्तावदेवमूचुः-सत्त्वरजस्तमो साम्यावस्थात्प्रधानान्महान् बुद्धिरित्यर्थः, महतोऽहङ्कारः-अहमितिप्रत्ययः, तस्मादप्यहङ्कारात्षोडशको गण उत्पद्यते, स चायम्-पञ्च स्पर्श नादीनि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च तन्मात्राणि, तद्यथा-गन्धरसरूपस्पर्श शब्दतन्मात्राख्यानि, तत्र गन्धतन्मात्रात्पृथिवी गन्धरसरूपस्पर्शवती, रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्यः, रूपतन्मात्रात्तेजो रूपस्पर्श वत्, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः स्पर्शवान्, शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्धरसरूपस्पर्शवर्जितमुत्पद्यत इति। तथा वैशेषिका अपि भूतान्यभिहितवन्तः, तद्यथा-द्विविधा पृथिवी, सा च परमाणुलक्षणा नित्या, द्व्यणुकादिप्रक्रमनिष्पन्नकार्यरूपतया त्वनित्या, चतुर्दशभिर्गुणै रूपरसग न्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्ववेगाख्यैरुपेता, तथाऽप्त्वयोगादापः, ताश्च रूपरसस्पर्शसंख्यापरिमा णपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्ववेगवत्यः, तासु च रूपं शुक्लमेव, रसो मधुर एव, स्पर्शः शीत एवेति; तेज स्त्वाभिसंबन्धात्तेजः, तच्च रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाख्यैरेकादशभिर्गुणैर्गुणवत्, तत्र रूपं शुक्लं भास्वरं च, स्पर्श उष्ण एवेति, वायुत्वयोगाद्वायुः, स चानुष्णाशीतस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्ववेगा

[illegible] भ. ८ । १ [illegible] आ. ६ । २ [illegible] आ. ६ । ४ [illegible] आ ।

ख्यैर्नवभिर्गुणैर्गुणवान् हृत्कंम्पशब्दानुष्णशीतस्पर्शलिङ्गः, आकाशमिति पारिभाषिकी संज्ञा एकत्वात्तस्य, तच्च संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागशब्दाख्यैः षड्भिर्गुणैर्गुणवत् शब्दलिङ्गं चेति, एवमन्यैरपि वादिभिर्भूतसद्भावाश्रयणे किमिति लोकायतिकमतापेक्षया भूतपञ्चकोपन्यास इति ? उच्यते-सांख्यादिभिर्हि प्रधानात्साहङ्कारिकं तथा कालदिगात्मादिकं चान्यदपि वस्तुजातमभ्युपेयते, लोकायतिकैस्तु भूतपञ्चकव्यतिरिक्तं नात्मादिकं किञ्चिदभ्युपगम्यते इत्यतस्तन्मताश्रयणेनैव सूत्रार्थो व्याख्यायत इति ॥७॥ यथा चैतत् तथा दर्शयितुमाह-'एए पंच महब्भूया' इत्यादि, 'एतानि' अनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि यानि 'तेभ्यः' कायाकारपरिणतेभ्यः 'एकः' कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति, न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित्परपरिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते, तथा(ते)हि एवं प्रमाणयन्ति-न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् , प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकं, तत्रेन्द्रियेण साक्षादर्थस्य संबन्धाभावाद्व्यभिचारसंभवः, सति च व्यभिचारसंभवे सदृशे च बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः, तथाचोक्तम्-"हस्तस्पर्शादिवान्धेन, विषमे पथि धावता । अनुमानप्रधानेन, विनिपातो न दुर्लभः ॥१॥" अनुमानं चात्रोपलक्षणमागमादीनामपि, साक्षादर्थसंबन्धाभावाद्धस्तस्पर्शनेनेव प्रवृत्तिरिति । तस्मात्प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं, तेन च भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनो न ग्रहणं, यत्तु चैतन्यं तेषूपलभ्यते, तद्भूतेष्वेव कायाकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते, मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवदिति, तथा-न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं, तत्कार्यत्वात् , घटादिवदिति । तदेवं भूतव्यतिरि-

---

सा १ हृति० प्र० हरणमित्यर्थ । २ हृत्तिकम्प° आ इ. । ३ व्याख्यात इति ॥छ॥ आ. इ. । ४ इत्यादिश्लोक° आ. इ. । ५ °तानि° इ. । ६ तथाहि त स्व आ इ । ७ तत्रेंद्रियै सार्द्धं अर्थं° आ तत्रेंद्रियेण सार्द्धं अर्थ° इ । ८ वाक्यपदीये प्र. का. श्लो. ४२ । ९ °शेनX च प्र० आ °शनैXवप्र° इ. ।

कस्याऽऽत्मनोऽभावाद्भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिः, जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति। केषाञ्चिल्लोकायतिकानामाकाशस्यापि भूतत्वेनाभ्युपगमाद्भूतपञ्चकोपन्यासो न दोषायेति। ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तोऽपरः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते, कथं तर्हि मृत इति व्यपदेश इत्याशङ्क्याह–अथैषां कायाकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य 'विनाशे' अपगमे वायोस्तेजसश्चोभयोरा 'देहिनो' देवदत्ताख्यस्य 'विनाशः' अपगमो भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते, न पुनर्जीवापगम इति भूताव्यतिरिक्तचैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति॥ अत्र प्रतिसमाधानार्थं निर्युक्तिकृदाह–

पंचण्ह संजोए अण्णगुणाणं च चेयणाइगुणो। पंचिंदियठाणाणं ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो॥३३॥

'पञ्चानां' पृथिव्यादीनां भूतानां 'संयोगे' कायाकारपरिणामे चैतन्यादिकः आदिशब्दात् भाषाचङ्क्रमणादिकश्च गुणो न भवती[ति] प्रतिज्ञा, अन्यादृशमन्यत्र हेतुत्वेनोपात्ताः, दृष्टान्तस्त्वभ्यूह्यः, सुलभत्वात्तस्य नोपादानं। तत्रेदं चार्वाकः प्रष्टव्यः—यदेतद्भूतानां संयोगे चैतन्यमभिव्यज्यते तत्किं तेषां संयोगेऽपि स्वातन्त्र्य एवाऽऽहोस्वित्परस्परापेक्षया पारतन्त्र्ये इति?, किञ्चातः ?, न तावत्स्वातन्त्र्ये, यत आह–'अन्यगुणाना'मिति चैतन्यादन्ये गुणा येषां तान्यन्यगुणानि, तथाहि–आधारकाठिन्यगुणा पृथिवी, द्रवगुणा आपः, पक्तृगुणं तेजः, चलनगुणो वायुः, अवगाहदानगुणमाकाशमिति, यदिवा प्रागभिहिता गन्धादयः पृथिव्यादीनामेकैकपरिवृद्धयाऽन्ये गुणाश्चैतन्यादिति, तदेवं पृथिव्यादीन्यन्यगुणानि, चशब्दो द्वितीयविकल्पपरतन्त्र्यताभ्यूहनार्थः, चैतन्यगुणे साध्ये पृथिव्यादीनामन्यगुणानां सतां चैतन्यगुणस्य

१ देह० ३ च० ८। २ चैतन्यगुणः च०, चैतन्यगुणे च०। ३ °रे च०। ४ म च०। ५ °भ्यो च च०। ६ ॥३३॥ च च०। ७ पृथिव्या[illegible] [illegible] च०। ८ गुणो च ८। ९ पवि च० ८।

पृथिव्यादीनामेकैकस्याप्यभावान्न तत्समुदायाच्चैतन्याख्यो गुणः सिद्ध्यतीति, प्रयोगस्त्वत्र–भूतसमुदायः स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते, न तस्य चैतन्याख्यो गुणोऽस्तीति साध्यो धर्मः, पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात्, यो योऽन्यगुणानां समुदायस्तत्र तत्रापूर्वगुणोत्पत्तिर्न भवतीति, यथा सिकतासमुदाये स्निग्धगुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा[3] न स्तम्भाद्याविर्भाव इति, दृश्यते च काये चैतन्यं, तदात्मगुणो भविष्यति न भूतानामिति। अस्मिन्नेव साध्ये हेत्वन्तरमाह–'पञ्चिन्दियठाणाणं'ति पञ्च च तानि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानानि–अवकाशास्तेषां चैतन्यगुणाभावान्न भूतसमुदाये चैतन्यम्, इदमत्र हृदयं–लोकायतिकानां हि अपरस्य द्रष्टुरनभ्युपगमादिन्द्रियाण्येव द्रष्टॄणि, तेषां च यानि स्थानानि–उपादानकारणानि तेषामचिद्रूपत्वान्न भूतसमुदाये चैतन्यमिति, इन्द्रियाणां चामूनि स्थानानि, तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात्, घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवी तदात्मकत्वात्, चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात्, एवं रसनेन्द्रियस्यापः स्पर्शनेन्द्रियस्य वायुरिति। प्रयोगश्चात्र–नेन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति, तेषामचेतनगुणारब्धत्वात्, यद्यदचेतनगुणारब्धं तत्तदचेतनं, यथा घटपटादीनि, एवमपि च भूतसमुदाये चैतन्याभाव एव साधितो भवति। पुनर्हेत्वन्तरमाह–'ण अण्णगुणियं गुणइ अण्णो'त्ति इहेन्द्रियाणि प्रत्येकभूतात्मकानि, तान्येवापरस्य द्रष्टुरभावाद् द्रष्टॄणि, तेषां च प्रत्येकं स्वविषयग्रहणादन्यविषये चाप्रवृत्तेर्नान्यदिन्द्रियज्ञातमन्यदिन्द्रियं जानातीति, अतो मया पञ्चापि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मकः संकलनाप्रत्ययो न प्राप्नोति, अनुभूयते चायं, तस्मादेकेनैव द्रष्ट्रा भवितव्यम्, तस्यैव च चैतन्यं न भूतसमुदायस्येति, प्रयोगः पुनरेवं–न भूतसमुदाये

१ °गुण × तैलस्य आ। २ °चोत्पत्तिर्न भवति आ इ। ३ °वा×स्तं° आ इ। ४ °त्राक्षानि° आ.। ५ °च यथा° आ। ६ तान्येवचापरस्य आ इ।

गनन्ये, तदा स्त्रयेन्द्रियाणां प्रत्येकविषयग्राहित्वे सति संकलनाप्रत्ययाभावात्, यदि पुनरन्यगृहीतमप्यन्यो गृह्णीयात् देवदत्तगृहीत यज्ञदत्तेनापि गृह्येत, न चैतद् दृष्टमिष्टं चेति। ननु च स्वातन्त्र्यपक्षेऽयं दोषः, यदा पुनः परस्परसापेक्षाणां संयोगपारतन्त्र्याभ्युपगमेन भूतानामेव समुदितानां चैतन्याख्यो धर्मः संयोगवशादाविर्भवति, यथा किण्वोदकादिषु मद्याङ्गेषु समुदितेषु प्रत्येकमविद्यमानाऽपि मदशक्तिरिति, तदा कुतोऽस्य दोषस्यावकाश इति ?, अत्रोत्तरं गाथोपात्तचशब्दाक्षिप्तमभिधीयते—यत्तावदुक्तं यथा 'भूतेभ्यः परस्पर मन्यत्वसंयोगमात्र्य चैतन्यमुत्पद्यते', तत्र विकल्पयामः—किमसौ संयोगः संयोगिभ्यो भिन्नोऽभिन्नो वा ?, भिन्नश्चेत्षष्ठभूतप्रसंगो, न चान्यत् पञ्चभूतव्यतिरिक्तसंयोगाख्यभूतग्राहकं भवतां प्रमाणमस्ति, प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमात्, तेन च तस्याग्रहणात्, प्रमाणा न्तराभ्युपगमे च तेनैव जीवस्यापि ग्रहणमस्तु, अथ अभिन्नो भूतेभ्यः संयोगः, तत्राप्येवं चिन्तनीयं—किं भूतानि प्रत्येकं चेतनावन्त्य चेतनानि वा ?, यदि चेतनावन्ति तदा एकेन्द्रियसिद्धिः, तथा (च) समुदायस्य पञ्चप्रकारचैतन्यापत्तिः, अथाचेतनानि, तत्र चोक्तो दोषो, न हि यद्यत्र प्रत्येकमविद्यमानं तत्तत्समुदाये समनुपलभ्यते, सिकतासु तैलवदित्यादिना। यदप्यत्रोक्तं—यथा मद्याङ्गेष्वविद्यमाना ऽपि मदशक्तिः समुदाये प्रादुर्भवतीति, तदप्ययुक्तं, यतस्तत्र किण्वादिषु या च यावती च शक्तिरुपलभ्यते, तथाहि—किण्वे बुभु क्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यं च उदकस्य तृडपनयनसामर्थ्यमित्यादिनेति, भूतानां च प्रत्येकं चैतन्यानभ्युपगमे दृष्टान्तदार्ष्टान्ति संयोगमात्रम्। किञ्च—भूतचैतन्याभ्युपगमे मरणाभावो, मृतकायेऽपि पृथ्व्यादीनां भूतानां सद्भावात्, नैतदस्ति, तत्र मृतकाये वायोस्ते जसो वाऽभावात्मकमाव इत्यभिधितस्योऽज्ञाना, तथाहि—मृतकाये शोफोपलम्भाद् वायोरभावः, कोपस्य च पक्तिसमावस्य दस्य

१ (000) १ । २ में गर्भ आ. । ३ मेम येन्कमि ग म. ६ । ४ प्रत्यर्थो०—६ । ५ जाब पु॰ प. ८ ।

क्रियाणां सद्भाव इति, अतः सामर्थ्यादवसीयते-अस्ति भूतातिरिक्तः कश्चित्सुखदुःखेच्छादीनां क्रियाणां समवायिकारणं पदार्थः, स चात्मेति, तदेवं प्रत्यक्षानुमानादिपूर्विकाऽन्याऽप्यर्थापत्तिरभ्यूह्या, तस्यास्त्विदं लक्षणम्—"प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथाभवन्[1]। अदृष्टं कल्पयेदन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥१॥" तथाऽऽगमादप्यस्तित्वमवसेयं, स चायमागमः—'अत्थि मे आया उववाइए' इत्यादि। यदिवा किमत्रापरप्रमाणचिन्तया ?, सकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणैवात्माऽस्तीत्यवसीयते, तद्गुणस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्, ज्ञानगुणस्य च गुणिनोऽनन्यत्वात् प्रत्यक्ष एवात्मा, रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वेन पटादिप्रत्यक्षवत्, तथाहि—अहं सुख्यहं दुःख्येवमाद्यहंप्रत्ययग्राह्यश्चात्मा[2] प्रत्यक्षः, अहंप्रत्ययस्य स्वसंविद्रूपत्वादिति, ममेदं शरीरं पुराणं कर्मेति च शरीराद्भेदेन निर्दिश्यमानत्वाद्, इत्यादीन्यन्यान्यपि प्रमाणानि जीवसिद्धावभ्यूह्यानीति तथा यदुक्तं—'न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्यत्वात् घटादिवदि'ति, एतदप्यसमीचीनं, हेतोरसिद्धत्वात्, तथाहि—न भूतानां कार्यं चैतन्यं, तेषामतद्गुणत्वात् भूतकार्यचैतन्ये संकलनाप्रत्ययासंभवाच्च, इत्यादिनोक्तप्रायम्[4], अतोऽस्त्यात्मा भूतव्यतिरिक्तो ज्ञानाधार इति स्थितम्। ननु च किं ज्ञानाधारभूतेनात्मना ज्ञानाद्भिन्नेनाश्रितेन ?, यावता ज्ञानादेव सर्वसंकलनाप्रत्ययादिकं सेत्स्यति, किमात्मनाऽन्तर्गडुकल्पेनेति, तथाहि—ज्ञानस्यैव चिद्रूपत्वाद् भूतैरचेतनैः कायाकारपरिणतैः सह संबन्धे सति सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नक्रियाः प्रादुष्ष्यन्ति तथा संकलनाप्रत्ययो भवान्तरगमनं चेति, तदेवं व्यवस्थिते किमात्मना कल्पितेनेति ?, अत्रोच्यते, न ह्यात्मानेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते, तथाहि—प्रत्येकमिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये चाप्रवृत्तेः एकस्य च परिच्छेत्तुरभावात् मया पञ्चापि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य[5] संकलनाप्रत्ययस्याभाव इति, आलयविज्ञानमेकमस्तीति चेद्, एवं

१ °भवेत् आ.। २ °प्यात्मा° आ। सा० ३ अस्ति मे आतौपपातिक। ४ °णप्रज्ञा° आ.। ५ °चि° इ।

ध्यमेनापि पृष्टिमता गुरुरेव दीयते ?, तदेवं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थापयतो भवतोऽनिच्छतोऽपि बलादायातमनुमानस्य प्रामाण्यम्। तथा स्वर्गापवर्गदेवतादेः प्रतिषेधं कुर्वन् भवान् केन प्रमाणेन करोति ?, न तावत्प्रत्यक्षेण प्रतिषेधः कर्तुं पार्यते, यतस्तत्प्रत्यक्षं प्रवर्तमानं वा तन्निषेधं विदध्यान्निवर्तमानं वा ?, न तावत्प्रवर्तमानं, तस्याभावविषयत्वविरोधात्, नापि निवर्तमानं, यतस्तस्य नास्ति तेन च प्रतिपत्तिरित्यसंगतं, तथाहि—व्यापकविनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि (वि) निवृत्तिरिष्यते, न चार्वाग्दर्शिप्रत्यक्षेण समस्तवस्तुव्याप्तिः संभाव्यते, तन्न प्रत्यक्षविनिवृत्तौ पदार्थव्यावृत्तिरिति ?, तदेवं स्वर्गादेः प्रतिषेधं कुर्वता चार्वाकेणावश्यं प्रमाणान्तरमभ्युपगन्तव्यम्। तथाऽन्याभिप्रायविज्ञानाभ्युपगमादत्र स्पष्टमेव प्रमाणान्तरमभ्युपगतम्, अन्यथा कथं परावबोधाय शास्त्रप्रणयनमकारि चार्वाकेणेत्यलमतिप्रसङ्गेन। तदेवं प्रत्यक्षादन्यदपि प्रमाणमस्ति, तेनात्मा सेत्स्यति, किं पुनस्तदिति चेत्, उच्यते, अस्त्यात्मा, असाधारणगुणोपलब्धेः, चक्षुरिन्द्रियवत्, चक्षुरिन्द्रियं हि न साक्षादुपलभ्यते, स्पर्शनादीन्द्रियासाधारणरूपविज्ञानोत्पादनशक्त्या त्वनुमीयते, तथाऽऽत्माऽपि पृथिव्याद्यसाधारणचैतन्यगुणोपलब्धेरस्तीत्यनुमीयते, चैतन्यं च तस्यासाधारणो गुण इत्येतत्पृथिव्यादिभूतसमुदाये चैतन्यस्य निराकृतत्वादवसेयम्। तथा अस्त्यात्मा, समस्तेन्द्रियोपलब्धार्थसंकलनाप्रत्ययसद्भावात्, पञ्चगवाक्षान्तर्व्यवस्थितपुरुषवत्, तथाऽऽत्मा अपरस्तु नेन्द्रियाणि, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थस्मरणात्, गवाक्षोपरमेऽपि तद्द्वारोपलब्धार्थस्मर्तृदेवदत्तवत्, तथा अपापस्याऽप्यात्माऽस्तीत्यनुमीयते, तथाहि—सत्यपि पृथिव्यादिभूतसमुदाये लेप्यकर्मादौ न सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादि-

१ [illegible] [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] ।
७ [illegible] ।

पिण्डः पृथिव्यादिभूताद्याकारतया नाना दृश्यते, न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवति, तथा चोक्तम्—"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥" तथा 'पुरुष एवेदं ग्निं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नेजति[1] यद्दूरे यदु[2] अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यतः' इत्यात्माद्वैतवादः ॥९॥

अस्योत्तरदानायाह—

एवमेगेत्ति जप्पंति[3], मंदा आरंभणिस्सिआँ[4]। एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ[5] ॥१०॥[6]

'एव'मिति अनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपप्रदर्शनम् 'एके' केचन पुरुषकारणवादिनो 'जल्पन्ति' प्रतिपादयन्ति, किंभूतास्ते इत्याह—'मन्दा' जडाः सम्यक्त्वपरिज्ञानविकलाः, मन्दत्वं च तेषां युक्तिविकलात्माऽद्वैतपक्षसमाश्रयणात्, तथाहि—यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्त्वाः—प्राणिनः कृषीवलादयः 'एके' केचन आरम्भे—प्राण्युपमर्दनकारिणि[7] व्यापारे निःश्रिता—आसक्ताः संबद्धा अध्युपपन्नाः ते च संरम्भसमारम्भारम्भैः 'कृत्वा' उपादाय स्वयम्' आत्मना 'पापम्' अशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रदुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं नियच्छतीति, आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमकारि, ततश्चायमर्थो—निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यंतया गच्छन्ति—प्राप्नुवन्ति त एवारम्भासक्ता नान्य इति, एतन्न स्याद्, अपि त्वेकेनापि अशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसंबन्धः स्याद्, एकत्वादात्मन इति, न चैतदेवं दृश्यते, तथाहि—य एव कश्चिदसमञ्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बनाः समनुभवन्नुप-

१ यन्नैजति आ। २ यदुदतिके आ. यदतिके इ.। ३ जपति अ. आ.। ४ °स्सिया अ. आ.। ५ नियच्छति अ.। ६ सर्व्वगतवादीगत. आ। ७ °मर्दिनि×××व्या° आ.।

गत्या मन एव जन्मान्तरं भवता कृत स्यात्, न च ज्ञानाख्यो गुणो गुणिनमन्तरेण भवतीत्यवश्यमात्मना गुणिना भाव्यमिति । स च न सर्वव्यापी, तद्गुणस्य सर्वत्रानुपलभ्यमानत्वात्, घटवत् । नापि श्यामाकतन्दुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा, तावन्मात्रस्योपाधिशरीरस्य पिनात्, स्वस्पर्यन्तशरीरव्यापित्वेन चोपलभ्यमानगुणत्वात्, तस्मात्सिद्धमिदम्—उपात्तशरीरत्वक्पर्यन्तव्याप्यात्मेति । तस्य चानादि-धर्मसम्बद्धस्य कदाचिदपि संसारिणश्चात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्तत्वे मूर्तेन कर्मणा संबन्धो न विरुध्यते, कर्मसंबन्धाच्च स्वभावतिरोभावः... प्रजुप्तमेन्द्रियपर्यायात्मपरिणामापन्नस्य बहुविधाः प्रादुर्भवन्ति । तस्य चैकान्तेन क्षणिकत्वे ध्यानाध्ययनश्रमसमत्पामि ध्यानप्रभावः, एकान्तनित्यत्वे च नारकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिपरिणामाभावः स्यात्, तस्मात्स्यादनित्यः स्यान्नित्य आत्मेत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥१८॥ साम्प्रतमेकात्मवादमतं दृष्टान्तद्वारेण पूर्वोपन्यस्ताधिकारप्रवर्तितं पूर्वपक्षयितुमाह—

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणाहि दीसइ । एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ ॥९॥

यथा-ऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेकस्यानेकधा वृत्तिदर्शनेन दृष्टान्तोपन्यासः, यथेत्युपदर्शने, चशब्दोऽप्यर्थे, स च भिन्नक्रम एके इत्यस्यानन्तरं द्र-ष्टव्यः, पृथिव्येव स्तूपः पृथिवीस्तूपः पृथिवीसंघातात्मकोऽवयवी, स चैकोऽपि यथा नानारूप—सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते, न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैकत्वभेदेन भेदो भवति, 'एवम्' इत्यर्थः 'भो' इति परामन्त्रणे, कृत्स्नोऽपि लोक—चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् भवति, इदमत्र हृदय—एक एव ह्यात्मा विद्वान् ज्ञान-

१ [illegible]
[illegible]

आह—'नंत्थि सत्तोववाइया' अस्तिशब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः, तदयमर्थः—'न सन्ति' न विद्यन्ते 'सत्त्वाः' प्राणिन उपपातेन निर्वृत्ता औपपातिका—भवाद्भवान्तरगामिनो न भवन्तीति तात्पर्यार्थः, तथाहि तदागमः—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ती' ति, ननु प्रागुपन्यस्तभूतवादिनोऽस्य च तज्जीवतच्छरीरवादिनः को विशेष इति ?, अत्रोच्यते, भूतवादिनो भूतान्येव कायाकारपरिणतानि धावनवल्गनादिकां क्रियां कुर्वन्ति, अस्य तु कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्याख्य आत्मोत्पद्यतेऽभिव्यज्यते वा, तेभ्यश्चाभिन्न इत्ययं विशेषः ॥११॥ एवं च धर्मिणोऽभावाद्धर्मस्याप्यभाव इति दर्शयितुमाह—

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इंतो वरे। सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

'पुण्यम्' अभ्युदयप्राप्तिलक्षणं तद्विपरीतं पापमेतदुभयमपि न विद्यते, आत्मनो धर्मिणोऽभावात् , तदभावाच्च नास्ति 'अतः' अस्माल्लोकात् 'परः' अन्यो लोको यत्र पुण्यपापानुभव इति, अत्र चार्थे सूत्रकारः कारणमाह—'शरीरस्य' कायस्य 'विनाशेन' भूतविघटनेन 'विनाशः' अभावो 'देहिन' आत्मनोऽप्यभावो भवति यतः, न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं चाऽनुभवतीति, अतो धर्मिण आत्मनोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति, अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा—यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नापरः कश्चिद्विद्यते तथा भूतव्यतिरेकेण नापरः कश्चिदात्मेति, तथा यथा कदलीस्तम्भस्य बहिस्त्वगपनयने क्रियमाणे त्वड्मात्रमेव सर्वं नान्तः कश्चित्सारोऽस्ति एवं भूतसमुदाये विघटति सति तावन्मात्रं विहाय नान्तः सारभूतः कश्चिदात्माख्यः पदार्थ उपल-

१ °णत्थि स° आ इ । २ °वल्गनादिका आ. । सा० ३ °श्च भिन्न प्र० । ४ °स्याऽभाव आ. । ५ इउवरे वा इओवरे आ. । ६ विघटनेन आ. इ. । ७ विघटति आ. इ. ।

९

लभ्यते नान्य इति, तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बन्धमोक्षाद्यभावः तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकविवेकाभावाच्छास्त्रप्रणयनाभावश्च स्यादिति। एतदर्थसंवादित्वाद्गाथयैव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते, तद्यथा—पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामेकत्र कायाकारपरिणतानां चैत न्यमुपलभ्यते, यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यात्, न चैवं, तस्मान्नैक आत्मा, भूतानां चान्या न्यगुणत्वं न स्यात्, एकस्मादात्मनोऽभिन्नत्वात्, तथा पञ्चेन्द्रियस्थानानां—पञ्चेन्द्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रत्यक्षो सत्यामन्येन ज्ञात्वा विदितमन्यो न जानातीत्येतदपि न स्याद्यद्येक एवात्मा स्यादिति ॥१०॥ साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह—

पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिआ। संति पिच्चा न ते संति, नत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमभ्युपगमः—यथा पञ्चभ्यो भूतेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते अभिव्यज्यते वा, तेनैकैकं शरीरं प्रति प्रत्येकमात्मानः 'कृत्स्नाः' सर्वेऽप्यात्मान एवमवस्थिताः, ये 'बाला' अज्ञा ये च 'पण्डिताः' सदसद्विवेकज्ञास्ते सर्वे पृथग् व्यवस्थिताः, नयेक एवात्मा सर्वव्यापित्वेनाभ्युपगन्तव्यो, बालपण्डिताद्यविभागप्रसङ्गात्, ननु प्रत्येकशरीराश्रयत्वेनात्मनामुत्पत्तिर्मार्गेला नामपीदमेवेत्याशङ्क्याह—'सन्ति' विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते तदभावे तु न विद्यन्ते, तथाहि—कायाकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याविर्भावो मरति,भूतसमुदायविघटने च चैतन्यापगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलभ्यते, इत्येतदेव दर्शयति—'पिच्चा न ते संती'ति 'प्रेत्य' परलोके न 'ते' आत्मानः 'सन्ति' विद्यन्ते, परलोकानुयायी शरीराद्भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः। किमित्येतमस्

१ पमित्ता क.। २ चेवा च क पत्ता च खा। घ २ विरूवते प्र। ४ विपवते खा. ई.। च ५ पञ्चमत्ते प्र। पञ्चमत्ते खा ई.।
१ पेच्च न क, दिच्च न इ

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई। एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ ॥१३॥

कुर्वन्निति स्वतन्त्रः कर्ताऽभिधीयते, आत्मनश्चामूर्तत्वान्नित्यत्वात् सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्वानुपपत्तिः, अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति, पूर्वश्चशब्दोऽतीतानागतकर्तृत्वनिषेधको, द्वितीयः समुच्चयार्थः, ततश्चात्मा न स्वयं क्रियायां प्रवर्तते, नाप्यन्यं प्रवर्तयति, यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन [जपास्फटिकन्यायेन च] भुजिक्रियां करोति तथाऽपि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्तीत्येतद्दर्शयति—'सव्वं कुव्वं ण विज्जइ'त्ति 'सर्वा' परिस्पन्दादिकां देशादेशान्तरप्राप्तिलक्षणां क्रियां कुर्वन्नात्मा न विद्यते, सर्वव्यापित्वेनामूर्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निष्क्रियत्वमिति, तथा चोक्तम्—'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा साङ्ख्यनिदर्शने' इति। 'एवम्' अनेन प्रकारेणात्माऽकारक इति, 'ते' सांख्याः, तुशब्दः पूर्वेभ्यो व्यतिरेकमाह, ते पुनः साङ्ख्या एवं 'प्रगल्भिताः' प्रगल्भवन्तो धार्ष्ट्यवन्तः सन्तो भूयो भूयस्तत्र तत्र प्रतिपादयन्ति, यथा—'प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते, तथा बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते' इत्याद्यकारकवादिमतमिति ॥१३॥ साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीराकारकवादिनोर्मतं निराचिकीर्षुराह—

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया?। तमाओ ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ॥१४॥

तत्र ये तावच्छरीराव्यतिरिक्तात्मवादिनः 'एव' मिति पूर्वोक्तया नीत्या भूताव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तस्ते निराक्रियन्ते—तत्र यैस्तावदुक्तम्—'यथा न शरीराद्भिन्नोऽस्त्यात्मे'ति, तदसङ्गतं, यतस्तत्प्रसाधकं प्रमाणमस्ति, तच्चेदम्—विद्यमानकर्तृकमिदं शरी-

१ कारन अ। २ विज्जती अ। ३ °रउ अ.। ४ पगब्भिया अ. आ। ५ "स्थितिक्रिया XXX करोति" आ. स्थितिक्रिया मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन × न भुजिक्रिया करोति इ.। ६ विज्जतित्ति आ इ। ७ कउ अ.। ८ तमावो ते तमं अ, तमाउ ते तम आ.। ९ अकिरियवादी गया आ.। १० तद्गोचर, आ. इ.।

ते, यथा चाऽऽलातं भ्राम्यमाणमचक्ररूपमपि चक्रबुद्धिमुत्पादयति एवं भूतसमुदायोऽपि विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति, यथा च स्वप्ने बहिर्मुखाकारतया विज्ञानमनुभूयते अन्तरेणैव बाह्यमर्थम्, एवमात्मानमन्तरेण तद्विज्ञानं भूतसमुदाये प्रादुर्भवतीति, तथा यथाऽऽदर्शे स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बितो बहिःस्थितोऽप्यर्थोऽन्तर्गतो लक्ष्यते, न चासौ तथा, यथा च ग्रीष्मे भौमेनोष्मणा परिस्पन्दमाना मरीचयो जलाकारं विज्ञानमुत्पादयन्ति, एवमन्येऽपि गन्धर्वनगरादयः स्वस्वरूपेणातथाभूता अपि तथा प्रतिभासन्ते, तथाऽऽत्माऽपि भूतसमुदायस्य कायाकारपरिणतौ सत्यां पृथगसन्नेव तथा भ्रान्तिं समुत्पादयतीति। अमीषां च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते, अस्माभिस्तु सूत्राऽऽदर्शेषु चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वादुपेक्षितानीति। ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा न विद्यते, तत्कृते च पुण्यापुण्ये न स्तः, तत्कथमेतज्जगद्वैचित्र्यं घटते?, तद्यथा—कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरो दुर्भगः सुखी दुःखी सुरूपो मन्दरूपो व्याधितो नीरोगीति, एवंप्रकारा च विचित्रता किं निबन्धनेति?, अत्रोच्यते, स्वभावात्, तथाहि—कुत्रचिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं निष्पाद्यते, तच्च कुङ्कुमागरुचन्दनादिविलेपनानुभोगमनुभवति धूपाद्यामोदं च, अन्यस्मिंस्तु पाषाणखण्डे पादक्षालनादि क्रियते, न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभे स्तः, यदुदयात्तत्तादृगवस्थाविशेष इत्येवं स्वभावाज्जगद्वैचित्र्यं, तथा चोक्तम्—"कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता। वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि ॥१॥" इति तज्जीवतच्छरीरवादिमतं गतम् ॥१२॥ इदानीमकारकवादिमतमभिधित्सुराऽऽह—

---

१ बोऽर्थ० अ०। २ °हिःस्थोऽप्य० प्र० ह०। ३ ०स्वस्वरूपेण प्र० ह०। ४ नीरोगीति, प्र० नीरोगो वेति ह०। ५ °चि शकले प्र० ह०।

समुदाये तद्द्वारेण स्वकर्मफलमनुभूय पुनस्तद्विनाशे आत्मापि तदनु तेनाकारेण विनश्यापरपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैरेव सह विनश्यतीति। तथा यदुक्तं—'धर्मिणोऽभावात्तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरभाव' इति, तदप्यसमीचीनं, यतो धर्मी तावदनन्तरोक्तिकदम्बकेन साधितः, तत्सिद्धौ च तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरपि सिद्धिरवसेया जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च। यत्तु स्वभावमाश्रित्योपलशकलं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं तदपि तद्भोक्तृकर्मवशादेव तथा तथा संवृत्तमिति दुर्निवारः पुण्यापुण्यसद्भाव इति। येऽपि बहवः कदलीस्तम्भादयो दृष्टान्ता आत्मनोऽभावसाधनायोपन्यस्ताः तेऽप्यभिहितनीत्याऽऽत्मनो भूतव्यतिरिक्तस्य परलोकयायिनः सारभूतस्य साधितत्वात्केवलं भवतो[1] वाचालतां प्रख्यापयन्ति इत्यलमतिप्रसङ्गेन। शेषं सूत्रं विव्रियतेऽधुनेति। तदेवं 'तेषां' भूतव्यतिरिक्तात्मनिह्नववादिनां योऽयं 'लोकः' चतुर्गतिकसंसारो भवाद्भवान्तरगतिलक्षणः प्राक् प्रसाधितः सुभगदुर्भगसुरूपमन्दरूपेश्वरदारिद्र्यादिगत्या जगद्वैचित्र्यलक्षणश्च स एवंभूतो लोकस्तेषां 'कुतो भवेत् ?' कयोपपत्त्या घटेत ? आत्मनोऽनभ्युपगमात्, न कथञ्चिदित्यर्थः, 'ते च' नास्तिकाः परलोकयायिजीवाऽनभ्युपगमेन पुण्यपापयोश्चाभावमाश्रित्य यत्किञ्चनकारिणोऽज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति, भूयोऽपि ज्ञानावरणादिरूपं महत्तरं तमः संचिन्वन्तीत्युक्तं भवति, यदिवा—तम इव तमो—दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद्यातनास्थानं तस्माद्—एवंभूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति, सप्तमनरकपृथिव्यां रौरवमहारौरवकालमहाकालाप्रतिष्ठानाख्यं नरकावासं यान्तीत्यर्थः। किमिति ?, यतस्ते 'मन्दा' जडा मूर्खाः, सत्यपि युक्त्युपपन्ने आत्मन्यसदभिनिवेशात्तदभावमाश्रित्य प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे—व्यापारे निश्चयेन नितरां वा श्रिताः—संबद्धाः, पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षतया[2]ऽऽरम्भनिश्रिता इति। तथा तज्जीवतच्छरीरवादिमतं निर्युक्तिकारोऽपि निग-

1 भवतो आ.। २. °पेक्षि° आ।

रम्, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, इह यद्यदादिमत्प्रतिनियताकारं तत्तद्विद्यमानकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यच्चाविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्, आदिमत्प्रतिनियताकारस्य च सकर्तृकत्वेन व्याप्तेः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्य विनिवृत्तिरिति सर्वत्र योजनीयम्। तथा विद्यमानाधिष्ठातृकानीन्द्रियाणि, करणत्वात्, यद्यदिह करणं तत्तद्विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टं, यथा दण्डादिकमिति, अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वानुपपत्तिः यथाऽऽकाशस्य, हृषीकाणां चाधिष्ठाताऽऽत्मा, स च तेभ्योऽन्य इति, तथा विद्यमानाऽऽदातृकमिदमिन्द्रियविषयसम्बन्धकम्, आदानादेयसद्भावात्, इह यत्र यत्राऽऽदानादेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता—ग्राहको दृष्टः, यथा सन्दंशकायस्पिण्डयोरयस्कार इति, यथाऽत्रेन्द्रियैः करणैर्विषयाणामादाता—ग्राहकः स तद्भिन्न आत्मेति, तथा विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं, भोग्यत्वादोदनादिवत्, अत्र च कुलालादीनां मूर्तत्वानित्यत्वसंहतत्वदर्शनादात्मापि तथैव स्यादिति धर्मिविशेषविपरीतसाधनत्वेन विरुद्धाशङ्का न विधेया, संसारिण आत्मनः कर्मणा सहान्योऽन्यानुगमात् कथञ्चिन्मूर्तत्वाभ्युपगमादिति, तथा यदुक्तम् 'नास्ति सत्त्वा औपपातिका' इति, तदप्ययुक्तं, यतस्तदहर्जातबालकस्य यः स्तनाभिलाषः सोऽन्याभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, कुमाराभिलाषवत्, तथा बालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, कुमारविज्ञानवत्, तथाहि—तदहर्जातबालकोऽपि यावत्स प्रताप स्तन इत्यत्र नावधारयति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने इति, अतोऽस्ति बालके विज्ञानलेशः, स चान्यविज्ञानपूर्वकः, तच्चान्यद्विज्ञानं भवान्तरविज्ञानं, तस्मादस्ति सत्त्व औपपातिक इति। तथा यदभिहितं 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यती'ति, तत्राप्ययमर्थो—'विज्ञानघनो' विज्ञानपिण्ड आत्मा 'भूतेभ्य उत्थाये'ति प्राक्तनकर्मवशाद्घटपटादिविषयकायाकारपरिणते भूत-

१ प्र. मत्कृते प्रतिनियत आकारः आम्नूरीकरियोपस्थितिनिवेशमात्रमत्नम्। २ बृहदारण्यके अ. २। ४ तमुत्र च।

भोग' इति चेद्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङ्मात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादेव, तथा नित्ये चावि-कारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥३४॥ ननु च भुजिक्रियामात्रेण प्रतिबिम्बोदयमात्रेण च यद्यप्यात्मा सक्रियः तथापि न तावन्मात्रेणास्माभिः सक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि ?, समस्तक्रियावत्त्वे सतीत्येतदाशङ्क्य निर्युक्तिकृदाह—

णं हु अफलथोवणिच्छितकालफलत्तणमिहं अदुमहेऊ। णादुद्ध थोवदुद्धत्तणे णगोवित्तणे हेऊ ॥३५॥

'न हु' नैवाफलत्वं द्रुमाभावे साध्ये हेतुर्भवति, नहि यदैव फलवांस्तदैव द्रुमः अन्यदा त्वद्रुम इति भावः, एवमात्मनोऽपि द्रुमा-द्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं तथापि नैतावता त्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेशमर्हति, तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाभावसाधना-यालं, स्वल्पफलोऽपि हि पनसादिर्वृक्षव्यपदेशभाग्भवति, एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रियावानेव, कदाचिदेषा मतिर्भवतो भवेत्-स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव, यथैककार्षापणधनो न धनित्व(व्यपदेश)मास्कन्दति, एवात्माऽपि स्वकल्पक्रियत्वादक्रिय इति, एतदप्यचारु, यतोऽयं दृष्टान्तः प्रतिनियतपुरुषापेक्षया चो(ऽत्रो)पगम्यते समस्तपुरुषापेक्षया वा ?, तत्र यद्याद्यः पक्षः तदा सिद्धसाध्यता, यतः— सहस्रादिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ अथ समस्तपुरुषापेक्षया तदसाधु, यतोन्यान् जरचीवरधारिणोऽपेक्ष्य कार्षापणधनोऽपि धनवानेव, तथाऽऽत्मापि यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुषक्रियापेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते न काचित्क्षतिः सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेव, इत्य-लमतिप्रसङ्गेन. एवमनिश्चिताकालफलत्वाख्यहेतुद्वयमपि न वृक्षाभावसाधकम् इत्यादि योज्यं, एवमदुग्धत्वस्तोकदुग्धत्वरूपावपि हेतू न

१ न अ. अ. । २ स्वल्पानिष्फल स॰ स. लघेनणिच्छय क॰ आ । ३ समदुद्धत्तण॰ अ. णादुद्ध॰ आ. । ४ ॰मात्र॰ अ. ॰माद्॰ आ. । ५ ॥३३॥ अ. आ. । ६ ॰क्रियxx [illegible] अ. । ७ चोपगते अ. चोपेतेह इ. । ८ स. चोपगते प० । ८ ॰त्वापि॰ध्वनि॰ आ इ. । ९ ॰कमित्याxयोज्य आ. इ. । १० हेतू गोत्वाभाव न सा॰ आ इ. ।

निर्युक्तिकार आह—'पञ्च'मित्यादिगाथा प्राग्वदत्रापि ॥३३॥ साम्प्रतमकारकवादिमतमाश्रित्यायमनन्तर(रोक्त)श्लोको भूयोऽपि व्याख्यायते—ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपपन्नाः तेषां य एष 'लोको' जरामरणशोकाक्रन्दनलक्षणो नरकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिरूपः सोऽयमेवंभूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावे 'कुतः' कस्माद्धेतोः स्यात् ?, न कथञ्चित्सङ्घटितः स्यादित्यर्थः, ततश्च ह्येते पापारूपात्तमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं—निकृष्टं यातनास्थानं यान्ति, किमिति ?, यतो 'मन्दा' जडा' प्राण्युपघातारम्भनिश्रिताश्च ते इति । अधुना निर्युक्तिकारोऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह—

को वेएइ अकयं ? कयनासो पंचहा गई नत्थि । देवमणुस्सगयागइ जाईसरणाइयाणं च ॥३४॥

आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, तत्थाकृतं को वेदयते ?, तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति, अथाकृतमप्यनुभूयेत तथा सत्यकृतागमकृतनाशापत्तिः स्यात्, ततश्च एककृतपातकेन सर्वः प्राणिगणो दुःखितः स्यात् पुण्येन च सुखी स्यादिति, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, तथा व्यापित्वान्नित्यत्वाच्चात्मनः 'पञ्चधा' पञ्चप्रकारा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरमोक्षलक्षणा गतिर्न भवेत्, ततश्च भवतां सांख्यानां काषायचीवरधारणशिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षाभोजित्वपञ्चरात्रोपदेशानुसारयमनियमाद्यनुष्ठानं, तथा "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । जटी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥" इत्यादि सर्वमपार्थकमाप्नोति तथा देवमनुष्यादिषु गत्यागती न स्यातां, सर्वव्यापित्वादात्मनः, तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणाभावाज्जातिस्मरणादिका च क्रिया नोपपद्यते, तथा आदिग्रहणात् 'प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते' इति भुजिक्रिया या समाश्रिता साऽपि न प्राप्नोति, तस्या अपि क्रियात्वादिति, अथ 'मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन

१ मन्दु भा. । २ ॥३२॥ ख. प्र. । ३ पुण्येषु भा. । ४ पतेऽकारि भा. ६ । ५ भिन्नता' भा. ६ ।

यदिवा—'दुहओ'त्ति द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतनाचेतनरूपान्न विनश्यन्तीति, तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि स्वरूपापरित्याग-
तया नित्यानि, 'न कदाचिदनीदृशं जगदि'तिकृत्वा, आत्माऽपि नित्य एव, अकृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः, तथा चोक्तम्—"नैनं छिन्द-
न्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः, न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥" अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । नित्यः
सततगः[1] स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२॥" एवं च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सद्भावात् असति च कारकव्यापाराभावात् सत्का-
र्यवादः[2], यदि[3] च असदुत्पद्येत खरविषाणादेरप्युत्पत्तिः स्यादिति, तथा चोक्तम्—"असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्त-
स्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥१॥" एवं च कृत्वा मृत्पिण्डेऽपि घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात्, यदि चासदुत्प-
द्येत ततो यतः कुतश्चिदेव स्यात्, नावश्यमेतदर्थिना मृत्पिण्डोपादानमेव क्रियेत इति, अतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति । एवं च
कृत्वा सर्वेऽपि भावाः—पृथिव्यादय आत्मषष्ठाः 'नियतिभावं' नित्यत्वमागता नाभावरूपतामभूत्वा च भावरूपतां प्रतिपद्यन्ते, आवि-
र्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति, तथा चाभिहितम्—'नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः' ईत्यादि[4], अस्योत्तरं नि-
र्युक्तिकृदाह—'को वेएई' त्यादिप्राक्तन्येव गाथा, सर्वपदार्थनित्यत्वाभ्युपगमे कर्तृत्वपरिणामो न स्यात्, ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे[5] कर्मब-
न्धाभावस्तदभावाच्च[6] को वेदयति ?, न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः, एवं च सति कृतनाशः स्यात्, तथा असतश्चोत्पादाभावे
ऽस्यात्मनः पूर्वभवपरित्यागेनापरभवोत्पत्तिलक्षणा पञ्चधा गतिरुच्यते सा न स्यात्, ततश्च[7] मोक्षगतेरभावाद्दीक्षादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थ-
कमापद्येत, तथाऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वे चात्मनो देवमनुष्यगत्यागती तथा विस्मृतेरभावात् जातिस्मरणादिकं च न प्राप्नोति,

सा. १ °सदाक्षोऽयं° प्र० । २ सर्वगतः प्र० । ३ °दिवासदु° आ. । ४ इति आ. । ५ °र्मवत्स्वाभा° आ. । ६ °स्वभावात् को° आ. । ७ पञ्चमसोक्ष° आ. ।

[illegible] स्टानितयोजना यर्थेति ॥१५॥ [illegible] मात्मनमा मणष्टादिमन पूर्वपगपितुमाह—

[illegible] महब्भूया, इत्यमेगेसि आहिया। आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥१५॥

[illegible] पृथिव्यादीनि '[illegible]' अस्मिन्नाभारे 'एकषां' वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणां च, एतद् [illegible] पूर्वावि, ते च [illegible] —एषमाख्यातवन्तः, यथा 'आत्मषष्ठानि' आत्मा षष्ठो येषां तानि आत्म [illegible] भूतानि यथाऽन्यत्रा [illegible] नामनित्यानि तथा नामीत्यामिति दर्शयति—आत्मा 'लोकश्च' [illegible] सांख्यानां, [illegible] आत्मनस्त्वं, पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युतेरविन [illegible] धुव [illegible]—

दुहओ न विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं। सव्वेऽवि सव्वहा भावा, नियत्तीभावमागया ॥१६॥

[illegible] निर्हेतुकसहेतुकविनाशद्वयेन न विनश्यन्ति, यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको [illegible] नाशात्, विनाश [illegible]। यो [illegible] न च [illegible], [illegible] ॥१॥" [illegible] विनाश [illegible], [illegible] विनाशन मोक्षत्वनोर्न विनाश इति सांख्याग:,

[illegible]

भावो वा ?, यद्यविनश्वरस्ततस्तद्व्यापिन्याः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात् पदार्थस्यापि व्याप्यस्याभावः प्रसजति, तथाहि—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति, स च नित्योऽर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण वा प्रवर्तेत यौगपद्येन वा ?, न तावत्क्रमेण, यतो ह्येकस्या अर्थक्रियायाः काले तस्यापरार्थक्रियाकरणस्वभावो विद्यते वा न वा ?, यदि विद्यते किमिति क्रमकरणं ?, सहकार्यपेक्षयेति चेत्[2] तेन सहकारिणा तस्य कश्चिदतिशयः क्रियते न[3] वा ?, यदि क्रियते किं पूर्वस्वभावपरित्यागेनापरित्यागेन वा ?, यदि परित्यागेन ततोऽतादवस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम्, अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन ततोऽतिशयाभावात्किं सहकार्यपेक्षया ?, अथ अकिञ्चित्करोऽपि विशिष्टकार्यार्थमपेक्षते, तदयुक्तं, यतः, "अपेक्षेत परं कश्चिद्यदि कुर्वीत किञ्चन । यदकिञ्चित्करं वस्तु, किं केनचिदपेक्ष्यते ? ॥१॥" अथ तस्यैकार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते, तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः, अथासौ नित्यो यौगपद्येनार्थक्रियां कुर्यात् तथा सति प्रथमक्षण एवाशेषार्थक्रियाणां करणात् द्वितीयक्षणेऽकर्तृत्वमायातं, तथा च सैवानित्यता, अथ तस्य तत्स्वभावत्वात्त एवार्थक्रिया भूयो[4] भूयो द्वितीयादिक्षणेष्वपि कुर्यात्, तदसाम्प्रतं, कृतस्य करणाभावादिति, किंच—द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्स्वभावत्वात्, अतत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वापत्तिरिति । तदेवं नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति । अथानित्यस्वभावः समुत्पद्यते, तथा च सति विनाशभावादायातमसदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वं, तथा चोक्तम्—"जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च ?, ॥१॥" ननु च सत्यप्यनित्यत्वे यस्य यदा विनाशहेतुसद्भावस्तस्य तदा विनाशः, तथा च स्वविनाशकारणापेक्षाणामनित्याना-

१ °मार्थ×° आ. । २ चेन्न आ । ३ वा नवा आ. इ. । ४ °भूयो×× ° आ. इ. । ५ °र्थक्रिया प्र० आ. । °र्थसार्था प्र० इ. ।

यथोक्तं 'सदेवोत्पद्यते' तदप्यसत्, यतो यदि सर्वथा सदेव कथमुत्पादः ?, उत्पादश्चेत् न तर्हि सर्वदा सदिति, तथा चोक्तम्—"कर्म गुणव्यपदेशाः प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्। कार्यमसद्विज्ञेयं क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम् ॥१॥" तस्मात्सर्वपदार्थानां कथञ्चिन्नित्यत्वं कथञ्चिदनित्यत्वं सदसत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यं, तथा चाभिहितम्—"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः। सत्योश्चित्यप चित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ॥१॥" इति, तथा "नान्वयः स हि भेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः। मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिर्जात्यन्तरं घट ॥१॥" ॥१६॥ साम्प्रतं बौद्धमतं पूर्वपक्षयन्निर्युक्तिकारोपन्यस्तमफलवादाधिकारमाविर्भावयन्नाह—

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो। अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

'एके' केचन वादिनो बौद्धाः 'पञ्चस्कन्धान् वदन्ति' रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराख्याः पञ्चैव स्कन्धा विद्यन्ते नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति, तत्र रूपस्कन्धः पृथिवीधात्वादयो रूपादयश्च १ सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना वेदनास्कन्धः २ रूपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादि विज्ञानं विज्ञानस्कन्धः ३ संज्ञास्कन्धः संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणात्मकः प्रत्ययः ४ संस्कारस्कन्धः पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदाय इति ५। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽध्यक्षेणाध्यवसीयते, तदव्यभिचारिलिङ्गग्रहणाभावात्, नाप्यनुमानेन, न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमपरमविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीत्येवं बाला इव बाला—यथाऽवस्थितार्थापरिज्ञानात् बौद्धाः प्रतिपादयन्ति, तथा ते स्कन्धाः 'क्षणयोगिनः' परमनिरुद्धः कालः—क्षणः क्षणेन योगः—संबन्धः क्षणयोगः स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः क्षणमात्रावस्थायिन इत्यर्थः, तथा च तेऽभिदधति—स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यतेऽविनश्वरस्व

१ चोदितो च। २ कन्नो कन्नो च। ३ वेदनं च। ४ चीऽपनयो च। ५ "ज्यो ०० निमित्तो च। ६ "मिदम्ः च।

पृथिवी धातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति, धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम्, 'एगओत्ति' यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं बिभ्रति कायाकारतया तदा जीवव्यपदेशमश्नुवते, तथा चोचुः—'चतुर्धातुकमिदं शरीरं, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्ती'ति, 'एवमाहंसु यावरेत्ति' अपरे बौद्धविशेषा एवम् 'आहुः' अभिहितवन्त इति, क्वचिद् 'जाणगा' इति पाठः, तत्राप्ययमर्थो'जानका' ज्ञानिनो वयं[2] किलेत्यभिमानाग्निदग्धाः सन्त एवमाहुरिति संबन्धनीयम् । अफलवादित्वं चैतेषां क्रियाक्षण एव कर्तुः सर्वात्मना नष्टत्वात् क्रियाफलेन सबन्धाभावादवसेयं, सर्व एव वा पूर्ववादिनोऽफलवादिनो द्रष्टव्याः, कैश्चिदात्मनो नित्यस्याविकारिणोऽभ्युपगतत्वात् कैश्चित्त्वात्मन एवानभ्युपगमादिति। अत्रोत्तरदानार्थं प्राक्तन्येव निर्युक्तिगाथा 'को वेए' इत्यादि व्याख्यायते, यदि पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते ततस्तदभावात्सुखदुःखादिकं कोऽनुभवतीत्यादिगाथा प्राग्वद्व्याख्येयेति, तदेवमात्मनोऽभावाद्योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवत्विति चिन्त्यतां, ज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेत्, न, तस्यापि क्षणिकत्वात्, ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात् सुखदुःखानुभवाभावः, क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तासंगतेः कृतनाशाकृताभ्यागमापत्तिरिति, ज्ञानसंतान एकोऽस्तीति चेत् तस्यापि संतानिव्यतिरिक्तस्याभावाद्यत्किञ्चिदेतत्, पूर्वक्षण एव उत्तरक्षणे वासनामाधाय विनङ्क्ष्यतीति चेत्, तथा चोक्तम्—"यस्मिन्नेव हि संताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव [5]संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा ॥१॥" अत्रापीदं विकल्प्यते—सा वासना किं क्षणेभ्यो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा ?, यदि व्यतिरिक्ता वासकत्वानुपपत्तिः, अथाव्यतिरिक्ता क्षणवत् क्षणक्षयित्वं तस्याः, तदेवमात्माभावे सुखदुःखानुभवाभावः स्याद्, अस्ति च सुखदुःखानुभवो, अतोऽस्त्यात्मेति, अन्यथा पञ्चविषयानुभवोत्तरकालमिन्द्रियज्ञानानां स्वविष-

१ °स्त्येवमाद° आ °स्त्येवमाह° इ.। २ °नः किल वयमित्य° आ. इ.। ३ पूर्वतन्येव आ। ४ इत्येषा आ इ.। ५ सत्ताने क० आ. सधत्ते क° इ.।

मपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमिति, एतच्चाऽनुपासितगुरोर्वचः, तथाहि—तेन मुद्गरादिकेन विनाशहेतुना घटादेः किं क्रियते ?, किमत्र प्रष्टव्यम् ? अभावः क्रियत, अत्र च प्रष्टव्यो देवानांप्रियः, अभाव इति किं पर्युदासप्रतिषेधोऽयमुत प्रसज्यप्रतिषेध इति ?, तत्र यदि पर्युदासस्ततोऽयमर्थो—भवतदन्योऽभावो भावान्तरं—घटात्पटादि सोऽभाव इति, तत्र भावान्तरे यदि मुद्गरादिव्यापारो न तर्हि तेन किञ्चिद् घटस्य कृतमिति, अथ प्रसज्यप्रतिषेधस्तदाऽयमर्थो—विनाशहेतुरभावं करोति, किमुक्तं भवति ?—भावं न करोतीति, ततश्च क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्यात्, न च घटादेः पदार्थस्य मुद्गरादिना करणं, तस्य स्वकारणैरेव कृतत्वात्, अथ भावाभावोऽभावस्तं करोतीति, तस्य तुच्छस्य नीरूपत्वात् कुतस्तत्र कारकाणां व्यापारः ?, अथ तत्रापि कारकव्यापारो भवेत् खरविषाणादावपि व्याप्रियेरन् कारकाणीति। तदेवं विनाशहेतोरकिञ्चित्करत्वात् स्वहेतुत एवानित्यताङ्गीकृतानां पदार्थानामुत्पत्तेर्विनाशहेतोरभावात् क्षणिकत्वमवस्थितमिति। तदेभ्यः पूर्ववादिभ्योऽस्य व्यतिरेकप्रदर्शका, तमेव श्लोकपश्चार्धेन दर्शयति—'खण्णो अखण्णो' इति ते हि बौद्धा यथाऽऽत्मषष्ठवादिनः सांख्यादयो भूतव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तो यथा च चार्वाका भूताव्यतिरिक्तं चैतन्याख्यमात्मानमिष्टवन्तस्तथा 'नैवा हु' नैवोक्तवन्तो, तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः कायाकारपरिणतभूतनिष्पादित इत्येवमत्, तथाऽहेतुकोऽनाद्यपर्यवसितत्वाभित्य इत्येवं तमात्मानं ते बौद्धा नाभ्युपगतवन्त इति ॥१७॥ तथाऽपरे बौद्धाश्चातुर्धातुकमिदं जगदाहुरित्येतद्दर्शयितुमाह—

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ। चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे ॥१८॥

१ क्षण× मं ङ। २ अर्धो देवानांप्रिया च. देवानां च महासे प्रिया: ङ। ३ तेऊ× ड तेऊयं आ। ४ ड आ। ५ एवम ड. एवमी आ।
१ यादं च. आ। ७ पमना ड आ।

ऐवैककालताऽऽश्रिता, तथाहि—याऽसौ विनश्यदवस्था साऽवस्थातुरभिन्ना उत्पादावस्थाऽप्युत्पित्सोः, ततश्च तयोर्विनाशोत्पादयोर्यौगपद्याभ्युपगमे तद्धर्मिणोरपि पूर्वोत्तरक्षणयोरेककालावस्थायित्वमिति, तद्धर्मताऽनभ्युपगमे च विनाशोत्पादयोरवस्तुत्वापत्तिरिति। यच्चोक्तम्—'जातिरेव हि भावानामि'त्यादि, तत्रेदमभिधीयते—यदि जातिरेव—उत्पत्तिरेव भावानां—पदार्थानामभावे हेतुः, ततोऽभावकारणस्य सन्निहितत्वेन विरोधेनाघ्रातत्वादुत्पत्त्यभावः, अथोत्पत्त्युत्तरकालं विनाशो भविष्यतीत्यभ्युपगम्यते, तथा सति उत्पत्तिक्रियाकाले तस्याभूतत्वात्पश्चाच्च भवन्ननन्तर एव भवति न भूयसा कालेनेति किमत्र नियामकं?, विनाशहेत्वभाव इति चेत्, यत उक्तं—'निर्हेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावादनुबन्धित'ति, एतदप्ययुक्तं, यतो घटादीनां मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेव विनाशो भवन् लक्ष्यते, ननु चोक्तमेवात्र तेन मुद्गरादिना घटादेः किं क्रियते?, इत्यादि, सत्यमुक्तं इदमयुक्तं तूक्तं, तथाहि—अभाव इति प्रसज्यपर्युदास विकल्पद्वयेन योऽयं विकल्पितः पक्षद्वयेऽपि च दोषः प्रदर्शितः सोऽदोष एव, यतः पर्युदासपक्षे कपालाख्यभावान्तरकरणे घटस्य च परिणामानित्यतया तद्रूपतापत्तेः, कथं मुद्गरादेर्घटादीन् प्रत्यकिञ्चित्करत्वं?, प्रसज्यप्रतिषेधस्तु भावं न करोतीति क्रियाप्रतिषेधात्मकोऽत्र नाश्रीयते, किं तर्हि?, प्रागभावप्रध्वंसाभावेतरेतरात्यन्ताभावानां चतुर्णां मध्ये प्रध्वंसाभाव एवेहाश्रीयते, तत्र च कारकाणां व्यापारो भवत्येव, यतोऽसौ वस्तुतः पर्यायोऽवस्थाविशेषो नाभावमात्रं, तस्य चावस्थाविशेषस्य भावरूपत्वात्पूर्वोपमर्देन च प्रवृत्तत्वाद्य एव कपालादेरुत्पादः स एव घटादेर्विनाश इति विनाशस्य सहेतुकत्वमवस्थितम्, अपिच—कादाचित्कत्वेन विनाशस्य सहेतुकत्वमवसेयमिति, पदार्थव्यवस्थार्थं चावश्यमभावचातुर्विध्यमाश्रयणीयं, तदुक्तम्—"कार्यद्रव्यमनादिः स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे। प्रध्वंसस्य चाभावस्य, प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१॥

१ यथो° आ.। २ °सेवश्ते° आ। ३ इति आ। ४ वस्तुन. आ. ६। सा. ५ च भावस्य प०।

सर्वस्मिन्‌ सदेके स्याद्न्यापोह्यतिक्रमे" इत्यादि। तदेवं क्षणिकस्य विचाराक्षमत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव ज्यायानिति। एवञ्च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारो भवान्तरयायी भूतेभ्य कथञ्चिदन्य एव शरीरेण सहान्योऽन्यानुवेधादनन्योऽपि, तथा सहेतुकोऽपि नार कतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति, तथाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोऽपीति।

तन्न शरीरव्यतिरिक्तस्य सात्

पञ्च

' पञ्चभूतमात्रं शरीरमेवेदमि'त्येतदुन्मत्तप्रलपितमपकर्णयितव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति ॥१८॥

क्षणिकपञ्चस्कन्धवादिनामफलवादित्वं वक्तुकाम' सूत्रकारस्तेषां स्वदर्शनफलाभ्यु

स्सया। इम दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥१९॥

वा' तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः, 'आरण्या वा' तापसादय', 'प्रव्रजिताश्च' शाक्यादय, अपि सं

यथा—'इदम्' अस्मदीय दर्शनम् 'आपन्ना' आश्रिताः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्ते, आर्षत्वादेकवचन सूत्रे कृतं,

तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशय—यथेदमस्मदीय दर्शने ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेभ्यः शिरस्तुण्डमुण्डन-

लोलुञ्चनतान्यसपमरणकायक्लेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यन्ते, तथा चोक्त'—"तपांसि यातनाश्चित्रा',

न लभ्यत ॥१॥" इति, सांख्यादयस्तु मोक्षवादिन एवं समाश्रयन्ति—यथा येऽ

१ पा.४ एभ्योपरि[illegible] च. [illegible] उपसमाश्रि[illegible]ति भावाप्यर्थिम अभ्याम

-सदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैतपञ्चस्कन्धादिप्रतिपादकमापन्नाः प्रव्रजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणगर्भपरम्पराऽनेकशारीरमानसातितीव्रतरासातोदयरूपेभ्यो दुःखेभ्यो विमुच्यन्ते, सकलद्वन्द्वविनिर्मोक्षं मोक्षमास्कन्दन्तीत्युक्तं भवति ॥१९॥ इदानीं तेषामेवाफलवादित्वाविष्करणायाह—

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराऽऽहिया[3] ॥२०॥

ते णावि संधिं णच्चा[1] णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा[5] ॥२१॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते गब्भस्स पारगा ॥२२॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ॥२४॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा। जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥२५॥

ते–पञ्चभूतवाद्याद्याः 'नापि' नैव 'सन्धि' छिद्रं–विवरं, स च द्रव्यभावभेदाद्द्वेधा, तत्र द्रव्यसन्धिः कुड्यादेः भावसन्धिश्च ज्ञानावरणादिकर्मविवररूपः तमज्ञात्वा ते प्रवृत्ताः, णमिति वाक्यालङ्कारे, यथा आत्मकर्मणोः सन्धिर्द्विधाभावलक्षणो भवति तथा अबुद्ध्वैव ते

---

१ न° अ। २ °विऊ अ आ.। ३ उह° अ। ४ वातिणो अ. आ.। ५ °पारया आ.।

सर्वात्मकं तदेकं स्याद्न्यापोहव्यतिक्रमे" इत्यादि । तदेवं क्षणिकस्य विचारासहत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव न्यायानिति । एवञ्च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारो भवान्तरयायी भूतेभ्यः कथञ्चिदन्य एव शरीरेण सहान्योऽन्यानुवेधादनन्योऽपि, तथा सहेतुकोऽपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति, तथाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोऽपीति । आत्मनश्च शरीरव्यतिरिक्तस्य साधितत्वात् 'चतुर्धातुकमात्रं शरीरमेवेदमि'त्येतदुन्मत्तप्रलपितमपकर्णयितव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति ॥१८॥ साम्प्रतं पञ्चभूतात्माद्वैततज्जीवतच्छरीराकारकात्मषष्ठक्षणिकपञ्चस्कन्धवादिनामफलवादित्वं वक्तुकामः सूत्रकारस्तेषां स्वदर्शनफलाभ्युपगमं दर्शयितुमाह—

अगारमावसंतावि, अरण्णा वावि पव्वया । इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥१९॥

'अगारं' गृहं तद् 'आवसन्तः' तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः, 'आरण्या वा' तापसादयः, 'प्रव्रजिताश्च' शाक्यादयः, अपिः संभावने, इद ते संभावयन्ति यथा—'इदम्' अस्मदीयं दर्शनम् 'आपन्ना' आश्रिताः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्ते, आर्षत्वादेकवचनं सूत्रे कृतं, तथाहि—पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशय—यथेदमस्मदीयं दर्शनं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेभ्यः शिरस्तुण्डमुण्डनदण्डाजिनजटाकाषायचीवरधारणकेशोल्लुञ्चननाग्न्यतपश्चरणकायक्लेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यन्ते, तथा चोक्तं—"तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चनम् । अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥१॥" इति, सांख्यादयस्तु मोक्षवादिन एव संभावयन्ति—यथा येऽ-

१ मार्ग व. बा । २ आरण्य व. आरण्य बा । ३ विमुच्चती बा. । प्रा. ४ पवर्गमेव रेव तथो चेव सिर्वति । ५ पव्वOOOणी बा । ६ ×××ई बा । ७ नाम्नया इ. । [illegible]

यःशाल्मलीसमालिङ्गनादीनि तिर्यक्षु च शीतोष्णदमनाङ्कनताडनाऽतिभारारोपणक्षुत्तृडादीनि मनुष्येषु इष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगशोकाक्रन्दनादीनि देवेषु चाभियोग्येर्ष्याकिल्बिषिकत्वच्यवनादीन्यनेकप्रकाराणि दुःखानि ये एवंभूता वादिनस्ते पौनः पुन्येन समनुभवन्ति, एतच्च श्लोकार्द्धं सर्वेषूत्तरश्लोकार्धेष्वायोज्यम्, शेषं सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥२६॥ नवरम् 'उच्चावचानी'ति अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति, गच्छन्तो भ्रमन्तो गर्भाद्गर्भमेष्यन्ति यास्यन्त्यनन्तशो निर्विच्छेदमिति ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह—ब्रवीम्यहं तीर्थकराज्ञया, न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि येन मया तीर्थङ्करसकाशाच्छ्रुतम्, एतेन च क्षणिकवादिनिरासो द्रष्टव्यः ॥२७॥ इति समयाख्यप्रथमाध्ययने प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐 卐 卐

अथ प्रथमाध्ययने द्वितीय उद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकस्तदनु द्वितीयोऽभिधीयते, तस्य चायमभिसंबन्धः—इहानन्तरोद्देशके स्वसमयपरसमयप्ररूपणा कृता, इहाप्यध्ययनार्थाधिकारत्वात्सैवाभिधीयते, यदिवाऽनन्तरोद्देशके भूतवादादिमतं प्रदर्श्य तन्निराकरणं कृतं, तदिहापि तदवशिष्टनियतिवाद्यादिमिथ्यादृष्टिमतान्युपदर्श्य निराक्रियन्ते, अथवा प्रागुद्देशकेऽभ्यधायि यथा 'बंधनं बुध्येत तच्च त्रोटयेदिति' तदेव च बन्धनं नियति-

१ °ष्यमदनाङ्कनताडना आ °णदहनमदनाङ्कनताडना इ.। २ निष्टस× आ.। ३ °योग्येषा° आ. योग्येर्ष्य° इ.। ४ निर्वेद° आ। ५ ग्रन्थाग्रं९६५ आ. ग्रन्थाग्रं२०५ इ.। ६ °दिसमय आ.।

सराक्ता दुःखमोक्षार्थमभ्युपता इत्यर्थः, यथा त एवमूतास्तथा प्रतिपादितं लेशतः प्रतिपादयिष्यते च, यदिवा—सन्धान सन्धिः—उत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं तदमात्वा प्रवृत्ता इति, यतश्चैवमतस्ते न सम्यग्धर्मपरिच्छेदे कर्तव्ये विद्वांसो—निपुणा 'जनाः' पञ्चभूतास्तित्वादिवादिनो लोका इति, तथाहि—क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवान्यथाऽन्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति, यत्फलाभावाच्च तेषामफलादित्वं सदुत्तरग्रन्थेनोद्देशकपरिसमाप्त्यवसानेन दर्शयति—'ये ते त्विति' तुशब्दमशब्दार्थे य इत्यस्यानन्तरं प्रयुज्यते, ये च ते एवमनन्तरोक्तप्रकारवादिनो नास्तिकादयः, 'ओघो' भवौघः संसारस्तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति श्लोकार्थः ॥२०॥ तथा च न ते वादिनः संसारगर्भजन्मदुःखमारादिपारगा भवन्तीति ॥२१॥२२॥२३॥२४॥२५॥ यत्पुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्दर्शयितुमाह—

नाणाविहाइ दुक्खाइ, अणुहोंति[1] पुणो पुणो । ससारचक्कवालंमि, मच्चुवाहिजराकुले ॥२६॥
उच्चावयाणि[2] गच्छंता, गब्भमेस्संति णंतसो । नायपुत्ते महावीरे, एवमाहं जिणोत्तमे ॥२७॥

इति बेमि पढमज्झयणे पढमो उद्देसो समत्तो ॥

'नानाविधानि' बहुप्रकाराणि 'दुःखानि' असातोदयलक्षणान्यनुभवन्ति पुनः पुनः, तथाहि—नरकेषु करपत्रदारणकुम्भीपाकतप्ता

१ ××मर्थक: अ. इ । छ. २ भवचारं धर्म चू. । ३ तथा× आ. इ । ४ नाणा आ । ५ भवंति अ. हवंति च्च. । ६ भवमाहि च. वाहिमच्चुम आ. । ७ एवं मरणम आ. । ८ 'मेरसंत अ. 'मेसंत आ. । ९ नाय अ. × आ. । १० मारि अ. ×आ. । ११ ×××मपमोद्देसक: ।ता।ता च ××मम मज्झयणे पढमो उद्देसओ× ।।छ।। आ. ।

तदाह—'जीवाः' प्राणिनः सुखदुःखभोगिनः, अनेन च पञ्चस्कन्धातिरिक्तजीवाभावप्रतिपादकबौद्धमतापक्षेपः कृतो द्रष्टव्यः, तथा ते जीवाः 'पृथक्' पृथक् प्रत्येकदेहे[1] व्यवस्थिताः सुखं दुःखं च 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति, न वयं प्रतिप्राणि प्रतीतं सुखदुःखानुभवं निह्नुमहे, अनेन चाकर्तृवादिनो निरस्ता भवन्ति, अकर्तर्यविकारिण्यात्मनि सुखदुःखानुभवानुपपत्तेरिति भावः। तथैतदस्माभिर्नापलप्यते 'अदुवे' ति अथवा ते प्राणिनः सुखं दुःखं चानुभवन्ति, 'विलुप्यन्ते'[2] उच्छिद्यन्ते[3] स्वायुषः प्रच्याव्यन्ते स्थानात्स्थानान्तरं संक्राम्यन्त इत्यर्थः, ततश्चौपपातिकत्वमप्यस्माभिस्तेषां न निषिध्यते इति श्लोकार्थः ॥१॥ तदेवं पञ्चभूतास्तित्वादिवादिनिरासं कृत्वा यत्तैर्नियतिवादिभिराश्रीयते तच्छ्लोकद्वयेन दर्शयितुमाह—

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ[4] अन्नकडं च णं ?। सुहं वा जइ[5] वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥

सयं[6] कडं न अण्णेहिं, वेदयंति[7] पुढो जिया। संगइअं[8] तं तहा तेसिं, इहमेगेसि आहिअं ॥३॥

यत् तैः प्राणिभिरनुभूयते सुखं दुःखं स्थानविलोपनं वा न तत् 'स्वयम्' आत्मना पुरुषकारेण 'कृतं' निष्पादितं दुःखमिति कारणे कार्योपचारात् दुःखकारणमेवोक्तम्, अस्य चोपलक्षणत्वात् सुखाद्यपि ग्राह्यं, ततश्चेदमुक्तं भवति—योऽयं सुखदुःखानुभवः स पुरुषकारकृतकारणजन्यो न भवतीति, तथा कुतः 'अन्येन' कालेश्वरस्वभावकर्मादिना च कृतं भवेत् 'ण'मित्यलङ्कारे तथाहि—यदि पुरुषकारकृतं[9] सुखाद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकादीनां समाने पुरुषाकारे[10] सति फलप्राप्तिर्विसदृश्यं फलाप्राप्तिश्च न भवेत्, कस्यचित्तु सेवादिव्या-

---

१ °क देह आ °क देह° इ.। २ °न्तो विलु° आ. °न्तोपिविलु° इ.। ३ उच्छिद्यन्ते आ.। ४ कउ अ.। ५ जाति अ.। ६ न सय अ. आ.। ७ वेवयति अ। ८ संगतिय अ.। ९ कृतंXXXदु.ख० आ.। १० °कार XX कार° आ.।

र्याभिप्रायेण न विद्यत इति प्रदर्श्यते—तदेवमनेकस्य येनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्य सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

आघाय पुण एगेसिं, उववण्णा पुढो जिया। वेदयति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पति ठाणउ ॥१॥

अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रैः संबन्धो वक्तव्यः, तत्रानन्तरसूत्रसंबन्धोऽयम्—इहानन्तरसूत्रे इदमभिहितं, यथा 'पञ्चभूतस्कन्धादिवादिनो मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मानोऽसद्ग्रहाभिनिविष्टाः परमार्थावबोधविकलाः सन्तः संसारचक्रवाले व्याधिमृत्युजराकुले उच्चावचानि स्थानानि गच्छन्तो गर्भमेष्यन्त्यन्वेषयन्ति चाऽनन्तश' इति, तदिहापि नियत्यज्ञानविज्ञानचतुर्विधकर्मोपचयवादिनां तदेव संसारचक्रवालभ्रमणमनन्वेषणं प्रतिपाद्यते। परम्परसूत्रं तु 'बुज्झेज्जे'त्यादि, तेन च सहाय संबन्धः—तत्र बुध्येतेत्येतत् प्रतिपादितम्, इहापि यदाख्यातं निपतिवादिभिस्तद्बुध्येत, इत्येवं मध्यसूत्रैरपि यथासंभवं संबन्धो लगनीय इति तदेवं पूर्वोत्तरसंबन्धसंबद्धस्यास्य सूत्रस्याधुनाऽर्थः प्रतन्यते—पुनःशब्दः पूर्ववादिभ्यो विशेषं दर्शयति, नियतिवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातं, अत्र च 'अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्ती'ति ख्यातेर्भावे निष्ठाप्रत्यय' तद्योगे कर्तरि षष्ठी तत्रायमर्थः—तैर्नियतिवादिभिः पुनरिदमाख्यातं, तेषामयमाशय इत्यर्थः, तद्यथा—'उपपन्ना' युक्त्या घटमानका इति, अनेन च पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिमतमपाकृतं भवति, युक्तिस्तु लेशतः प्रदर्शितैव प्रदर्शयिष्यते च, पृथक् पृथक् नारकादिभवेषु शरीरेषु वेति, अनेनाप्यात्माद्वैतवादिनिरासोऽवसेयः, के पुनस्ते पृथगुपपन्नाः?,

१ °ज्झेज्जेति ख.। २ °च्च ख.। ३ °लो ख.। ४ 'मिथ्यामिथ्यार्थीयपर्यन्त' का. 'मिथ्यामिथ्यार्थीयपर्यन्त' ख.। सा. ५ च कर्मनियत प्र. । ६ बुज्झे स्थरे ख. बुज्झेज्ज इत्यादि ख.। ७ यथाख्यातं ख. इ.। ८ °वेतच्च ख. इ.।

प्राणिन इति। कथं तर्हि तत्तेषामभूत् ? इति नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति–'संगइयंति' सम्यक्स्वपरिणामेन गतिः—यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा संगतिः—नियतिस्तस्यां भवं सांगतिकं, यतश्चैवं न पुरुषकारादिकृतं सुखदुःखादि अतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं सांगतिकमित्युच्यते, 'इह' अस्मिन् सुखदुःखानुभववादे[1] एकेषां वादिनाम् 'आख्यातं' तेषामयमभ्युपगमः, तथा चोक्तम्—
"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥" ॥३॥ एवं श्लोकद्वयेन नियतिवादिमतमुपन्यस्यास्योत्तरदानायाह—

एवमेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो[2]। निययानिययं संतं, अयाणंतो[3] अबुद्धिया ॥४॥

एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ। एवं उवट्ठिआ[4] संता, ण ते दुक्खविमोक्खया[5] ॥५॥

'एवम्' इति अनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने 'एतानि' पूर्वोक्तानि नियतिवादाश्रितानि वचनानि 'जल्पन्तः' अभिदधतो बाला इव 'बालाः' अज्ञाः सदसद्विवेकविकला अपि सन्तः 'पण्डितमानिन' आत्मानं पण्डितं मन्तुं शीलं येषां ते तथा, किमिति त एवमुच्यत ? इति तदाह–यतो 'निययानिययं संतमिति' सुखादिकं किञ्चिन्नियतिकृतम्–अवश्यंभाव्युदयप्रापितं तथा अनियतम्–आत्मपुरुषकारेश्वरादिप्रापितं सत् नियतिकृतमेवैकान्तेनाश्रयन्ति, अतोऽजानानाः सुखदुःखादिकारणं अबुद्धिका–बुद्धिरहिता भवन्तीति, तथाहि–आर्हतानां किञ्चित्सुखदुःखादि नियतित एव भवति—तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरेऽवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतमित्युच्यते, तथा किञ्चिदनियतिकृतं च—पुरुषकारकालेश्वरस्वभावकर्मादिकृतं, तत्र[6] कथञ्चित्सुखदुःखादेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रीयते, यतः क्रियातः फलं

१ °वादी एकेषां आ.। २ नाणिणो अ.। ३ आयाणता अ. अजाणता आ.। ४ पुवट्ठिता अ. पुवट्ठिया आ.। ५ °मोयगा अ.। ६ तथा आ.।

पागभावेऽपि विशिष्टफलावाप्तिर्दृश्यत इति, अतो न पुरुषकारात्किञ्चिदासाद्यते, किं तर्हि?, नियतेरेवेति, एतच्च द्वितीयश्लोकान्तेऽभिधा
स्यन नापि स्वभावः फला, तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्यानुपपत्तेः, कारणभेदे हि कार्यभेदो भवति नाभेदे, तथाहि—अयमेव हि भेदो
भेदहेतुर्वा यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च, सर्वेश्वरकर्तृकेऽपि सुखदुःखे न भवतः, यतोऽसावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा ?, यदि
मूर्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः, अथामूर्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम्, अपिच—यद्यसौ रागादिमांस्ततोऽस्म
दादिव्यतिरेकादिमत्त्वाकज्जन, अथासौ विगतरागस्ततस्तत्कृत सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्रादि जगद्वैचित्र्यं न घटां प्राञ्चति, ततो नेश्वरः कर्तेति,
तथा स्वभावस्यापि सुखदुःखादिकर्तृत्वानुपपत्तिः, यतोऽसौ स्वभावः पुरुषाद्भिन्नोऽभिन्नो वा ?, यदि भिन्नो न पुरुषाश्रिते सुखदुःखे क
र्तुमलं, भिन्नत्वादिति, नाप्यभिन्नः अभेदे पुरुष एव स्यात्, तस्य चाकर्तृत्वमुक्तमेव। नापि कर्मणः सुखदुःखं प्रति कर्तृत्वं घटते,
यतस्तत्कर्म पुरुषात्किमभिन्नं भिन्नं वा भवेत् ?, अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रतापत्तिः कर्मणः, तत्र चोक्तो दोषः, अथ भिन्नं तत्किं सचेतनमचेतन
वा ?, यदि सचेतनमकस्मिन् काये चैतन्यद्वयापत्तिः, अथाचेतनं तथा सति कुतस्तस्य पाषाणखण्डस्येवास्वतन्त्रस्य सुखदुःखोत्पादनं प्रति
कर्तृत्वमिति, एतच्चोत्तरत्र व्यासतः प्रतिपादयिष्यत इत्यलं प्रसङ्गेन। तदेवं सुखं 'सैद्धिकं' सिद्धौ—अपवर्गलक्षणायां भवं यदिवा दुःखम्—
मनागोदनभक्षणादिकं सांसारिकं, यदिवा उभयमप्येतत्सुखं दुःखं च, स्रक्चन्दनाङ्गनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं तथा कशाताडनाद्
नाऽभिसिद्धौ भवं सैद्धिकं, तथा 'असैद्धिकं' सुखमान्तरमानन्दरूपमाकस्मिकमनवधारितबाह्यनिमित्तम् एवं दुःखमपि ज्वरशिरोऽर्त्तिशूलादि
स्पष्टतो समसदिदं, तदुभयमपि न स्वयं पुरुषकारेण कृतं नाप्यन्येन केनचित् कालादिना कृतं 'विदन्ति' मनुभवन्ति 'पृथग्जीवाः'

१ ... [illegible]

कालेश्वरादेर्निराकरणेन निर्हेतुकतया नियतिवादमाश्रिताः, तुरवधारणे, त एव नान्ये, किंविशिष्टाः पुनस्ते इति दर्शयति—युक्तिकदम्बकाद्बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोकक्रियापार्श्वस्था वा, नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोकक्रियावैयर्थ्यं, यदिवा-पाश इव पाशः-कर्मबन्धनं, तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणं तत्र स्थिताः पाशस्थाः, अन्येऽप्येकान्तवादिनः कालेश्वरादिकारणिकाः पार्श्वस्थाः पाशस्था वा द्रष्टव्या इत्यादि, 'ते' पुनर्नियतिवादमाश्रित्यापि, भूयो विविधं विशेषेण वा 'प्रगल्भिता' धाष्टर्योपगताः परलोकसाधकासु क्रियासु प्रवर्त्तते, धार्ष्ट्याश्रयणं तु तेषां नियतिवादाश्रयणे सत्येव पुनरपि तत्प्रतिपन्थिनीषु क्रियासु प्रवर्तनादिति, ते पुनः 'एवमप्युपस्थिताः' परलोकसाधकासु क्रियासु प्रवृत्ता अपि सन्तो 'नात्मदुःखविमोक्षकाः' असम्यक्प्रवृत्तत्वान्नात्मानं दुःखाद्विमोचयन्ति। गता नियतिवादिनः ॥५॥ साम्प्रतमज्ञानिमतं दूषयितुं दृष्टान्तमाह—

जविणो मिगा जहा संता, परिताणेणं वज्जिआ। असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥६॥

यथा—'जविनो' वेगवन्तः सन्तो 'मृगा' आरण्याः पशवः परि–समन्तात् त्रायते–रक्षतीति परित्राणं तेन वर्जिता–रहिताः, परित्राणविकला इत्यर्थः। यदिवा–परितानं–वागुरादिबन्धनं तेन तर्जिता–भयं ग्राहिताः सन्तो भयोद्भ्रान्तलोचनाः समाकुलीभूतान्तःकरणाः सम्यग्विवेकविकला 'अशङ्कनीयानि' कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्काहाणि तान्येव 'शङ्कन्ते' अनर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति। यानि पुनः 'शङ्काहाणि' शंका संजाता येषु योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि–शङ्कायोग्यानि–वागुरादीनि तान्यशङ्किनः तेषु शङ्कामकुर्वाणाः, 'तत्र तत्र' पाशादिके संपर्यन्त इत्युत्तरेणसंबन्धः ॥६॥ पुनरप्येतदेवातिमोहाविष्करणायाह—

१ धाष्टर्योपेता' आ इ। २ °साधिकासु आ. इ.। ३ °साधिकासु [illegible] इ.। ४ परिताणेण वज्जिया आ परियाणेण तज्जिया अ। ५ °कियाणि अ.। ६ सकियाणो अ.। ७ °ण सह सम्बन्ध आ इ।

...नि, क्रिया न पुरुषकारमन्यथा प्रवर्तते, तथा चोक्तम्,—"न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्यममात्मनः । अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ? ॥१॥" यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फलवैचित्र्यं दूषणत्वेनोपन्यस्तं तद्दूषणमेव, यतस्तत्रापि पुरुषकारवैचित्र्यमपि फलवैचित्र्यं कारणं भवति, समाने वा पुरुषकारे यः फलाभावः कस्यचिद्भवति सोऽदृष्टकृतः, तदपि चास्माभिः कारणत्वेनाश्रितमेव । तथा ...लोऽपि कृता, यतो वसन्तादिककालस्याशोकचूतागनागसहकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्युद्भवो न सर्वदेति, यथोक्तं 'कालस्यैक...रूपत्वाद्वैचित्र्यं न युक्तं' इति, तदस्मान् प्रति न दूषणं, यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाभ्युपगम्यते अपि तु कर्मापि, ततो न... वैचित्र्यमित्यदोषः । तथेश्वरोऽपि कर्ता, आत्मैव हि तत्र तत्रोत्पत्तिद्वारेण सकलजगद्व्यापनादीश्वरः, तस्य सुखदुःखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्वादिनाविगानेन सिद्धमेव, यथात्र मूर्तामूर्तादिकं दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वरसमाश्रयणे दूरोत्सादितमेवेति । स्वभावस्यापि कथञ्चित्क...त्वमेव, तथाहि—आत्मन उपयोगलक्षणत्वमसंख्येयप्रदेशत्वं पुद्गलानां च मूर्तत्वं धर्माधर्मास्तिकाययोर्गतिस्थित्युपष्टम्भकारित्वममूर्तत्वं ...रसादि स्वभावापादितं, यदपि चात्रात्मव्यतिरेकाव्यतिरेकरूपं दूषणमुपन्यस्तं तद्दूषणमेव, यतः स्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः, ...नश्चाभिन्न इत्यभ्युपगमनमेतदपि स्वभावापादितमेवेति । तथा कर्मापि कर्तृ भवत्येव, तद्धि जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुवेधरूपतया स्थितं कथञ्चिद्भेदमनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चात्मा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखादिकमनुभवतीति । तदेवं नियतिस्वभावकालेश्वरकर्मलक्षणाः पञ्चापि कारणत्वेनाभ्युपगताः, न पुनरेकैकशः । अन्ये तु एकान्तेन नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्युक्तिका भवन्तीत्यवसेयम् ॥४॥ तदर्थं युक्त्या नियतिवादं दूष...यित्वा भगादीनामसापदननायाह—'पर'मिति पुराभ्युपगमसंगृहकः, सर्वेभिन्नापि वस्तुनि नियतानियते सत्यपि नियतिमेवाग्रहेणाभ्युपे

१ ...रूप एव आ. १ । २ ... आ । ३ ... आ. । ४ ... आ । ५ ...

माणोऽसौ मृगः पदे पाशः पदपाशो–वागुरादिबन्धनं तस्मान्मुच्येत, यदिवा पदं–कूटं पाशः–प्रतीतस्ताभ्यां मुच्येत, क्वचित्पदपाशादीति पठ्यते, आदिग्रहणाद्वधताडनमारणादिकाः क्रिया गृह्यन्ते, एवं सन्तमपि तमनर्थपरिहरणोपायं 'मन्दो' जडोऽज्ञानावृतो न 'देहती'ति न पश्यतीति ॥८॥ कूटपाशादिकं चापश्यन् यामवस्थामवाप्नोति तां दर्शयितुमाह—

अहिअप्पाऽहियपण्णाणे[1], विसमंतेणुवागते[2]। स बद्धे[3] पयपासेणं[4], तत्थ घायं नियच्छइ[5] ॥९॥

स मृगोऽहितात्मा तथाऽहितं प्रज्ञानं–बोधो[6] यस्य सोऽहितप्रज्ञानः, स चाहितप्रज्ञानः सन् 'विषमान्तेन' कूटपाशादियुक्तेन प्रदेशेनोपागतः, यदिवा–विषमान्ते–कूटपाशादिके आत्मानमनुपातयेत्[7], तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन कूटादिना पदपाशादीननर्थबहुलानवस्थाविशेषान् प्राप्तः 'तत्र' बन्धने 'घातं' विनाशं 'नियच्छति' प्राप्नोतीति ॥९॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एव दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं दर्शयितुमाह—

एवं तु समणा एगे, मिच्छ[8]दिट्ठी अणारिआ। असंकिआइं[9] संकंति, संकिआइं[10] असंकिणो ॥१०॥

एवमिति यथा मृगा अज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति, तुरवधारणे, एवमेव 'श्रमणाः' केचित् पाखण्डविशेषाश्रिताः एके न सर्वे, किंभूतास्ते इति दर्शयति–मिथ्या–विपरीता दृष्टिर्येषामज्ञानवादिनां नियतिवादिनां वा ते मिथ्यादृष्टयः, तथा 'अनार्याः' आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इति आर्याः न आर्या अनार्या अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिन इतियावत्। अज्ञानावृतत्वं च दर्शयति–'अशङ्कितानि'

---

१ °पण्णाणो अ °पन्नाणे आ.। २ °वायाए आ.। ३ से वद्धे अ. आ.। ४ °पासादी अ. °पासाइ आ.। ५ नियच्छती अ। ६ अवबोधो आ.। सा ७ °तेऽणुवायए इति पाठमाश्रित्य। ८ मिच्छ° अ। ९ असंकियाणि–अ असंकियाइ आ.। १० संकियाणि अ संकियाइ आ.।

परियाणिआणि सक्ता, पासितोंणि असकिणो। अण्णाणभयसविग्गा, सपलिंति तहिं तहिं ॥७॥

परियापन इति परित्राण सञ्जात येषु तानि तथा, परित्राणयुक्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्विपर्यस्तबुद्धयः, श्रावर्यपि भयमुत्प्रेक्ष माणा', तथा 'पासितानि' पाशोपेतानि–अनयापादकानि 'अशङ्किन' तेषु शङ्कामकुर्वाणाः सन्तः अज्ञानेन भयेन च 'संविग्ग'त्ति सम्य गुप्यास–उद्वीक्षना', शङ्कनीयमशङ्कनीय वा तथा परित्राणोपेत पाशायनथोपेत वा सम्यगविवेकेनाजानानाः 'तत्र तत्र' अनर्थबहुले पाशवागुरादिकं पन्थने 'संपर्ययन्ते' सम्—एकीभावेन परि–समन्तादयन्ते यान्ति वा, गच्छन्तीत्युक्त भवति, तदेव दृष्टान्त प्रसाध्य निपतिगदाय मनाज्ञानवादिनो दाष्टान्तिकत्वेनाऽऽयोज्याः, यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानिकाः आगमूतानेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोष रिनिर्मुक्त घनमृगादिकारणवादाभ्युपगमनानाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते शङ्कनीयं च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते, ते एव मृग' परित्राणोऽप्यनज्ञानवाद शङ्कां कुर्वाणा युक्त्याऽघटमानकमनर्थबहुलमेकान्तवादमशङ्कनीयत्वेन गृहन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु स्थान स्थानेषु संपद्यन्त इति ॥७॥ पूर्वदोषैरतुष्यन्नाचार्यो दोषान्तरदित्सया पुनरपि प्राक्तनदृष्टान्तमधिकृत्याऽऽह—

अह त पवेज्ज बैज्झ, अहे वज्झेस्स वा वए। मुंचेज्ज पयपासाओ, त तु मदेण देहए ॥८॥

'अथ' अनन्तरमसौ मृगस्तत् 'बन्धमिति' पद–बन्धनाकारण व्यवस्थित वागुरादिकं वा बन्धनं च धकस्माद्बन्धमित्युच्यते, तदेवं भूतं एपाशादिकं बन्धन यपपाशुपरि भूतेन् तदपसादस्तिरम्योपरि गच्छेत्, तस्य मध्यादिर्व पनसाधो (वा) गच्छेत्, तत एवं क्रिय

१ ... २ ... ३ ...

नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी[2] अणारिया। मिगा[3] वा पासबद्धा ते, घायमेसंति णंतसो ॥१३॥

श्रिता 'एनं' कर्मक्षपणोपायं 'न जानन्ति' आत्मीयासद्ग्रहग्रस्ता[4] मिथ्यादृष्टयोऽनार्यास्ते मृगा इव पाशबद्धा

न्ति वा, तद्योग्यक्रियानुष्ठानात्, 'अनंतशः' अविच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनो गताः ॥१३॥ इदा-

स्वाग्यश्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाह—

नाणं सयं वए। सव्वलोगेऽवि जे पाणा, न ते[10] जाणंति किंचणं[11] ॥१४॥

शेषाः तथा 'श्रमणाः' परिव्राजकविशेषाः सर्वेऽप्येते ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं—हेयोपादेयार्थाविर्भावकं पर-

व्यवस्थितं 'स्वकम्' आत्मीयं वदन्ति[12], न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्सत्यानि, तस्मादज्ञानमेव श्रेयः, किं

ति—सर्वस्मिन्नपि लोके ये 'प्राणाः' प्राणिनो न ते किञ्चनापि सम्यगपेतवाच्यं(च्यं) 'जानन्ती'ति

रूपर्येण ज्ञानमायातं तदपि छिन्नमूलत्वादवितथं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

...सं, जहा वुत्ताणुभासए[14]। ण हेउं से विजाणाइ[15], भासिअं तऽणुभासए ॥१५॥

१ एत अ। २ मिच्छा° अ। ३ मिया अ। ४ °सद्ग्रहग्रस्ता आ इ.। ५ न्ति अन्वे° आ। ६ न विचलि° आ। ७ मेगे अ.। ८ वदे अ आ। ९ सव्वे लोयसि अ. सव्वे लोगेवि आ.। १० ण ते अ। ११ किंचण [illegible] आ। १२ °न्ति, प्रतिपादयन्ति न° आ इ। १३ °त वाधं आ इ। °भासती अ.। १५ °जाणाति अ, जाणाइ आ।

...नि गुणमानुष्ठानादीनि शङ्कमानाः, तथा 'अशङ्कनीयानि' अपायबहुलानि एकान्तपक्षसमाश्रयणानि, अशङ्किनो मृगा इव मृगैनमनन्तशोऽभ्रमन्त पपदनयाय संपद्यन्त इति ॥१०॥ शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्यासमाह—

धम्मपण्णवणा जा सा, त तु सकति मूढगा। आरभाइं न सकति, अविअत्ता अकोविआ ॥११॥

धर्मस्य—क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य या प्रज्ञापना—प्ररूपणा, 'तां तु' इति तामेव 'शङ्कन्ते' असद्धर्मप्ररूपणेयमित्येवमध्यवस्यन्ति, ये पुन पापोपादानभूता समारम्भास्तान्नाशङ्कन्ते, किमिति ?, यत 'अव्यक्ता' मुग्धाः—सदसद्विवेकविकलाः, तथा 'अकोविदा' अपण्डिता—सच्छास्त्रावबोधरहिता इति ॥११॥ ते च अज्ञानावृता यत्प्राप्नुवन्ति तद्दर्शनायाह—

सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिआ। अप्पत्तिअं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए ॥१२॥

सर्वात्मना सर्वात्मको—लोभस्तं विधूयेति संबन्धः, तथा विविध उत्कर्षो गर्वो व्युत्कर्षो—मान इत्यर्थः, तथा 'अप्पत्तियं'ति क्रोधं विधूय, कषायविधूननेन च मोहनीयविधूननमावेदितं भवति, तदपगमाच्चाशेषकर्माभावः दर्शितो भवतीत्याह—'अकर्मांशः' इति न विद्यते कर्मांशोऽस्येत्यकर्मांशः, स चाकर्मांशो विशिष्टज्ञानाद्भवति नाज्ञानादित्येव दर्शयति—'एनमर्थं' कर्माभावलक्षणं मृग इव मृगः—अज्ञानी 'चुए'त्ति त्यजेत्, विभक्तिपरिणामेन वा अस्मादर्थाद्भ्रष्टः स्यादिति ॥१२॥ पुनरप्यज्ञानवादिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

[illegible]

जे एयं[1] नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी[2] अणारिया। मिगा[3] वा पासबद्धा ते, घायमेसंति णंतसो ॥१३॥

'ये' अज्ञानपक्षं समाश्रिता 'एनं' कर्मक्षपणोपायं 'न जानन्ति' आत्मीयासद्ग्रह[4]ग्रस्ता मिथ्यादृष्टयोऽनार्यास्ते मृगा इव पाशबद्धा 'घातं' विनाशम् 'एष्यन्ति' यास्यन्त्ये[5]न्वेषयन्ति वा, तद्योग्यक्रियानुष्ठानात्, 'अनंतशः' अविच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनो गताः ॥१३॥ इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्विभावयिषया स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न च[6]लिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाह—

माहणा समणा एगे[7], सव्वे नाणं सयं वए[8]। सव्वलोगेऽवि[9] जे पाणा, न ते[10] जाणंति किंचणं[11] ॥१४॥

एके केचन ब्राह्मणविशेषाः तथा 'श्रमणाः' परिव्राजकविशेषाः सर्वेऽप्येते ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं—हेयोपादेयार्थाऽऽविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं 'स्वकम्' आत्मीयं वदन्ति[12], न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्सत्यानि, तस्मादज्ञानमेव श्रेयः, किं ज्ञानपरिकल्पनयेति, एतदेव दर्शयति—सर्वस्मिन्नपि लोके ये 'प्राणाः' प्राणिनो न ते किञ्चनापि सम्यगपेतवाच(च्यं[13]) 'जानन्ती'ति विदन्तीति ॥१४॥ यदपि तेषां गुरुपारम्पर्येण ज्ञानमायातं तदपि छिन्नमूलत्वादवितथं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासए[14]। ण हेउं से विजाणाइ[15], भासिअं तऽणुभासए ॥१५॥

---

१ एत अ। २ मिच्छ° अ। ३ मिया अ। ४ °सद्ग्रहग्रस्ता आ इ.। ५ यान्ति अन्वे° आ। ६ न विचलि° आ। ७ मेगे अ। ८ वदे अ आ। ९ सव्वे लोयसि अ, सव्वे लोगेवि आ। १० ण वे अ। ११ किंचण अ [illegible]। १२ °न्ति, प्रतिपादयन्ति न° आ. इ.। १३ °त बाध आ. इ.। १४ °भासती अ। १५ °जाणाति अ, जाणाइ आ।

यथा 'म्लेच्छ' आर्यभाषानभिज्ञः 'अम्लेच्छस्य' आर्यस्य म्लेच्छभाषानभिज्ञस्य यद्भाषितं तत् 'अनुभाषते' अनुवदति केवलं, न सम्यक् तदभिप्रायं वेत्ति, यथाऽनया विवक्षयाऽनेन भाषितमिति, न च 'हेतुं' निमित्तं निश्चयेनासौ म्लेच्छस्तद्भाषितस्य जानाति, केवलं परमार्थशून्यं तद्भाषितमेवानुभाषत इति ॥१५॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं योजयितुमाह—

एवमन्नाणिया नाणं, वयंतावि सयं सयं। निच्छयत्थं न याणंति, मिलक्खुव्व अबोहिया ॥१६॥

यथा म्लेच्छा अम्लेच्छस्य परमार्थमजानानाः केवलं तद्भाषितमनुभाषन्ते, तथा 'अज्ञानिकाः' सम्यग्ज्ञानरहिताः श्रमणा ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थभाषणात् निश्चयार्थं न जानन्ति, तथाहि—ते स्वकीयं तीर्थकरं सर्वज्ञत्वेन निर्धार्य तदुपदेशेन क्रियासु प्रवर्तेरन्, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्वाग्दर्शिना ग्रहीतुं शक्यते, 'नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानाती'ति न्यायात्, तथा चोक्तम्—"सर्वज्ञोऽयमिति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम्? ॥१॥" एवं परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात्तदुपदेशोऽपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणासंभवान्निश्चयार्थमजानाना म्लेच्छवदपरोक्तमनुभाषन्त एव, 'अबोधिका' बोधरहिताः केवलमिति, अतोऽज्ञानमेव श्रेय इति। एवं यावद्यावज्ज्ञानाभ्युपगमस्तावत्तावद्दुष्टतरदोषसंभवः, तथाहि—योऽवगच्छन् पादेन कस्यचित् शिरः स्पृशति तस्य महानपराधो भवति, यस्त्वनाभोगेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपराध्यतीति, एवं चाज्ञानमेव प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥१६॥ एवमज्ञानवादिमतमनूद्यैतानी सद्दूषणायाह—

१ °ते नि° प्र०। २ निश्चितार्थं प्र०। ३ स्वयं च प्र०। ४ न अबोहिया च च अबोहिय प्र०। ५ तस्मै प्र० ह०।

अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ? ॥१७॥

अन्नाणियाणं वीमंसा, अण्णाणे ण विनियच्छइ । अज्ञानशब्दस्य संज्ञाशब्दत्वाद्वा मत्वर्थीयः, गौरखरवदरण्यमिति यथा, तेषामज्ञानि-

न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः, अज्ञानशब्दस्य संज्ञाशब्दत्वाद्वा मत्वर्थीयः, गौरखरवदरण्यमिति यथा, तेषामज्ञानि-
नाम्—अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादिनां, योऽयं 'विमर्शः' पर्यालोचनात्मको मीमांसा वा—मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा सा 'अज्ञाने' अज्ञा-
नविषये 'न णियच्छति' न निश्चयेन यच्छति-नावतरति, न युज्यत इतियावत्, तथाहि—यैवंभूता मीमांसा विमर्शो वा किमेतज्ज्ञानं
सत्यमुतासत्यमिति ?, यथा अज्ञानमेव श्रेयो यथा यथा च ज्ञानातिशयस्तथा तथा च दोषातिरेक इति सोऽयमेवंभूतो विमर्शस्तेषां न
युज्यते, एवंभूतस्य पर्यालोचनस्य ज्ञानरूपत्वादिति। अपिच—तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि 'परं' प्रधानमज्ञानवादमिति 'शासितुम्'
उपदेष्टुं 'नालं' न समर्थाः, तेषामज्ञानपक्षसमाश्रयणेनाज्ञत्वादिति, कुतः पुनस्ते स्वयमज्ञाः, सन्तोऽन्येषां शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवा-
दमुपदेष्टुमलं—समर्था भवेयुरिति ?। यदप्युक्तं—'छिन्नमूलत्वात् म्लेच्छानुभाषणवत्सर्वमुपदेशादिकं,' तदप्ययुक्तं, यतोऽनुभाषणमपि
न ज्ञानमृते कर्तुं शक्यते, तथा यदप्युक्तं 'परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादज्ञानमेव श्रेय इति,' तदप्यसत्, यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय इत्येवं
परोपदेशदानाभ्युद्यतेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगमः कुत इति, तथाऽन्यैरप्यभ्यधायि—"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥१॥" ॥१७॥ तदेवं ते तपस्विनोऽज्ञानिन आत्मनः परेषां च शासने कर्तव्ये यथा न समर्था-
स्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

१ °याण अ. आ. । २ अण्णाणे नो नियच्छती अ अणोणे णेव नियच्छती आ. । ३ कुउ अ. । ४ अण्णेऽणु° अ. अण्णणु° आ. । सा ५ तेषां मते सम्य-
क्तया न शाय्यते न युज्यते इति भाव ।

वणे मूंढे जहा जंतू, मूढे णेयाणुगामिए। दोवि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छंइ ॥१८॥

'वने' अटव्यां यथा कश्चिन्मूढो 'जन्तुः' प्राणी दिक्परिच्छेदं कर्तुमसमर्थः स एवम्भूतो यदा परं मूढमेव नेतारमनुगच्छति तदा द्वावपि 'अकोविदौ' सम्यग्ज्ञानानिपुणौ सन्तौ 'तीव्रम्' असह्यं 'स्रोतो' गहनं शोकं वा 'नियच्छतो' निश्चयेन गच्छतः—प्राप्नुतः, अज्ञानावृतत्वात्। एवं तेऽप्यज्ञानवादिन आत्मीयं मार्गं शोभनत्वेन निर्धारयन्तः परकीयं चाशोभनत्वेन जानाना स्वयं मूढाः सन्तः परानपि मोहयन्तीति ॥१८॥ अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तरमाह—

अंधो अंधं पहं णिंतो, दूरमद्धाणु गच्छइ। आवज्जे उप्पहं जंतू, अंदुवा पंथाणुगामिए ॥१९॥

यथा अन्धः स्वयमपरमन्धं पन्थानं नयन् 'दूरमध्वानं' विवक्षितादध्वनः परतरं गच्छति, तथोत्पथमापद्यते जन्तुरन्धः, अथवाऽपरं पन्थानमनुगच्छेत्, न विवक्षितमेवाध्वानमनुयायादिति ॥१९॥ एवं दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकमथ दर्शयितुमाह—

एवमेगे णियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं। अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

'एव'मिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने, एके भावमूढा मायान्धाश्चैके आजीविकादयः 'नियायट्ठी'ति नियागो—मोक्षः सद्धर्मो वा तदर्थिनः,

---

१ मूढ ख। २ एदु गामिए क णेयाणु गामिए खा। ३ दुहउ वि अकोविया ख. दोवि एए अकुविया खा। ४ तेवे ख। ५ नियमच्छति ख नियच्छ० ख। ६ तत्रासौ द्व ख ८। ७ सम्यगुणार्थपरिज्ञाना ख ८। ८ नेती ख. णितो खा। ९ मायाम गच्छती ख. खा। १० अदुव खा। ११ आमिते ख। १२ एव वयं ख। १३ अधम्म ख। १४ न ते सव्वज्जुयं वए ख. न ते सव्वज्जुयं वदे खा।

ते किल वयं सद्धर्माराधका इत्येवं संधाय प्रव्रज्यायामुद्यताः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादिकायोपमर्देन पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तांस्स्वयमनुतिष्ठन्ति अन्येषां चोपदिशन्ति येनाभिप्रेताया मोक्षावाप्तेर्भ्रश्यन्ति, अथवाऽऽस्तां तावन्मोक्षाभावः, त एवं प्रवर्तमाना 'अधर्मं' पापमापद्येरन्, संभावनायामुत्पन्नेन लिङ्प्रत्ययेनैतद्दर्शयति—एतदपरं तेषामनर्थान्तरं संभाव्यते यदुत विवक्षितार्थाभावतया विपरीतार्थावाप्तेः पापोपादानमिति। अपिच—त एवमसदनुष्ठायिन आजीविकादयो गोशालकमतानुसारिणोऽज्ञानवादप्रवृत्ताः सर्वैः प्रकारैर्ऋजुः—प्रगुणो विवक्षितमोक्षगमनं प्रत्यकुटिलः सर्वर्जुः—संयमः सद्धर्मो वा तं सर्वर्जुकं ते 'न व्रजेयुः' न प्राप्नुयुरित्युक्तं भवति, यदिवा—सर्वर्जुकं—सत्यं तत्तेऽज्ञानान्धा ज्ञानापलापिनो न वदेयुरिति। एते चाज्ञानिकाः सप्तपष्टिभेदा भवन्ति, ते च भेदा अमुनोपायेन प्रदर्शनीयाः, तद्यथा—जीवादयो नव पदार्थाः, सत् असत् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदवक्तव्य इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैर्विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति, भावना चेयम्—सन् जीव इति को वेत्ति? किंवा तेन ज्ञातेन?, असन् जीव इति को वेत्ति? किंवा तेन ज्ञातेनेत्यादि, एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकास्त्रिषष्टिः, अमी चान्ये चत्वारस्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तद्यथा—सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति? किंवाऽनया ज्ञातया?, एवमसती सदसत्यवक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को जानाति? किंवाऽनया ज्ञातयेति, शेषविकल्पत्रयं तूत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न संभवतीति नोक्तम्, एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवति, तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थो—न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते, न च तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति, तथाहि—यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धि-

१ ततत्स्व° आ. । २ वेत्ति आ इ ।

गिति ?, मम्माज्ञानमेव श्रेय इति ॥२०॥ पुनरपि तद्दूषणाभिधित्सयाऽऽह—

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया। अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजूहिं दुम्मई ॥२१॥

'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या एके—केचनाज्ञानिका 'वितर्काभिः' मीमांसाभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः 'परम्' अन्यमार्हतादिकं ज्ञानवादिनं 'न पर्युपासते' न सेवन्ते स्वावलेपग्रहग्रस्ताः वयमेव तत्त्वज्ञानाभिज्ञा नापरः कश्चिदित्येवं नान्यं पर्युपासत इति। तथा आत्मीयैर्वितर्केरभ्युपगच्छन्तो—यथा 'अयमेव' अस्मदीयोऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवमात्मको मार्गः 'अञ्जु'रिति निर्दोषत्वाद्व्यक्तः—स्पष्टः, ऋजुर्वा—प्रगुणोऽकुटिलः, यथावस्थितार्थाभिधायित्वात्, किमिति (ते) एवमभिदधति ?—'हि' यस्मादर्थे यस्मात्ते 'दुर्मतयो' विपर्यस्तबुद्धय इत्यर्थः ॥२१॥ साम्प्रतमज्ञानवादिनां ज्ञानवादी स्पष्टमेवानर्थमभिधित्सयाऽऽह—

एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविया। दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ॥२२॥

'एवं' पूर्वोक्तन्यायेन 'तर्कया' स्वकीयपरिकल्पनया 'साधयन्तः' प्रतिपादयन्तो धर्मे—क्षान्त्यादिके अधर्मे च—जीवोपमर्दापादिते पापे 'अकोविदा' अनिपुणा 'दुःखम्' असातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनं 'नातित्रोटयन्ति' अतिशयेनैतदपगतं न कुर्वन्ति—अपनयन्तीति, अत्र दृष्टान्तमाह—यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं—पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयितुं नालम्, एवं तेऽपि संसारचक्रादात्मानं मोचयितुं नालमिति ॥२२॥ अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह—

१ 'परं' इ म.। २ दुम्मती अ आ.। ३ तत्त्वाभिमानाः आ.। तत्त्वाभिमानाः इ। ४ × एव इ.। ५ विपर्यस्ता आ. इ.। ६ तकाए अ ...। ७ ...रेत म.। ८ ...न्ति म.।

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं। जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥२३॥

'स्वकं स्वकम्' आत्मीयमात्मीयं दर्शनमभ्युपगतं 'प्रशंसन्तो' वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा 'गर्हमाणा' निन्दन्तः परकीयां वाचं, तथाहि—साङ्ख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयविनश्वरं चेत्येवंवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति, तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् साङ्ख्यान्, एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति। तदेवं 'ये' एकान्तवादिनः, तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, 'तत्रैव' तेष्वेवाऽऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणा 'विद्वस्यंते' विद्वांस इवाऽऽचरन्ति, तेषु वा विशेषेणोशन्ति—स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति, ते चैवंवादिनः 'संसारं' चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधम्—अनेकप्रकारम् उत्—प्राबल्येन श्रिताः—संबद्धाः, तत्र वा संसारे उषिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः ॥२३॥ साम्प्रतं यदुक्तं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकारे 'कर्म चयं न गच्छति चतुर्विधं भिक्षुसमय' इति, तदधिकृत्याह—

अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं। कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं ॥२४॥

'अथ' त्यानन्तर्ये, अज्ञानवादिमतानन्तरमिदमन्यत् 'पुरा' पूर्वम् 'आख्यातं' कथितं, किं पुनस्तदित्याह—'क्रियावादिदर्शनं' क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तेषां दर्शनम्—आगमः क्रियावादिदर्शनं, किंभूतास्ते क्रियावादिन इत्याह—कर्मणि—ज्ञानावरणादिके चिन्ता—पर्यालोचनं कर्मचिन्ता तस्याः प्रणष्टा—अपगताः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः, यतस्ते अविज्ञानाद्युपचितं चतुर्विधं कर्मबन्धं नेच्छन्ति अतः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः, तेषां चेदं दर्शनं 'दुःखस्कन्धस्य' असातोदयपरम्पराया विवर्धनं भवति,

---

१ °ता य पर वदिं अ. । २ उषिता—स्थिता आ. इ । ३ °रऽपरिव° अ. ।

कोनमभागमनमिति पाठः, ते एवं प्रतिपद्यमानाः संसारस्य वृद्धिमेव कुर्वन्ति नोच्छेदमिति ॥२४॥ यथा च ते कर्मचिन्तातो नष्टा स्तथा दर्शयितुमाह—

जाण काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति। पुट्ठो संवेदेइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥२५॥

यो हि 'जानन्' अवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति, कायेन चानाकुट्टी, 'कुट्ट छेदने' आकुट्टनमाकुट्टः स विद्यते यस्यासावाकुट्टी नाकुट्टी अनाकुट्टी, इदमुक्तं भवति—यो हि कोपादेर्निमित्तात् केवलं मनोव्यापारेण प्राणिनो व्यापादयति, न च कायेन प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिके व्यापारे वर्तते न तस्यावद्यं, तस्य कर्मोपचयो न भवतीत्यर्थः, तथा 'अबुहो' अजानानः कायव्यापारमात्रेण यं च हिनस्ति प्राणिनं तत्रापि मनोव्यापाराभावान्न कर्मोपचय इति, अनेन च श्लोकार्धेन यदुक्तं निर्युक्तिकृता यथा—'चतुर्विधं कर्म नोपचीयते भिक्षुसमये' इति, तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचिताख्यं भेदद्वयं साक्षादुपात्तं, शेषं त्वीर्यापथस्वप्नान्तिकभेदद्वयं चशब्देनोपात्तं, तत्रेर्यागमनं तत्सम्बद्धः पन्था ईर्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्यापथम्, एतदुक्तं भवति—पथि गच्छतो यथाकथञ्चिदनभिसंधेर्यत्प्राणिव्यापादनं भवति तेन कर्मणश्चयो न भवति, तथा स्वप्नान्तिकमिति—स्वप्न एव लोकोक्त्या स्वप्नान्तः स विद्यते यस्य तत्स्वप्नान्तिकं, तदपि न बन्धाय, यथा स्वप्ने भुजिक्रियायां तृप्त्यभावस्तथा कर्मणोऽपीति, कथं तर्हि तेषां कर्मोपचयो भवतीति ?, उच्यते, यद्यसौ हन्यमानः प्राणी भवति हन्तुश्च यदि प्राणीत्येवं ज्ञानमुत्पद्यते तथैवं हन्मीत्येवं च यदि बुद्धिः प्रादुष्यात् एतेषु च सत्सु यदि कायचेष्टा प्रवर्तते तस्यामपि यदसौ प्राणी व्यापाद्यते ततो हिंसा ततश्च कर्मोपचयो भवतीति, एषामन्यतराभावेऽपि न हिंसा, न च कर्मचयः। अत्र च

१ इदं ... [illegible]

पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गा भवन्ति, तत्र प्रथमभङ्गे हिंसकोऽपरेष्वेकत्रिंशत्स्वहिंसकः, तथा चोक्तम्—"प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा। प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥१॥" किमेकान्तेनैव परिज्ञोपचितादिना कर्मोपचयो न भवत्येव ?, भवति काचिदव्यक्तमात्रेति दर्शयितुं श्लोकपश्चार्धमाह—'पुट्ठो'त्ति तेन केवलमनोव्यापाररूपपरिज्ञोपचितेन केवलकायक्रियोत्थेन वाऽविज्ञोपचितेनेर्यापथेन स्वप्नान्तिकेन च चतुर्विधेनापि कर्मणा 'स्पृष्ट' ईषच्छुप्तः संस्तत्कर्माऽसौ स्पर्शमात्रेणैव परमनुभवति, न तस्याधिको विपाकोऽस्ति, कुड्यापतितसिकतामुष्टिवत्स्पर्शानन्तरमेव परिशटतीत्यर्थः, अत एव तस्य चयाभावोऽभिधीयते, न पुनरत्यन्ताभाव इति। एवं च कृत्वा तद् 'अव्यक्तम्' अपरिस्फुटं, खुरवधारणे, अव्यक्तमेव, स्पष्टविपाकानुभवाभावात्, तदेवमव्यक्तं सहावद्येन—गर्ह्येण वर्तते तत्परिज्ञोपचितादिकर्मेति ॥२५॥ ननु च यद्यनन्तरोक्तं चतुर्विधं कर्म नोपचयं याति कथं तर्हि कर्मोपचयो भवतीत्येतदाशङ्क्याह—

संतिमे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं। अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया ॥२६॥

'सन्ति' विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयते—स्वीक्रियते अमीभिः कर्मेत्यादानानि, एतदेव दर्शयति—यैरादानैः 'क्रियते' विधीयते निष्पाद्यते 'पापकं' कल्मषं, तानि चामूनि, तद्यथा—'अभिक्रम्ये'ति आभिमुख्येन वध्यं प्राणिनं क्रान्त्वा—तद्घाताभिमुखं चित्तं विधाय यत्र स्वत एव प्राणिनं व्यापादयति तदेकं कर्मादानं, तथाऽपरं च प्राणिघाताय प्रेष्यं समादिश्य यत्प्राणिव्यापादनं तद्द्वितीयं कर्मादानमिति, तथाऽपरं व्यापादयन्तं मनसाऽनुजानीत इत्येतत्तृतीयं कर्मादानं, परिज्ञोपचितादस्यायं भेदः—तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह

१ तओ आ। २ कीरति अ। ३ पावगं अ.। ४ अहिकम्मा अ.। ५ °सा य अणु° अ.।

त्परेण व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदनमिति ॥२६॥ एवं यत्र स्वयं कृतकारितानुमतयः प्राणिघाते क्रियमाणे विद्यन्ते क्लिष्टाध्यवसायस्य प्राणातिपातश्च तत्रैव कर्मोपचयो नान्यत्रेति दर्शयितुमाह—

एते उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं। एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥२७॥

तुरवधारणे, 'एतान्येव' पूर्वोक्तानि त्रीणि व्यस्तानि समस्तानि वा आदानानि यैर्दुष्टाध्यवसायसव्यपेक्षैः पापकं कर्मोपचीयत इति, एवं च स्थिते यत्र कृतकारितानुमतयः प्राणिव्यपरोपणं प्रति न विद्यन्ते तथा 'भावविशुद्धया' अरक्तद्विष्टबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते कृतेन मनसा कायेन वा मनोऽभिसंधिरहितेनोभयेन वा विशुद्धबुद्धेर्न कर्मोपचयः, तदभावाच्च 'निर्वाणं' सर्वद्वन्द्वोपरतिलक्षणम् 'अभिगच्छति' आभिमुख्येन प्राप्नोतीति ॥२७॥ भावशुद्ध्या प्रवर्तमानस्य कर्मबन्धो न भवतीत्यत्रार्थे दृष्टान्तमाह—

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए। भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ ॥२८॥

'पुत्रम्' अपत्यं 'पिता' जनकः 'समारभ्य' व्यापाद्य 'आहारार्थं' कस्याञ्चित्तथाविधायामापदि तदुद्धरणार्थमरक्तद्विष्टः 'असंयतो' गृहस्थस्तत्पिशितं भुञ्जानोऽपि च शब्दस्याप्यर्थत्वादिति, तथा 'मेधाव्यपि' संयतोऽपीत्यर्थः, तदेवं गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः पिशिताश्यपि 'कर्मणा' पापेन 'नोपलिप्यते' नाश्लिष्यत इति, यथा चात्र पितुः पुत्रं व्यापादयतस्तत्रारक्तद्विष्टमनसः कर्मबन्धो न भवति, तथाऽन्यस्याप्यरक्तद्विष्टान्तःकरणस्य प्राणिवधे सत्यपि न कर्मबन्धो भवतीति ॥२८॥ साम्प्रतमेतद्दूषणायाह—

१ एए उ तउ च। एए उ तओ च.। २ सीएहि च.। ३ पावर्य च। ४ ... च ... च.। ५ ... च। ६ ... च.। ७ मसटी च.। ८ ... च. ... आ। ९ ... च. ह.।

मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ[1]। अणवज्जमतहं[2] तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥
इच्चेयाहि[3] य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया[4]। सरणंति[5] मन्नमाणा, सेवंती पावगं[6] जणा ॥३०॥
जहा[7] अस्साविणिं णावं, जाइअंधो[8] दुरूहिया[9]। इच्छई[10] पारमागंतुं[11], अंतरा य विसीयई[12] ॥३१॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया। संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति ॥३२॥[13]
(गाथाग्रं ॥५९॥) त्तिबेमि। इति प्रथमाध्ययने द्वितीयोद्देशकः॥

ये हि कुतश्चिन्निमित्तात् 'मनसा' अन्तःकरणेन 'प्रादुष्यन्ति' प्रद्वेषमुपयान्ति 'तेषां' वधपरिणतानां शुद्धं चित्तं न विद्यते, तदेवं यत्तैरभिहितं—यथा केवलमनःप्रद्वेषेऽपि 'अनवद्यं' कर्मोपचयाभाव इति, तत् तेषाम् 'अतथ्यम्' असदर्थाभिधायित्वं, यतो न ते संवृतचारिणो, मनसोऽशुद्धत्वात्, तथाहि—कर्मोपचये कर्तव्ये मन एव प्रधानं कारणं, यतस्तैरपि मनोरहितकेवलकायव्यापारे कर्मोपचयाभावोऽभिहितः, ततश्च यत् यस्मिन् सति भवत्यसति तु न भवति तत्तस्य प्रधानं कारणमिति, ननु तस्यापि कायचेष्टारहितस्याकारणत्वमुक्तं, सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तूक्तं, यतो भवतैव 'एवं भावशुद्ध्या निर्वाणमभिगच्छती'ति भणता मनस एवैकस्य प्राधान्यमभ्यधायि,

१ न विज्जती अ न विज्झई आ। २ °वज्जं अतह अ आ। ३ °याहिं अ आ.। ४ सातागारव णिस्सिता अ. सायागारव णिस्सिया आ.। ५ सरण× अ.। ६ पावय अ। ७ जह आस्साविणिं नाव अ जहा आसाविणिं णाव आ। ८ जाति° अ। ९ दुरूभिया आ.। १० इच्छेज्ज अ. इच्छाई य आ। ११ °गतु अ। १२ विसीयति अ. विसीयइ आ.। १३ बितिउ उद्देसउ सम्मत्तो ॥छ॥ अ प्रथमस्य द्वितीय ॥छ॥ आ।

तथाऽन्यदप्यभिहितं—"विषमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्त इति कथ्यते ॥१॥" तथाऽन्यैरप्यभि-
हितं—"मतिविभव! नमस्ते यत्समत्वेऽपि पुंसां, परिणमसि शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव। नरकनगरवर्त्म प्रस्थिताः कष्टमेके, उपचि-
तशुभमनस्त्वा गतसंवेदिनोऽन्ये ॥१॥" तदेवं मनस्यभ्युपगमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तं भवति, तथेर्यापथेऽपि यद्यनुपयुक्तो
याति ततोऽनुपयुक्ततया क्लिष्टचित्ततेति कर्मबन्धो भवत्येव, अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव, तथा चोक्तम्—"उच्चालियंमि
पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए। वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥ न य तस्स तन्निमित्तो बन्धो सुहुमोऽवि देसिओ समए।
अणवज्जो उ पओगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥२॥" स्वप्नान्तिकेऽप्यशुद्धचित्तसद्भावादीषद् बन्धो भवत्येव, स च भवताऽप्यभ्युपगत एव 'अ-
व्यक्तं तु सावद्य'मित्यनेनेति। तदेवं मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारे बन्धसद्भावात् यदुक्तं भवता 'प्राणी प्राणिज्ञान'मित्यादि तत्सर्वं प्लवत
इति, यदप्युक्तं—'पुत्रं पिता समारभ्य' त्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं, यतो मारयामीत्येवं यावन्न चित्तपरिणामोऽभूत्तावन्न कश्चिद्व्यापा-
रयति, एवंभूतचित्तपरिणतस्य कथमसंक्लिष्टता?, चित्तसंक्लेशे चावश्यंभावी कर्मबन्ध इत्युभयोरसंवादोऽत्रेति। यदपि च तैः कश्चिदुच्यते—
यथा 'परव्यापादितपिशितभक्षणे परहस्ताऽऽकृष्टाङ्गारदाहाभाववन्न दोष' इति, तदपि उन्मत्तप्रलपितवदनाकर्णनीयं, यतः परव्यापादिते
पिशितभक्षणेऽनुमतिरनिवारिता, तस्याश्च कर्मबन्ध इति, तथा चान्यैरप्यभिहितम्—"अनुमन्ता विशसिता, संहर्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता
चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्ट घातकाः ॥१॥" यच्च कृतकारितानुमतिरूपमादानत्रयं तैरभिहितं तदनेनेन्द्रमवलम्ब्य स्वादनमेव तैरकारीति।

२. १ उच्चालिते पादे ईर्यासमितेन संक्रमार्थाय। व्यापद्येत कुलिङ्गी म्रियेत वा तं योगमासाद्य ॥१॥ २ न च तस्य तन्निमित्तो बन्धः सूक्ष्मोऽपि दिष्टः समये। अनवद्यस्तु प्रयोगेण सर्वभावेन स यस्मात् ॥२॥ ३ 'सोऽविसे' आ. 'सोऽविसो' इ.

तदेवं कर्मचतुष्टयं नोपचयं यातीत्येवं तदभिदधानाः कर्मचिन्तातो नष्टा इति सुप्रतिष्ठितमिदमिति ॥२९॥ अधुनैतेषां क्रियावादिनामनर्थपरम्परां दर्शयितुमाह—'इत्येताभिः' पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति 'दृष्टिभिः' अभ्युपगमैस्ते वादिनः 'सातगौरवनिःश्रिताः' सुखशीलतायामासक्ता यत्किञ्चनकारिणो यथालब्धभोजिनश्च संसारोद्धरणसमर्थं 'शरणम्' इदमस्मदीयं दर्शनम् 'इति' एवं मन्यमाना विपरीतानुष्ठानतया 'सेवन्ते' कुर्वते 'पापम्' अवद्यम्, एवं व्रतिनोऽपि सन्तो जना इव जनाः प्राकृतपुरुषसदृशा इत्यर्थः ॥३०॥ अस्यैवार्थस्योपदर्शकं दृष्टान्तमाह—आसमन्तात्स्रवति तच्छीला वा आस्राविणी सच्छिद्रेत्यर्थः, तां तथाभूतां नावं यथा जात्यन्धः समारुह्य 'पारं' तटम् 'आगन्तुं' प्राप्तुमिच्छत्यसौ, तस्याश्चास्राविणीत्वेनोदकप्लुतत्वात् 'अन्तराले' जलमध्ये एव 'विषीदति' वारिणि निमज्जति तत्रैव च पञ्चत्वमुपयातीति ॥३१॥ साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनार्थमाह—'एव'मिति यथाऽन्धः सच्छिद्रां नावं समारूढः पारगमनाय नालं तथा श्रमणा एके शाक्यादयो मिथ्या—विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः तथा पिशिताशनानुमतेरनार्याः स्वदर्शनानुरागेण 'संसारपारकाङ्क्षिणो' मोक्षाभिलाषुका अपि सन्तस्ते चतुर्विधकर्मचयानभ्युपगमेनानिपुणत्वाच्छासनस्य 'संसारमेव' चतुर्गतिसंसरणरूपम् 'अनुपर्यटन्ति' भूयोभूयस्तत्रैव जन्मजरामरणदौर्गत्यादिक्लेशमनुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते, न विवक्षितमोक्षसुखमाप्नुवन्ति, इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति ॥३२॥ इति सूत्रकृताङ्गे समयाख्याध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐 卐 卐

---

१ जहा आसाविणीमित्यादि आसम° आ. इ. । २ श्रवति आ. इ । ३ च्छिद्राया नावि आ. इ. ।

गपाऽन्यैरप्यभिहितं—"चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं, भवान्त इति कथ्यते ॥१॥" तथाऽन्यैरप्यभि

दिन—"मनिचित्त ! नपस्त यत्समन्येऽपि पुमां, परिणमति शुभाशुभैः कल्मषादिस्स्वमेव । नरकनगरवर्त्म प्रस्थिताः कष्टमेके, उपचि

गुण्यवशत्या मुक्तिवेदिनोऽन्ये ॥१॥" तदेवं भवदभ्युपगमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तं भवति, तथेयमिदेऽपि यदनुपयुक्तो

पाति मोऽनुपपन्नतरं क्लिश्यतीति कथय यो मन्यत, अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव, तथा चोक्तम्—"उच्चालियम्मि

पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज्ज कुलिंगी मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥ ण य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमोऽवि देसिओ समए ।

मनवज्जो उ पओगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥२॥" समाधिविवेकेऽप्यत्वदभिमतसद्भावादीपबन्धो भवत्येव, स च भवताऽप्यभ्युगत एव 'अ

प्रत्तं तन्मारय'मित्यननतो मद्य मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारे च यसम्भवात् यदुक्तं भवता 'प्राणी प्राणिज्ञान'मित्यादि तत्सर्वं भवत

इति, यत्पुनः—'पुत्रं पिता समारभ्ये'त्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं, यतो मारयामीत्येवं यावत्र चित्तपरिणामोऽभूत्तावन्न कश्चिद्व्यापा

रयति, एवंभूतचित्तपरिणतेश्च कथमसंक्लिष्टता ?, चित्तसंक्लेशे चावश्यंभावी कर्मबन्धः इत्युभयोरसंवादोऽस्त्येवेति । यदपि च तैः कश्चिदुच्यते—

यथा 'परव्यापादितपिशितभक्षणे परहस्ताऽऽकृष्टाङ्गारदाहाभाववन्न दोष' इति, तदपि उन्मत्तप्रलपितवदनाकर्णनीयं, यतः परव्यापादिते

पिशितभक्षणेऽनुमतिरनिवृत्ता, तस्याश्च कर्मबन्धः इति, तथा चान्यैरप्यभिहितम्—"अनुमन्ता विशसिता, संहर्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता

चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्ट घातकाः ॥१॥" यच्च कृतकारितानुमतिरूपमादानत्रयं तैरभिहितं तज्जैनेन्द्रमतलवास्वादनमेव तैरकारीति ।

---

१ इत्यर्थं वृत्तौ ... निर्युक्तिवेदनेन ... । व्याख्यानं ... ॥१॥ ... ॥२॥ ... ॥१॥ ... ॥१॥ २ ... ॥१॥

अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं संबन्ध—इहानन्तरोद्देशकपर्यन्तसूत्रेऽभिहितम्, 'एवं तु श्रमणा एके' इत्यादि, तदिहापि संबध्यते, एके श्रमणा यत्किञ्चित्पूतिकृतं भुञ्जानाः संसारं पर्यटन्तीति, परम्परसूत्रे त्वभिहितं 'बुज्झिज्ज' इत्यादि, यत्किञ्चित्पूतिकृतं तद्बुध्येतेति, एवमन्यैरपि सूत्रैरुत्प्रेक्ष्य संबन्धो योज्यः। अधुना सूत्रार्थः प्रतीयते—'यत्किञ्चि'दिति आहारजातं स्तोकमपि आस्तां तावत्प्रभूतं, तदपि 'पूतिकृतम्' आधाकर्मादिसिक्थेनाप्युपसृष्टम्, आस्तां तावदाधाकर्म, तदपि न स्वयंकृतम्, अपि तु 'श्रद्धावता' अन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकानुद्दिश्य 'ईहितं' चेष्टितं निष्पादितं, तच्च सहस्रान्तरितमपि यो 'भुञ्जीत' अभ्यवहरेदसौ 'द्विपक्षं' गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षं चाऽऽसेवते, एतदुक्तं भवति—एवंभूतमपि परकृतमपरागन्तुकयत्यर्थं निष्पादितं यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापि योऽवयवस्तेनाप्युपसृष्टमाहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवनमापद्यते, किं पुनः य एते शाक्यादयः स्वयमेत सकलमाहारजातं निष्पाद्य स्वयमेव चोपभुञ्जते?, ते च सुतरां द्विपक्षसेविनो भवन्तीत्यर्थः, यदिवा—'द्विपक्ष'मिति ईर्यापथः सांपरायिक च, अथवा—पूर्वबद्धा निकाचिताद्यवस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्वाश्चादत्ते, तथा चागमः—'आहाकम्मं णं भुञ्जमाणे समणे कइ कम्मपयडीओ बंधइ?, गोयमा! अट्ठकम्मपयडीओ बंधइ, सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ करेइ, चियाओ करेइ, उवचियाओ करेइ, हस्सठिइयाओ दीहठिईयाओ करेइ' इत्यादि। ततश्चैवं शाक्यादयः परतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा आधाकर्म भुञ्जाना द्विपक्षमेवाऽऽसेवन्त इति सूत्रार्थः ॥१॥ इदानीमेतेषां सुखैषिणामाधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकाविर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—'तमेव' आधाकर्मोपभोगदोषम् 'अजानाना' विष-

सा १ आधाकर्म भुञ्जान श्रमण. कति कर्मप्रकृतीर्बध्नाति? गौतम! अष्टकर्मप्रकृतीर्बध्नाति, शिथिलबन्धनबद्धा गाढबन्धनबद्धाः करोति, चिता· करोति उपचिताः करोति, ह्रस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः करोति। २ °बद्धाउ आ. °बद्धातो इ.। ३ करेति आ इ.। ४ दस्सट्ठियाओ इ। ५ °ट्ठिइउ आ. ट्ठिईओ इ.।

अथ प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

द्वितीयोद्देशकानन्तरं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—अध्ययनार्थाधिकारः स्वसमयपरसमयप्ररूपणेति, तत्रोद्देशकद्वयेन स्वपरसमयप्ररूपणा कृता अत्रापि सैव क्रियते, अथवाऽऽद्ययोरुद्देशकयोः कुदृष्टयः प्रतिपादितास्तद्दोषाश्च तदिहापि तेषामाचारदोषः प्रदर्श्यत इत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्यास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जं किंचि उ पूइकडं, सड्ढीमागंतुमीहियं। सहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवइ ॥१॥

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया। मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ॥२॥

उदगस्स पभावेणं, सुक्कं[1] सिग्घं तमिंति उ। ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिं[12] ते दुही ॥३॥

एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो। मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संति णंतसो ॥४॥

---

१ [illegible] ॥ २ [illegible] ॥ ३ [illegible] ॥ ४ [illegible] ॥ ५ [illegible] ॥ ६ [illegible] ॥ ७ [illegible] ॥ ८ [illegible] ॥ ९ [illegible] ॥ १० [illegible] ॥ ११ [illegible] ॥ १२ [illegible] ॥ १३ [illegible]

अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं संबन्ध—इहानन्तरोद्देशकपर्यन्तसूत्रेऽभिहितम्, 'एवं तु श्रमणा एके' इत्यादि, तदिहापि संबध्यते, एके श्रमणा यत्किञ्चित्पूतिकृतं भुञ्जानाः संसारं पर्यटन्तीति, परम्परसूत्रे त्वभिहितं 'बुज्झिज्ज' इत्यादि, यत्किञ्चित्पूतिकृतं तद्बुध्येतेति, एवमन्यैरपि सूत्रैरुत्प्रेक्ष्य संबन्धो योज्यः। अधुना सूत्रार्थः प्रतीयते—'यत्किञ्चि'दिति आहारजातं स्तोकमपि आस्तां तावत्प्रभूतं, तदपि 'पूतिकृतम्' आधाकर्मादिसिक्थेनाप्युपसृष्टम्, आस्तां तावदाधाकर्म, तदपि न स्वयंकृतम्, अपि तु 'श्रद्धावता' अन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकानुद्दिश्य 'ईहितं' चेष्टितं निष्पादितं, तच्च सहस्रान्तरितमपि यो 'भुञ्जीत' अभ्यवहरेदसौ 'द्विपक्षं' गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षं चाऽऽसेवते, एतदुक्तं भवति—एवंभूतमपि परकृतमपरागन्तुकयत्यर्थं निष्पादितं यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापि योऽवयवस्तेनाप्युपसृष्टमाहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवनमापद्यते, किं पुनः य एते शाक्यादयः स्वयमेव सकलमाहारजातं निष्पाद्य स्वयमेव चोपभुञ्जते?, ते च सुतरां द्विपक्षसेविनो भवन्तीत्यर्थः, यदिवा—'द्विपक्ष'मिति ईर्यापथः सांपरायिकं च, अथवा—पूर्वबद्धा निकाचिताद्यवस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्वाश्चादत्ते, तथा चागमः—'आहाकम्मं णं भुञ्जमाणे समणे कइ कम्मपयडीओ बंधइ?, गोयमा! अट्ठकम्मपयडीओ बंधइ, सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ करेइ, चियाओ करेइ, उवचियाओ करेइ, हस्सठिइयाओ दीहठिइयाओ करेइ' इत्यादि। ततश्चैवं शाक्यादयः परतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा आधाकर्म भुञ्जाना द्विपक्षमेवाऽऽसेवन्त इति सूत्रार्थः ॥१॥ इदानीमेतेषां सुखैषिणामाधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकाविर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—'तमेव' आधाकर्मोपभोगदोषम् 'अजानाना' विप-

सा १ आधाकर्म भुञ्जान श्रमण, कति कर्मप्रकृतीर्बध्नाति? गौतम! अष्ट कर्मप्रकृतीर्बध्नाति, शिथिलबन्धनबद्धा गाढबन्धनबद्धाः करोति, चिता करोति उपचिता. करोति, ह्रस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः करोति। २ °बद्धाउ आ. °बद्धातो इ.। ३ करेति आ. इ।४ दस्सट्ठियाओ इ.। ५ °द्विइउ आ. ट्ठिईओ इ.।

—अष्टप्रकारकर्मबन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोक्षः चतुर्गतिसंसारो वा तस्मिन्नकोविदाः, कथमेष कर्मबन्धो भवति ? कथं वा न भवति ? केन वोपायेनायं संसारार्णवस्तीर्यत इत्यत्राकुशलाः, तस्मिन्नेव संसारोदरे कर्मपाशावपाशिता दुःखिनो भवन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा 'मत्स्याः' पृथुरोमाणो विशालः—समुद्रस्तत्र भवा वैशालिकाः विशालाख्यविशिष्टजात्युद्भवा वा वैशालिकाः विशाला एव (वा) वैशालिकाः—बृहच्छरीरास्ते एवम्भूता महामत्स्या 'उदकस्याभ्यागमे' समुद्रवेला(यामागता)यां सत्यां प्रबलमरुद्वेगोद्धूतोत्तुङ्गकल्लोलमालाऽभिनुन्नाः सन्त उदकस्य प्रभावेन नदीमुखमागताः पुनर्वेलाऽपगमे तस्मिन्नुदके शुष्के वेगेनैवापगते सति बृहत्त्वाच्छरीरस्य तस्मिन्नेव नदीमुखे विलग्ना अवसीदन्त आमिषगृध्नुभिर्ढङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषैरन्यैश्च मांसवसार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभिर्जीवन्त एव विलुप्यमाना महान्तं दुःखसमुद्घातमनुभवन्तः अत्राणा 'घातं' विनाशं 'यान्ति' प्राप्नुवन्ति, तुरवधारणे, त्राणाभावाद्विनाशमेव यान्तीति श्लोकद्वयार्थः ॥२—३॥ एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकं योजयितुमाह—यथैतेऽनन्तरोक्ता मत्स्यास्तथा 'श्रमणाः' श्राम्यन्तीति श्रमणाः 'एके' शाक्यपाशुपतादयः स्वयूथ्या वा, किम्भूतास्ते इति दर्शयति—वर्तमानमेव सुखम् आधाकर्मोपभोगजनितमेषितुं शीलं येषां ते वर्तमानसुखैषिणः, समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवासक्तचेतसोऽनालोचिताधाकर्मोपभोगजनितातिकटुकदुःखौघानुभवा वैशालिकमत्स्या इव 'घातं' विनाशम् 'एष्यन्ति' अनुभविष्यन्ति 'अनन्तशः' अरहट्टघटीन्यायेन भूयो भूयः संसारोदन्वति निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वाणा न ते संसाराम्भोधेः पारगामिनो भविष्यन्तीत्यर्थः ॥४॥ साम्प्रतमपराज्ञाभिमतोपप्रदर्शनायाह—

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं । देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तेति आवरे ॥५॥

१ मत्स्यैः प्र. ।

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे। जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥६॥
सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा। मारेण संथुया[2] माया, तेण लोए असासए[3] ॥७॥

'इद'मिति वक्ष्यमाणं, तुशब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः, 'अज्ञान'मिति मोहविजृम्भणम्—'इह' अस्मिन् लोके एकेषां सर्वेषाम् 'आख्यातम्' अभिप्रायः, किं पुनस्तदाख्यातमिति? तदाह—देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः, देवैर्वा गुप्तो—रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्येवमादिकमज्ञानमिति, तथा ब्रह्मणा उप्तो ब्रह्मोप्तोऽयं लोक इत्यपरे एवं व्यवस्थिताः, तथाहि तेषामयमभ्युपगमः—ब्रह्मा जगत्पितामहः, स चैक एव जगदादावासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति ॥५॥ तथेश्वरेण कृतोऽयं लोकः, एवमेके ईश्वरकारणिका अभिदधति, प्रमाणयन्ति च ते—सर्वमिदं विमत्यधिकरणभावापन्नं[4] तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः, संस्थानविशेषवत्त्वादिति हेतुः, यथा घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं, यद्यत्संस्थानविशेषवत्तत्तद्बुद्धिमत्कारपूर्वकं दृष्टं, यथा देवकुलकूपादीनि, संस्थानविशेषवच्च मकराकरनदीधराधरधराशरीरकरणादिकं विवादगोचरापन्नमिति, तस्माद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकं, यश्च समस्तस्यास्य जगतः कर्ता स सामान्यपुरुषो न भवतीत्यसावीश्वर इति, तथा सर्वमिदं तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः, कार्यत्वाद् घटादिवत्, तथा स्थित्वा प्रवृत्तेर्वा, वास्यादिवदिति। प्रधानादिकृतो लोक इत्यपरे प्रतिपन्ना यथा—प्रधानादिकृतो लोकः, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, सा च पुरुषार्थं प्रति प्रवर्तते, आदिग्रहणाच्च प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माच्च गणः[5] षोडशकः तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानी'त्यादिकया प्रक्रियया सृष्टिर्भवतीति, यदिवा

१ °ता आ इ.। २ °या आ इ.। ३ °ते आ इ.। ४ °करणापन्न आ. °करणभावापण्ण इ.। ५ °तु गणश्च आ.।

—आदिग्रहणात्स्वभावादिकं गृह्यते, तत्सामर्थ्य—समाधेन कृतो लोकः, कण्टकादितैक्ष्ण्यवत्, यथाऽन्ये नियतिकृतो लोकः मयूराङ्गरुहवदित्यादिभिः कारणैः कृतोऽयं लोको 'जीवाजीवसमायुक्तो' जीवैः—उपयोगलक्षणैः तथा अजीवैः—धर्माधर्माकाशपुद्गलादिकैः समन्वितः समुद्रधराधरादिक इति, पुनरपि लोकं विशेषयितुमाह—'सुखम्' आनन्दरूपं 'दुःखम्' असातोदयरूपमिति, ताभ्यां समन्वितो—युक्त इति ॥६॥ किञ्च—'सयम्भुणा' इत्यादि, स्वयं भवतीति स्वयम्भूः—विष्णुरन्यो वा, स चैक एवादावभूत्, तत्रैकाकी रमते, द्वितीयमिष्टवान्, तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना, तदनन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूत् 'इति' एवं महर्षिणा 'उक्तम्' अभिहितम्, एवंवादिनो लोकस्य कर्तारमभ्युपगतवन्तः । अपि च 'तेन' स्वयम्भुवा लोकं निष्पाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारो व्यधायि, तेन मारेण 'संस्तुता' कृता प्रसाधिता माया, तया च मायया लोका म्रियन्ते, न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्ति, अतो मायैषा यथाऽयं मृत', तथा चायं लोकः 'अशाश्वतः' अनित्यो विनाशीति गम्यते ॥७॥ अपि च—

माहणा समणा एगे, आह अण्डकडे जगे । असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥८॥

'ब्राह्मणा' द्विजातयः 'श्रमणा' त्रिदण्डिप्रभृतयः 'एके' केचन पौराणिका न सर्वे, एवम् 'आहुः' उक्तवन्तो, वदन्ति च यथा—जगदेतदसरासरमण्डेन कृतमण्डकृतं अण्डाज्जातमित्यर्थः, तथाहि ते वदन्ति—यदा न किञ्चिदपि वस्त्वासीत्—पदार्थशून्योऽयं संसारः तदा ब्रह्माऽप्स्वण्डमसृजत्, तस्माच्च क्रमेण वृद्धात्पश्चाद्द्विधाभावमुपगतादूर्ध्वाधोविभागोऽभूत्, तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभूवन्, एवं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसमुद्रसरित्पर्वतमकराकरनिवेशादिसंस्थितिरभूदिति, तथा चोक्तम्—"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्य

१ [illegible]

मविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥" एवंभूते चास्मिन् जगति 'असौ' ब्रह्मा, तस्य भावस्तत्त्वं—पदार्थजातं तदण्डादिप्रक्रमेण 'अकार्षीत्' कृतवानिति। ते च ब्राह्मणादयः परमार्थमजानानाः सन्तो मृषा वदन्त एवं वदन्ति—अन्यथा च स्थितं तत्त्वमन्यथा प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ॥८॥

अधुनैतेषां देवोप्तादिजगद्वादिनामुत्तरदानायाह—

सएहिं[2] परियाएहिं, लोयं बूया[3] कडेति[4] य। तत्तं ते[5] ण विजाणंति, ण विणासी कयाइवि[8] ॥९॥

'स्वकैः' स्वकीयैः 'पर्यायैः' अभिप्रायैर्युक्तिविशेषैः अयं लोकः कृत इत्येवम् 'अब्रुवन्' अभिहितवन्तः, तद्यथा—देवोप्तो ब्रह्मोप्त ईश्वरकृतः प्रधानादिनिष्पादितः स्वयम्भुवा व्यधायि तन्निष्पादितमायया म्रियते तथाऽण्डजश्चायं लोक इत्यादि, स्वकीयाभिरुपपत्तिभिः प्रतिपादयन्ति—यथाऽस्मदुक्तमेव सत्यं नान्यदिति, ते चैवंवादिनो वादिनः सर्वेऽपि 'तत्त्वं' परमार्थं यथावस्थितलोकस्वभावं 'नाभि (न वि) जानन्ति' न सम्यक् विवेचयन्ति, यथाऽयं लोको द्रव्यार्थतया न विनाशीति—निर्मूलतः कदाचन, न चायमादित आरभ्य केनचित् क्रियते, अपि त्वयं लोकोऽभूद्भवति भविष्यति च, तथाहि—यत्तावदुक्तं यथा 'देवोप्तोऽयं लोक' इति, तदसंगतम्, यतो देवोप्तत्वे लोकस्य न किञ्चित्तथाविधं प्रमाणमस्ति, न चाप्रमाणकमुच्यमानं विद्वज्जनमनांसि प्रीणयति, अपि च—किमसौ देव उत्पन्नोऽनुत्पन्नो वा लोकं सृजेत् ?, न तावदनुत्पन्नस्तस्य खरविषाणस्येवासत्त्वात्करणाभावः, अथोत्पन्नः सृजेत्तर्त्कि स्वतोऽन्यतो वा ?, यदि स्वत एवोत्पन्नस्तथा सति तल्लोकस्यापि स्वत एवोत्पत्तिः किं नेष्यते ?, अथान्यत उत्पन्नः सन् लोककरणाय, सोऽप्यन्योऽन्यतः सोऽप्यन्योऽन्यत इत्येवमनवस्थालता न-

१ सन्त एव वदन्तो मृषा आ.। २ सतेहिं इ। ३ भूय इ। ४ °तिया आ. इ.। ५ तेन इ.। ६ °ती आ. इ। ७ °सि आ इ.। ८ कयाइवी आ, केयाइवि इ.।

भोगम्लव्यापिन्यनिवारितप्रसरा प्रसर्पतीति, अथासौ देवोऽनादिसिद्धो नोत्पन्न इत्युच्यते, इत्येवं सति लोकोऽप्यनादिरेवास्तु, को दोषः ?, किञ्च-असावनादिः सन्नित्योऽनित्यो वा स्यात् ?, यदि नित्यस्तदा तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधान्न कर्तृत्वम्, अथानित्यस्तथा सति स्वत एवोत्पत्त्यनन्तरं विनाशित्वादात्मनोऽपि न त्राणाय, कुतोऽन्यत्करणं प्रति तस्य व्यापारचिन्तेति ?, तथा किममूर्तो मूर्तिमान् वा ?, यद्यमूर्तस्तदाऽऽकाशवदकर्तैव, अथ मूर्तिमान् तथा सति प्राकृतपुरुषस्येवोपकरणसव्यपेक्षस्य स्पष्टमेव सर्वजगदकर्तृत्वमिति । देवगुप्तदेवपुत्रपक्षौ त्वतिफल्गुत्वादपकर्णयितव्याविति, एतदेव दूषणं ब्रह्मोप्तपक्षेऽपि द्रष्टव्यं, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति । तथा यदुक्तम्— 'तनुभुवनकरणादिकं विमत्यधिकरणभावापन्नं विशिष्टबुद्धिमत्कारणपूर्वकं, कार्यत्वात्, घटादिवदिति' तदयुक्तं, तथाविधविशिष्टकारणपूर्वकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः, कारणपूर्वकत्वमात्रेण तु कार्यं व्याप्तं, कार्यविशेषोपलम्भो कारणविशेषप्रतिपत्तिर्गृहीतप्रतिबन्धस्यैव भवति, न चात्यन्तादृष्टे तथा प्रतीतिर्भवति, घटे तत्पूर्वकत्वं प्रतिपन्नमिति चेत् युक्तं तत्र घटस्य कार्यविशेषत्वप्रतिपत्तेः, न त्वेवं सरित्समुद्रपर्वतादौ बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन सम्बन्धो गृहीत इति, नन्वत एव घटादिसंस्थानविशेषदर्शनवत्पर्वतादावपि विशिष्टसंस्थानदर्शनाद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वस्य साधनं क्रियते, नैतदेवं युक्तं, यतो न हि संस्थानशब्दप्रवृत्तिमात्रेण सर्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वावगतिर्भवति, यदि तु स्यात् मृद्विकारत्वाद्वल्मीकस्यापि घटवत्कुम्भकारकृतिः स्यात्, तथा चोक्तम्— "अन्यथा कुम्भकारेण, मृद्विकारस्य कस्यचित् । घटादेः करणात्सिध्येद्वल्मीकस्यापि तत्कृतिः ॥१॥" इति, तदेवं यस्यैव संस्थानविशेषस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन सम्बन्धो गृहीतस्तद्दर्शनमेव तथाविधकारणानुमापकं भवति न संस्थानमात्रमिति, अपिच-घटादिसंस्थानानां कुम्भकार एव विशिष्टः कर्तोपलभ्यते नेश्वरः, यदि पुनरीश्वरः स्यात् किं कुम्भकारेणेति ?, नैतदस्ति, तत्रापीश्वर एव सर्वव्यापितया निमित्तकारणत्वेन व्याप्रियते, नन्वेवं दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्यात्, तथा चोक्तम्–

"शस्त्रौषधादिसंबन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे। असंबद्धस्य किं स्थाणोः, कारणत्वं न कल्प्यते ?॥१॥" तदेवं दृष्टकारणपरित्यागेनादृष्टपरिकल्पना न न्याय्येति, अपिच— देवकुलावटादीनां यः कर्ता स सावयवोऽव्याप्यनित्यो दृष्टः, तद्दृष्टान्तसाधितश्चेश्वर एवंभूत एव प्राप्नोति, अन्यथाभूतस्य च दृष्टान्ताभावाद्व्याप्त्यसिद्धेर्नानुमानमिति, अनयैव दिशा स्थित्वाप्रवृत्त्यादिकमपि साधनमसाधनमायोज्यं, तुल्ययोगक्षेमत्वादिति। यदपि चोक्तं 'प्रधानादिकृतोऽयं लोक' इति, तदप्यसंगतं, यतस्तत्प्रधानं किं मूर्तममूर्तं वा ?, यद्यमूर्तं न ततो मकराकरादेर्मूर्तस्योद्भवो घटते, न ह्याकाशात्किञ्चिदुत्पद्यमानमालक्ष्यते, मूर्तामूर्तयोः कार्यकारणविरोधादिति, अथ मूर्तं तत्कुतः समुत्पन्नं ?, न तावत्स्वतो लोकस्यापि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात्, नाप्यन्यतोऽनवस्थापत्तेरिति, यथाऽनुत्पन्नमेव प्रधानाद्यनादिभावेनाऽऽस्ते तद्वल्लोकोऽपि किं नेष्यते ?, अपिच—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते, न चाविकृतात्प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिष्यते भवद्भिः, न च विकृतं प्रधानव्यपदेशमास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिति, अपिच—अचेतनायाः प्रकृतेः कथं पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिः ? येनाऽऽत्मनो भोगोपपत्त्या सृष्टिः स्यादिति, प्रकृतेरयं स्वभाव इति चेदेवं तर्हि स्वभाव एव बलीयान् यस्तामपि प्रकृतिं नियमयति, तत एव च लोकोऽप्यस्तु, किमदृष्टप्रधानादिकल्पनयेति ?, अथादिग्रहणात्स्वभावस्यापि कारणत्वं कैश्चिदिष्यत इति चेदस्तु, न हि स्वभावोऽभ्युपगम्यमानो नः क्षतिमातनोति, तथाहि—स्वो भावः स्वभावः—स्वकीयोत्पत्तिः, सा च पदार्थानामिष्यत एवेति। तथा यदुक्तं 'नियतिकृतोऽयं लोक' इति, तत्रापि नियमनं नियतिर्यद्यथाभवनं नियतिरित्युच्यते, सा चाऽऽलोच्यमाना न स्वभावादतिरिच्यते, यच्चाभ्यधायि—'स्वयम्भुवोत्पादितो लोक' इति, तदप्यसुन्दरमेव, यतः स्वयम्भूरिति किमुक्तं भवति ?, किं यदाऽसौ भवति तदा स्वतन्त्रोऽन्यनिरपेक्ष एव

१ °नाल्लोकस्योत्पत्तिरिति आ. इ। २ °त इति य° आ. इ.।

भवति अथानादित्वेनास्य स्वयम्भूरिति व्यपदिश्यते ? तर्हि स्वयम्भूवदनाद्यभ्युपगमस्तल्लोकस्यापि भवन् किं नाभ्युपेयते ?, किं स्वयम्भुवा ?, अथानादित्वस्यानादित्वे नित्यत्वं, नित्यस्य चैकरूपत्वात्कर्तृत्वानुपपत्तिः, तथा वीतरागत्वादस्य संसारवैचित्र्यानुपपत्तिः, अथ सरागोऽसौ ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकात्सुतरां विश्वस्याकर्ता, मूर्तामूर्तादिविकल्पाश्च प्राग्वद्योज्या इति । यदपि चात्राभिहितं—'तेन मार' समुत्पादिता, स च लोकं व्यापादयति', तदप्यकर्तृत्वस्याभिहितत्वादसम्बद्धप्रलापमात्रमिति । तथा यदुक्तम्—'अण्डादिक्रमजोऽयं लोक' इति, तदप्यसमीचीनं, यतो यावत्स्वयम्भुवा तन्न सृष्टं ता यथाऽण्डमन्तरेणाभवन् तथा लोकोऽपि भूत इत्यभ्युपगमे न काचिद्बाधा दृश्यते, तथाऽसौ ब्रह्मा यावदण्डं सृजति तावल्लोकमेव कस्मान्नोत्पादयति ?, किमनया कष्टया युक्त्यसंगतया चाण्डपरिकल्पनया ?, एवमस्त्विति चेत् तेषां कश्चिदभिहितवन्तो यथा ब्राह्मणो मुखाद्ब्रह्मणः समजायन्त बाहुभ्यां क्षत्रिया ऊरुभ्यां वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति, एतदप्ययुक्तिसंगतमेव, यतो न मुखादेः कस्यचिदुत्पत्तिरभ्युपलभ्यते, यद्यपि स्यात्तथा सति वर्णानामभेदः स्यात्, एकस्मादुत्पत्तेः, तथा ब्राह्मणानां कठैर्ष्यरीयकलापादिकश्च भेदो न स्यात्, एकस्मा मुखादुत्पत्तेः, एवं चोपनयनादिसंस्कारो न भवेत्, भावे वा स्वस्रादिग्रहणापत्तिः स्यात्, एवमाद्यनेकदोषदुष्टत्वादेव लोकोत्पत्तिर्नाभ्युपगन्तव्या । ततश्च स्थितमेतत्—न सर्ववादिनो लोकस्यानाद्यपर्यवसितस्योर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणस्य वैशाखस्थानस्थकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषाकृतेरधोमुखमल्लकाकारसप्तपृथ्व्यात्मकाधोलोकस्य स्थालाकारासंख्येयद्वीपसमुद्रापारमध्यलोकस्य मल्लकसम्पुटाकारोर्ध्वलोकस्य धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवात्मकस्य द्रव्यार्थतया नित्यस्य पर्यायापेक्षया क्षणक्षयिण उत्पादव्ययध्रौव्यापादितत्रयस्य तस्यानादिजीवकर्मसंबन्धापादितानेकभवप्रपञ्चस्याष्टविधकर्मविप्रमुक्ताऽऽत्मलोकान्तोपल-

१ योऽयं आ. । २ तर्हि क ड. । ३ भक्ष्याभक्ष्यभेदो आ. । ४ स्थितम् क ड. ।

क्षितस्य तत्त्वमजानानाः सन्तो मृषा वदन्तीति ॥९॥ इदानीमेतेषामेव देवोप्तादिवादिनामज्ञानित्वं प्रसाध्य तत्फलदिदर्शयिषयाऽऽह—

अमणुन्न[2]समुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया। समुप्पायमजाणंता, कहं[3] नायंति संवरं ? ॥१०॥

मनोऽनुकूलं मनोज्ञं—शोभनमनुष्ठानं न मनोज्ञममनोज्ञम्—असदनुष्ठानं तस्मादुत्पादः—आदुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम्, एवकारोऽवधारणे, स चैवं संबन्धनीयः—अमनोज्ञसमुत्पादमेव दुःखमित्येवं 'विजानीयात्' अवगच्छेत्प्राज्ञः, एतदुक्तं भवति—स्वकृतासदनुष्ठानादेव दुःखस्योद्भवो भवति नान्यस्मादिति, एवं व्यवस्थितेऽपि सति अनन्तरोक्तवादिनोऽसदनुष्ठानोद्भवस्य दुःखस्य समुत्पादमजानानाः सन्तोऽन्यत ईश्वरादेर्दुःखस्योत्पादमिच्छन्ति, ते चैवमिच्छन्तः 'कथं' केन प्रकारेण दुःखस्य संवरं—दुःखप्रतिघातहेतुं ज्ञास्यन्ति, निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवति, ते च निदानमेव न जानन्ति, तदजानानाः कथं दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते ?, यतमानाअपि च नैव दुःखोच्छेदनमवाप्स्यन्ति, अपि तु संसार एव जन्मजरामरणेष्टवियोगाद्यनेकदुःखव्राताघ्राता भूयो भूयोऽरहट्टघटीन्यायेनानन्तमपि कालं संस्थास्यन्ति ॥१०॥ साम्प्रतं प्रकारान्तरेण कृतवादिमतमेवोपन्यस्यन्नाह—

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहियं। पुणो किड्डापदोसेणं, [10]सो तत्थ अवरज्झई[11] ॥११॥

इह संवुडे मुणी जाए[12], पच्छा होइ अपावए। वियडंबु[13] जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

[1] "त्वात्" शा. हाता" इ. । २ अमणुण्णा इत्यादि आ इ । ३ किहनाद्द° आ किह नाहिं° इ. । ४ ते दुखो° आ. इ । ५ ×नैव आ । ६ °च्छेद×° आ. । ७ आ. । ८ °ातिय शा. भाधित इ. । ९ °टायदो° आ °डापयो° इ. । १० स आ इ । ११ °ति आ. °इ इ । १२ °ति आ. इ. । १३ °डंच आ. इ. ।

'इह' अस्मिन् द्वात्रिंशत्प्रस्तावे त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगतत्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि ते एवं वदन्ति—यथाऽयमात्मा 'शुद्धो' मनुष्यभव एव शुद्धाचारो भूत्वा अपगताशेषमलकलङ्को मोक्षे अपापको भवति—अपगताशेषकर्मा भवतीत्यर्थः, इदम् 'एकम्' गोशालकमतानुसारिणामाख्यातं, पुनरसावात्मा शुद्धस्वाकर्मकत्वराशिद्वयावस्थो भूत्वा क्रीडया प्रद्वेषेण वा स तत्र मोक्षस्थ एव 'अपराध्यति' रजसा श्लिष्यते, इदमुक्तं भवति—तस्य हि स्वशासनपूजामुपलभ्यान्यशासनपराभवं चोपलभ्य क्रीडोत्पद्यते—प्रमोदः संजायते, स्वशासनन्यक्कारदर्शनाच्च द्वेषः, ततोऽसौ क्रीडाद्वेषाभ्यामनुगतान्तरात्मा शनैः शनैर्निर्मलपटवदुपभुज्यमानो रजसा मलिनीक्रियते, मलीमसश्च कर्मगौरवाद्भूयः संसारेऽवतरति, अस्यां चावस्थायां सकर्मकत्वात्तृतीयराश्यवस्थो भवति ॥११॥ किं च—'इह' अस्मिन् मनुष्यभवे प्राप्तः सन् प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा—यमनियमरतो जातः सन् पश्चादपापो भवति—अपगताशेषकर्मकलङ्को भवतीति भावः, ततः स्वशासनं प्रज्वाल्य मुक्त्यवस्थो भवति, पुनरपि स्वशासनपूजादर्शनान्निकारोपलब्धेश्च रागद्वेषोदयात्कलुषितान्तरात्मा विकटाम्बुवत्—उदकमिव नीरजस्कं सद्वातोद्धूतरेणुनिवहसंपृक्तं सरजस्कं—मलिनं भूयो यथा भवति तथाऽयमप्यात्माऽनन्तेन कालेन संसारोद्वेगाच्छुद्धाचारावस्थो भूत्वा ततो मोक्षावाप्तौ सत्यामकर्मावस्थो भवति, पुनः शासनपूजानिकारदर्शनाद्रागद्वेषोदयात्सकर्मा भवतीति, एवं त्रैराशिकानां राशित्रयावस्थो भवस्यात्मेत्याख्यातम्, उक्तं च—"दग्ध्वेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम्। मुक्तः स्वयं कृततनुश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥१॥" इति ॥१२॥

१ 'मस्य' भा. ६। २ 'पवे' भा. ६। ३ 'क्रीडया' भा. 'धर्मसभा' ६। ४ 'मिथ्य' भा ६। ५ 'तीति' भा. ६। ६ 'निमर्दी' ६। ७ 'विरुपशुद्धकर्मा' भा ६। ८ 'पृष्ठ' भा. ६।

अधुनैतद्दूषयितुमाह—

एताणुवीति मेधावी, बंभचेरेणं ते वसे। पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा। अहो ईहेव वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

'एतान्' पूर्वोक्तान् वादिनोऽनुचिन्त्य 'मेधावी' प्रज्ञावान् मर्यादाव्यवस्थितो वा एतदवधारयेत् यथा—नैते राशित्रयवादिनो देवोप्तादिलोकवादिनश्च 'ब्रह्मचर्ये' तदुपलक्षिते वा संयमानुष्ठाने 'वसेयुः' अवतिष्ठेरन्निति, तथाहि—तेषामयमभ्युपगमो यथा स्वदर्शनपूजानिकारदर्शनात्कर्मबन्धो भवति, एवं चावश्यं तद्दर्शनस्य पूजया तिरस्कारेण वोभयेन वा भाव्यं, तत्संभवाच्च कर्मोपचयस्तदुपचयाच्च शुद्ध्यभावः शुद्ध्यभावाच्च मोक्षाभावः, न च मुक्तानामपगताशेषकर्मकलङ्कानां कृतकृत्यानामपगताशेषयथावस्थितवस्तुतत्त्वानां समस्तुतिनिन्दानामपगतात्मात्मीयपरिग्रहाणां रागद्वेषानुषङ्गः, तदभावाच्च कुतः पुनः कर्मबन्धः?, तद्वशाच्च संसारावतरणमित्यर्थः, अतस्ते यद्यपि कथञ्चिद् द्रव्यब्रह्मचर्ये व्यवस्थितास्तथापि सम्यग्ज्ञानाभावान्न ते सम्यगनुष्ठानभाज इति स्थितम्। अपिच—सर्वेऽप्येते प्रावादुकाः 'स्वकं स्वकम्' आत्मीयमात्मीयं दर्शनं स्वदर्शनानुरागादाख्यातारः—शोभनत्वेन प्रख्यापयितार इति, न च तत्र विदितवेद्येनास्था विधेयेति ॥१३॥ पुनरन्यथा कृतवादिमतमुपदर्शयितुमाह—'सए सए इत्यादि' ते कृतवादिनः शैवैकदण्डिप्रभृतयः स्वकीये स्वकीये उपतिष्ठन्त्यस्मिन्नित्युपस्थानं—स्वीयमनुष्ठानं दीक्षागुरुचरणशुश्रूषादिकं तस्मिन्नेव 'सिद्धिम्' अशेषसांसारिकप्रपञ्चरहितस्वभावामभिहितवन्तो 'नान्यथा' नान्येन प्रकारेण सिद्धिर-

१ मेहावी इ.। २ °न इ। ३ °ते आ. इ.। ४ ण मण्ण° आ.। ५ विहोति आ. विहोद इ.। ६ °नुविचिन्त्य आ. इ.। ७ सत्यसयमा° आ.। ८ °सुस्वतत्त्वा° आ.। ९ °मित्यतस्ते° आ. इ.। १० XXXमात्मीयXXXदर्शनानुराग° आ.। ११ °तत्वेनास्था आ. °वेद्यनात्मास्था इ.।

साम्यत इति, तथाहि—केचन दीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः, एकदण्डिकास्तु पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यभिहितवन्तः, तथा अन्येऽपि वेदान्तिकाः ध्यानाध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात्सिद्धिमुक्तवन्त इत्येवमन्येऽपि यथास्व दर्शनान्मोक्षमार्गं प्रतिपादयन्तीति, अत्रे च द्वोपरमलक्षणायाः सिद्धिप्राप्तेरधस्तात्—प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्तिर्न भवति तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानानुभावाद् ष्टगुणैश्वर्यसद्भावो भवतीति दर्शयति—आत्मवशे वर्तितुं शीलमस्येति वशवर्ती—वशेन्द्रिय इत्युक्तं भवति, न ह्यसौ सांसारिकैः स्वभावैर भिभूयते, सर्वे कामा—अभिलाषा अर्पिता—संपन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितो, यान् यान् कामान् कामयते ते तेऽस्य सर्वे सिध्यन्ती तियावत्, तथाहि—सिद्धेरारादष्टगुणैश्वर्यलक्षणा 'सिद्धिर्भवति' तद्यथा—अणिमा लघिमा महिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं प्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वमिति ॥१४॥ तदेवमिहैवास्मदुक्तानुष्ठायिनोऽष्टगुणैश्वर्यलक्षणा सिद्धिर्भवत्यमुत्र चाशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणा सिद्धिर्भवतीति दर्शयितुमाह—

सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसिमाहियं। सिद्धिमेव पुरो काउं, सासए गढिआ नरा ॥१५॥

असंवुडा अणादीयं, भमिहिंति पुणो पुणो। कप्पकालमुवज्जंति, ठाणा आसुरकिब्बिसिया ॥१६॥

इति बेमि इति प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशकः ॥ गाथा ग्र० ७५ ॥

---

१ तदनन्तु ह० । २ दर्शयेन्तेव ख० दर्शयतोत ह० । ३ सिद्धेरा । ४ समर्पिता ख० । ५ सिध्यन्त इति ख० । ६ आरात् ख० ह० । ७ 'मित्येतत्य ख० । ८ गमिष्यन्तीति च० । ९ महीर्य ख० महीतें ह० । १० पुरा ख०, ह० । ११ असुर ख० ह० । १२ 'किल्बिषिका० । बेमि । एतत् ख०, ह० समाप्ते ॥

'सिद्धा य ते' इत्यादि ये ह्यस्मदुक्तमनुष्ठानं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽस्मिन् जन्मन्यष्टगुणैश्वर्यरूपां सिद्धिमासाद्य पुनर्विशिष्टसमाधियोगेन शरीरत्यागं कृत्वा 'सिद्धाश्च' अशेषद्वन्द्वरहिता अरोगा भवन्ति, अरोगग्रहणं चोपलक्षणम्, अनेकशारीरमानसद्वन्द्वैर्न स्पृश्यन्ते, शरीरमनसोरभावादिति, एवम् 'इह' अस्मिन् लोके सिद्धिविचारे वा 'एकेषां' शैवादीनामिदम् 'आख्यातं' भाषितं, ते च शैवादयः 'सिद्धिमेव पुरस्कृत्य' मुक्तिमेवाङ्गीकृत्य 'स्वकीये आशये' स्वदर्शनाभ्युपगमे 'ग्रथिताः' संबद्धा अध्युपपन्नास्तदनुकूला युक्तीः प्रतिपादयन्ति, नरा इव नराः—प्राकृतपुरुषाः शास्त्रावबोधविकलाः स्वाभिप्रेतार्थसाधनाय युक्तीः प्रतिपादयन्ति, एवं तेऽपि पण्डितंमन्याः परमार्थमजानानाः स्वाग्रहप्रसाधिका युक्तीरुद्घोषयन्तीति, तथा चोक्तम्—"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा। पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥१॥" ॥१५॥ साम्प्रतमेतेषामनर्थप्रदर्शनपुरःसरं दूषणाभिधित्सयाऽऽह—'असंवुडा' इत्यादि ते हि पाखण्डिका मोक्षाभिसन्धिना समुत्थिता अपि 'असंवृता' इन्द्रियनोइन्द्रियैरसंयताः, इहाप्यस्माकं लाभ इन्द्रियानुरोधेन सर्वविषयोपभोगाद्, अमुत्रं मुक्त्यवाप्तेः, तदेवं मुग्धजनं प्रतारयन्तोऽनादिसंसारकान्तारं 'भ्रमिष्यन्ति' पर्यटिष्यन्ति स्वदुश्चरितोपार्जितकर्मपाशावैशापि(पाशि)ताः पौनःपुन्येन नरकादियातनास्थानेषूत्पद्यन्ते, तथाहि—नेन्द्रियैरनियमितैरशेषद्वन्द्वप्रच्युतिलक्षणा सिद्धिरवाप्यते, याऽप्यणिमाद्यष्टगुणलक्षणैहिकी सिद्धिरभिधीयते साऽपि मुग्धजनप्रतारणाय दम्भकल्पैवेति, याऽपि च तेषां बालतपोऽनुष्ठानादिना स्वर्गावाप्तिः साऽप्येवंप्राया भवतीति दर्शयति—'कल्पकालं' प्रभूतकालम् 'उत्पद्यन्ते' संभवन्ति आसुराः—असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयः,

---

१ अरोगाश्च आ इ.। २ °त्रच आ इ। ३ अनादिकं आ इ। ४ XXXXX आ.। सा. ५ तायात प्र०। ६ तायत्त आ. तायात इ। ७ °वपाशिता आ इ।

...अधमाः प्रव्यभूता अल्पसत्त्वोऽल्पभोगाः स्वल्पायुःसामर्थ्याद्युपेताश्च भवन्तीति । इति उद्देशकपरिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१६॥७५॥ इति समयाख्याध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः समाप्तः ॥

* * * * *

अथ प्रथमाध्ययने चतुर्थ उद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, अधुना चतुर्थः समारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः—अनन्तरोद्देशकेऽध्ययनार्थत्वात्स्वपरसमयवक्तव्यतोक्ते हापि सैवाभिधीयते, अथवाऽनन्तरोद्देशके तीर्थिकानां हिंसितावाचरत्वमुक्तमिहापि तदेवाभिधीयते, तदनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराण्यभिधाय सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीय, तच्चेदम्—

एते जिया भो ! न सरणं, बाला पंडियमाणिणो । हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएसगा ॥१॥

तं च भिक्खू परिन्नाय, वियं तेसु ण मुच्छए । अणुक्कस्से अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए ॥२॥

'एते जिया भो' इत्यादि अस्य चानन्तरसूत्रेण सहाय संबन्धस्तद्यथा, अनन्तरसूत्रेऽभिहितं—'तीर्थिका अंसुरस्थानेषु किल्बिषा वा यन्ते' इति, किमिति ? यत एते जिताः परीषहोपसर्गैः, परम्परसूत्रसंबन्धस्त्वयम्—आदाविदमभिहितं 'बुध्येत त्रोटयेत' तत्कथमपि बुध्येत—

१ ...क्ख ता. । २ ...स्तत्वं । ३ ...ड ख. भो' इ । ४ ... ता. इ. । पा ५ ... । ६ ... ख इ । ७ मा... ख. । ८ ...ख. ...इ । ९ ... ख. इ. । १० ... ख. इ. । ११ ... ख. ... ख. ...इ । १२ ...

यथैते पञ्चभूतादिवादिनो गोशालकमतानुसारिणश्च जिताः परीषहोपसर्गैः कामक्रोधलोभमानमोहमदाख्येनारिषड्वर्गेण चेति, एवमन्यैरपि सूत्रैः संबन्ध उत्प्रेक्ष्यः। तदेवं कृतसंबन्धस्यास्य सूत्रस्येदानीं व्याख्या प्रतन्यते—'एते' इति पञ्चभूतैकात्मतज्जीवतच्छरीरादिवादिनः कृतवादिनश्च गोशालकमतानुसारिणस्त्रैराशिकाश्च 'जिता' अभिभूता रागद्वेषादिभिः शब्दादिविषयैश्च तथा प्रबलमहामोहोत्थाज्ञानेन च 'भो' इति विनेयामन्त्रणम् एवं त्वं गृहाण यथैते तीर्थिका असम्यगुपदेशप्रवृत्तत्वान्न कस्यचिच्छरणं भवितुमर्हन्ति न कञ्चित्त्रातुं समर्था इत्यर्थः, किमित्येवं?, यतस्ते बाला इव बालाः, यथा शिशवः सदसद्विवेकवैकल्याद्यत्किञ्चनकारिणो भाषिणश्च, तथैतेऽपि स्वयमज्ञाः सन्तः परानपि मोहयन्ति, एवम्भूता अपि च सन्तः पण्डितमानिन इति, क्वचित्पाठो 'जत्थ बालेऽवसीयइ'त्ति 'यत्र' अज्ञाने 'बालः' अज्ञो लग्नः सन्नवसीदति, तत्र ते व्यवस्थिता यतस्ते न कस्यचित्त्राणायेति। यच्चै तैर्विरूपमाचरितं तदुत्तरार्द्धेन दर्शयति—'हित्वा' त्यक्त्वा, णमिति वाक्यालङ्कारे, पूर्वसंयोगो—धनधान्यस्वजनादिभिः संयोगस्तं त्यक्त्वा किल वयं निःसङ्गाः प्रव्रजिता इत्युत्थाय पुनः सिता—बद्धाः परिग्रहारम्भेष्वासक्तास्ते गृहस्थाः तेषां कृत्यं—करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दकारी व्यापारस्तस्योपदेशस्तं गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः कृत्योपदेशका वा, यदिवा—'सिया' इति आर्षत्वाद्बहुवचनेन व्याख्यायते 'स्युः' भवेयुः कृत्यं—कर्तव्यं सावद्यानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्या—गृहस्थास्तेषामुपदेशः—संरम्भसमारम्भारम्भरूपः स विद्यते तेषां ते कृत्योपदेशिकाः, प्रव्रजिता अपि सन्तः कर्तव्यैर्गृहस्थेभ्यो न भिद्यन्ते, गृहस्था इव तेऽपि सर्वावस्थाः पञ्चसूनाव्यापारोपेता इत्यर्थः ॥१॥ एवम्भूतेषु च तीर्थिकेषु सत्सु भिक्षुणा

१ °लxस° आ इ.। २ °मानलोभ° आ.। ३ °रीरxवादिनः आ.। ४ °मोहेनाऽ° आ.। ५ यश्चैते इ. ६ °सत्त्व × आ। ७ देशका. आ.। ८ °सूना आ °सूनाः इ। ९ एवं च भू° इ.।

यत्कृत्यं तद्दर्शयितुमाह—'त च भिक्खू' इत्यादि 'तं' पाखण्डिकलोकमसदुपदेशदानाभिरतं 'परिज्ञाय' सम्यगवगम्य यथैते मिथ्यात्वो परतान्त्यस्मान' सद्विवेकशून्या नात्मने हितायाऽलं नान्यस्मै इत्येवं पर्यालोच्य भावभिक्षुः संयतो 'विद्वान्' विदितवेद्यः तेषु 'न मूर्छे-येत्' न गार्ध्यं विदध्यात्, न तैः सह संपर्कमपि कुर्यादित्यर्थः। किं पुनः कर्तव्यमिति पश्चार्द्धेन दर्शयति—'अनुत्कर्षवानिति' अष्टम दस्थानानामन्यतमेनाप्युत्सेकमकुर्वन् तथा 'अप्रलीनः' असंबद्धस्तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु वा संश्लेषमकुर्वन् 'मध्येन' रागद्वेषयो-रन्तरालेन संचरन् 'मुनिः' जगत्त्रयवेदी 'यापयेत्' आत्मानं वर्तयेत्, इदमुक्तं भवति—तीर्थिकादिभिः सह सत्यपि कथञ्चित्संबन्धे स्व-कारद्वारेण तथा भावतस्तेष्वप्रलीयमानेनारक्तद्विष्टेन तेषु निन्दामात्मनश्च प्रशंसां परिहरता मुनिनाऽऽत्मा यापयितव्य इति ॥२॥ किमिति' ते तीर्थिकास्त्राणाय न भवन्तीति दर्शयितुमाह—

सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसिमाहियं। अपरिग्गहो अणारंभो, भिक्खू ताणं परिव्वए ॥३॥

कडेसु घासमेसेज्जा विऊ दत्तेसणं चरे। अगिद्धो विप्पमुक्को य, ओमाणं परिवज्जए ॥४॥

'सपरिग्गहा' इत्यादि सह परिग्रहेण धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिना वर्तन्ते तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावन्तः सपरिग्रहाः तथा सहारम्भेण जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्तन्त इति तदभावेऽप्यौद्देशिकादिभोजित्वात्सारम्भाः—तीर्थिकादयः, सपरिग्रहारम्भक-त्वेनैव च मोक्षमार्गं प्रसाधयन्तीति दर्शयति—'इह' परलोकचिन्तायाम् एकेषां केषाञ्चित् 'आख्यातं' भाषितं, यथा किमनया शिर

१ गच्छन्ते इ। २ माऽऽल्ले इ। ३ ेति च। ४ दर्शयति च। ५ आदिर्य च। ६ आदितं इ। ७ मे च० इ। ८ ममता च०। ममेव इ। ९ विरुद्ध च०। वित इ। ... १२ ... [illegible]

स्तुण्डमुण्डनादिकया क्रियया ?, परं गुरोरनुग्रहात्परमाक्षरावाप्तिस्तद्दीक्षावाप्तिर्वा यदि भवति ततो मोक्षो भवतीत्येवं भाषमाणास्ते न त्राणाय भवन्तीति। ये तु त्रातुं समर्थास्तान्पश्चार्द्धेन दर्शयति–'अपरिग्रहाः' न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो येषां ते अपरिग्रहाः, तथा न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां तेऽनारम्भाः, ते चैवंभूताः कर्मलघवः स्वयं यानपात्रकल्पाः संसारमहोदधेर्जन्तूत्तारणसमर्थास्तान् 'भिक्षुः' भिक्षणशील उद्देशिकाद्यपरिभोजी 'त्राणं' शरणं परिः–समन्ताद्व्रजेत्–गच्छेदिति ॥३॥ कथं पुनस्तेनापरिग्रहेणानारम्भेण च वर्तनीयमित्येतद्दर्शयितुमाह–'कडेसु' इत्यादि गृहस्थैः परिग्रहारम्भद्वारेणाऽऽत्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते तेषु कृतेषु–परकृतेषु परनिष्ठितेष्वित्यर्थः, अनेन च षोडशोद्गमदोषपरिहारः सूचितः, तदेवमुद्गमदोषरहितं ग्रस्यत इति ग्रासः–आहारस्तमेवंभूतम् 'अन्वेषयेत्' मृगयेत् याचयेदित्यर्थः, तथा 'विद्वान्' संयमकरणैकनिपुणः परैराशंसादोषरहितैर्यत्नैःश्रेय सबुद्ध्या दत्तमिति, अनेन षोडशोत्पादनदोषाः परिगृहीता द्रष्टव्याः, तदेवम्भूते दौत्यधात्रीनिमित्तादिदोषरहिते आहारे स भिक्षुः 'एषणां' ग्रहणैषणां 'चरेद्' अनुतिष्ठेदिति, अनेनापि दशैषणादोषाः परिगृहीता इति मन्तव्यं, तथा 'अगृद्धः' अनध्युपपन्नोऽमूर्च्छितस्तस्मिन्नाहारे रागद्वेषविप्रमुक्तः, अनेनापि च ग्रासैषणादोषाः पञ्च निरस्ता अवसेयाः, स एवम्भूतो भिक्षुः परेषामपमानं—परावमदर्शित्वं 'परिवर्जयेत्' परित्यजेत्, न तपोमदं ज्ञानमदं च कुर्यादिति भावः ॥४॥ एवं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकाराभिहितं 'किच्चुवमा य चउत्थे' इत्येतत्प्रदर्श्येदानीं परवादिमतमेवोद्देशार्थाधिकाराभिहितं दर्शयितुमाह—

१ पर° इ. । २ पुनश्चातु आ इ । ३ परि आ इ । ४ °कृतपर° आ. इ. । ५ याचेते° आ इ । ६ °देशार्था° आ । ७ किच्चु° आ. किंचु° इ. । ८ चत्तत्थेत्तीत्ये° आ. चउत्थित्तीत्ये° इ ।

लोगवाय णिसामिज्जा, इहमेगेसिमाहियं । विपरीयपन्नसभूयं, अन्नउत्त तयाणुयं ॥५॥
अणते निइए लोए, सासए ण विणस्सती । अतवं णिइए लोए, इति धीरोऽतिपासइ ॥६॥

'लोगवाय'मित्यादि लोकानां—पाखण्डिनां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः—यथास्वमभिप्रायेणान्यथा वाऽभ्युपगमस्तं 'निशामयेत्' शृणुयात्—जानीयादित्यर्थः, तदेव दर्शयति—'इह' अस्मिन्संसारे 'एकेषां' केषाञ्चिदिदम् 'आख्यातम्' अभ्युपगमः । तदेव विशिनष्टि—विपरीतासमार्थादन्यथाभूता या प्रज्ञा तया सम्भूतं—समुत्पन्नं, तत्त्वविपर्यस्तबुद्धिरचितमितियावत्, पुनरपि विशेषयति—अन्यैः—अविवेकिभिर्यदुक्तं तदनुगं, यथावस्थितार्थविपरीतानुसारिभिर्यदुक्तं विपरीतार्थाभिधायितया तदनुगच्छतीत्यर्थः ॥५॥ तमेव विपर्यस्तबुद्धिरचितं लोकवादं दर्शयितुमाह—'अणते निइए लोए' इत्यादि नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः, न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं भवतीति, तथाहि—यो यादृगिह भवे स तादृगेव परभवेऽप्युत्पद्यते, पुरुषः पुरुष एवाङ्गना अङ्गनैवेत्यादि, यदिवा 'अनन्तः' अपरिमितो निरवधिक इतियावत्, तथा 'नित्य' इति अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो लोक इति, तथा शश्वद्भवतीति शाश्वतो द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यापेक्षयाऽशाश्वतत्वमपि न कारणद्रव्यं परमाणुत्वं परित्यजतीति तथा न विनश्यतीति दिगात्माकाशाद्यपेक्षया । तथाऽन्तोऽस्यास्तीत्यन्तवान् लोकः, 'सप्तद्वीपा वसुन्धरे'ति परिमाणोक्तेः, स च तादृक्परिमाणो नित्य इत्येवं 'धीरः' कश्चित्साहसिकोऽन्यथाभूतार्थप्रतिपादनात् व्यासादिरिवीति पश्य वीत्यतिपश्यति । तदेवंभूतमनेकभेदभिन्नं लोकवादं निशामयेदिति प्रक्रमेण सम्बन्धः । तथा 'अपुत्रस्य न सन्ति लोका, ब्राह्मणा देवाः,

---

१ निसामे अ. इ. । २ पन्नीव च इ. । ३ निय° च. इ. । ४ र्ति च. इ. । ५ °सम्यगुपितानुगं च सम्यगिति[illegible] इ. । ६ भिविए इ. । ७ पश्येचरितस्याति च. इ. । ८ °तिए च. इ. । ९ °तिपतति च. इ. । १० भवति च. इ. । ११ °भति च. इ. । १२ पवीय च इ. ।

श्वानो यक्षा, गोभिहतस्य गोघ्नस्य वा न सन्ति लोका'इत्येवमादिकं निर्युक्तिकं लोकवादं निशामयेदिति ॥६॥ किंच—

अपरिमाणं वियाणाई, इहमेगेसिमाहियं[2]। सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासई[3] ॥७॥

जे केई[4] तसा पाणा, चिट्ठंति अदु[5] थावरा। परियाए[6] अत्थि[7] से अंजू, जेण[8] ते तसथावरा ॥८॥

'अपरिमाणं' इत्यादि न विद्यते 'परिमाणम्' इयत्ता क्षेत्रतः कालतो वा यस्य तदपरिमाणं, तदेवंभूतं विजानाति कश्चित्तीर्थिकतीर्थकृत्, एतदुक्तं[9] भवति—अपरिमितज्ञोऽसावतीन्द्रियद्रष्टा, न पुनः सर्वज्ञ इति, यदिवा—अपरिमितज्ञ इत्यभिप्रेतार्थातीन्द्रियदर्शीति[10], तथा चोक्तम्—"सर्वं पश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु। कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः कोपयुज्यते ? ॥१॥" इति, 'इह' अस्मिँल्लोके 'एकेषां' सर्वज्ञापह्नववादिनाम् 'इदमाख्यातम्' अयमभ्युपगमः, तथा सर्वक्षेत्रमाश्रित्य कालं वा परिच्छेद्यं[11] कर्मतापन्नमाश्रित्य सह परिमाणेन सपरिमाणं—सपरिच्छेदं धीः—बुद्धिस्तया राजत इति धीर इत्येवमसौ अतीव पश्यतीत्यतिपश्यति, तथाहि ते ब्रुवते—दिव्यं वर्षसहस्रमसौ ब्रह्मा स्वपिति, तस्यामवस्थायां न पश्यत्यसौ, तावन्मात्रं च कालं जागर्ति, तत्र च पश्यत्यसाविति, तदेवम्भूतो बहुधा लोकवादः प्रवृत्तः ॥७॥ अस्य चोत्तरदानायाह—'जे केई'इत्यादि ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसा—द्वीन्द्रियादयः 'प्राणाः' प्राणिनः सत्त्वाः 'तिष्ठन्ति'[12] त्रसत्वमनुभवन्ति, अथवा 'स्थावराः' स्थावरनामकर्मोदयात् (याः) पृथिव्यादयस्ते, यद्ययं लोकवादः सत्यो भवेत् यथा यो यादृग-

१ °जाणाति आ इ. । २ माहित आ. इ । ३ °तिपासति आ तिपासति इ । ४ केति° आ. °तस इ. । ५ अदुव° आ °तिदुव° इ । ६ °ताए आ इ । ७ अत्थि आ । ८ तेण वे आ. । ९ तदेतदुक्तं खा. । १० °दर्शी न पुन. सर्वदर्शीति आ. °दर्शीति न पुन. सर्वदर्शी इ. । ११ °च्छेद्य वा आ । १२ तिष्ठन्तीति आ. ।

स्मिन् जन्मनि मनुष्यादिः सोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि तादृगेव भवतीति, ततः सातवराणां भ्रसानां च तादृक्त्वे सति दानाध्ययनजपनियमतपोऽनुष्ठानादिकाः क्रिया' सर्वा अप्यनर्थिका आपद्येरन् । लोकेनापि चान्यथात्वमुक्तं, तद्यथा—"स वै एष शृगालो जायते यः सपुरीषो दह्यते" तस्माद् भावजन्मानो स्वकृतकर्मवशात् परस्परसंक्रमणायनिवारितमिति । तथा 'अनन्तो नित्यश्च लोकः' इति यदभिहितं, तदेवमभिधीयत—यदि स्वजात्यनुच्छेदेनास्य नित्यताऽभिधीयते ततः परिणामानित्यत्वमस्माकमपीष्टमेवाभ्युपगतं न काचित्क्षतिः, अथाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन नित्यत्वमभ्युपगम्यते तन्न घटते, तस्याध्यक्षबाधितत्वात्, न हि धर्मान्तरविपर्यायानालिङ्गित्व किञ्चिद् वस्तु प्रत्यक्षेणावसीयते, निष्पर्यायस्य च खपुष्पस्येवासत्त्वमेव स्यादिति । तथा क्षयकृतत्वं कार्यद्रव्यस्याऽऽकाशात्मादेर्भाविनाश्रित्य यदुच्यते द्रव्यविशेषापेक्षया तदप्यसदेव, यतः सर्वमेव वस्तूत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वेन निर्विभागमेव प्रवर्तते, अन्यथा वियदरविन्दस्येव वस्तुत्वमेव हीयतेति । तथा यदुक्तम्—'अन्तवाँल्लोकः सप्तद्वीपावच्छिन्नत्वा'दित्येतदपि तदप्रमाणाभावादिति । तथा यदप्युक्तम्—'अपुत्रस्य न सन्ति लोकाः' इत्यादीत्येतदपि बालभाषितं, यथाहि—किं पुत्रसत्तामात्रेणैव विशिष्टलोकावाप्तिस्त तत्कृतविशिष्टानुष्ठानात् ?, यदि सत्तामात्रेण तत इन्द्रमदकाम्बुकाशौकराद्याधिक्याद्व्याप्ता लोका भवेयुः, तेषां पुत्रबहुत्वसंभवात्, अथानुष्ठानमाश्रीयते, तत्र पुत्रद्वये सत्येकेन शोभनमनुष्ठितमपरेणाशोभनमिति तत्र का वार्ता ?, स्वकृतानुष्ठानं च निष्फलमापन्नत्वेन यत्किञ्चिदेतदिति । तथा 'श्वानो यक्षा' इत्यादि युक्तिविरोधित्वादनाकर्णनीयमिति । यदपि प्रोक्तम्—'अपरिमाणं विमानामी'ति, तदपि न घटामियर्ति, यत' सत्यप्यपरिमितज्ञत्वे यदसौ सर्वज्ञो न भवेत् ततो हेयोपादेयोपदेशज्ञानविकलत्वादेवासौ प्रेक्षापूर्वका

१ एष भा. । २ प्रविश्य' भा. ६ । सा. १ भ्रान्त-स्वर्ग विमानपतन ओर भ्रमसंभ । ४ कक्ष

रिभिराद्रियेत, तथाहि तस्य कीटसंख्यापरिज्ञानमप्युपयोग्येव, यतो यथैतद्विषयेऽस्यापरिज्ञानमेवमन्यत्राप्या(पील्या)शङ्कया हेयोपादेये प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवृत्तिर्न स्यात्, तस्मात्सर्वज्ञत्वमेष्टव्यं। तथा यदुक्तं–'स्वापबोधविभागेन परिमितं जानाती'त्येतदपि सर्वजनसमानत्वे यत्किञ्चिदिति। यदपि च कैश्चिदुच्यते–यथा 'ब्रह्मणः स्वभावबोधयोर्लोकस्य प्रलयोदयौ भवत' इति, तदप्ययुक्तिसंगतमेव, प्रतिपादितं चैतत् प्रागेवेति न प्रतन्यते। न चात्यन्तं सर्वजगत उत्पादविनाशौ विद्येते 'न कदाचिदनीदृशं जगदि'ति वचनात्। तदेवमनन्तादिकं लोकवादं परिहृत्य यथावस्थितवस्तुस्वभावाविर्भावनं पश्चार्द्धेन दर्शयति–ये केचन त्रसाः स्थावरा वा तिष्ठन्त्यस्मिन् संसारे तेषां स्वकर्मपरिणत्याऽस्त्यसौ पर्यायः 'अंजू' इति प्रगुणोऽव्यभिचारी तेन पर्यायेण स्वकर्मपरिणतिजनितेन ते त्रसाः सन्तः स्थावराः संपद्यन्ते स्थावरा अपि च त्रसत्वमश्नुवते तथा त्रसास्त्रसत्वमेव स्थावराः स्थावरत्वमेवाऽऽप्नुवन्ति, न पुनर्यो यादृगिह स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्ययं नियम इति ॥८॥ अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्ताभिधित्सयाऽऽह—

उरालं[11] जगतो जोगं, विवज्जासं[4] पलिंति[5] य। सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिता[6] ॥९॥

एयं खु नाणिणो[7] सारं, जन्न[8] हिंसइ किंचण[9]। अहिंसासमयं चेव, एतावन्तं[10] वियाणिया ॥१०॥

'उराल'मिति स्थूलमुदारं 'जगत' औदारिकजन्तुग्रामस्य 'योगं' व्यापारं चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः, औदारिकशरीरिणो हि जन्तवः

१ °नत्वेन आ इ.। २ प्रागेव आ. इ। ३ ओराल इ। ४ °उ° आ °ओ° इ। ५ विपरीय सपलेति च आ विपरीया संपलेति य इ.। ६ अतो सव्वे अहिंसिया आ अतो सव्वे अहिंसिया इ। ७ णा° आ इ। ८ जं न आ. इ। ९ हिंसति किंचणं आ. हिंसति किंचण इ.। १० इत्तावय आ. इत्तावत्त इ.। ११ उरालमित्यादि उरालमिति आ. ओरालमित्यादि ओरालमिति इ.।

मान्द्रनाद्वस्थाविशेषात्मकस्वरूपात् 'विपर्यासमूत' बालकौमारयौवनादिकमुदारं योग परि-समन्तात्यन्तेगच्छन्ति पर्ययन्ते, ए-गद्भ भवन्ति-औदारिकशरीरिणो हि मनुष्यादेर्बालकौमारादिकः कालादिकृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चान्यथा च भवन् प्रत्यक्षेणैव छ-स्यन, न पुनरारुह्य प्राक् तादृगेव भवदवि, एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमिति। अपि च-'सर्वे' जन्तव श्राक्रान्ता-अभिभूता दुःखेन-शारीरमानसनासातोदयेन दुःखाक्रान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो लभ्यन्ते, यतः सर्वेऽपि ते यथाऽहिं-गिता भवन्ति तथा विधेयं। यदिवा-सर्वेऽपि जन्तवः 'अक्रान्तम्' अनभिमतं दुःखं येषां तेऽक्रान्तदुःखा चशब्दात् प्रियसुखाश्च, अत-मान् भवान् न हिंस्यादित्यनेन चान्यथात्वदृष्टान्तो दर्शितो भवत्युपदेशश्च दत्त इति ॥९॥ किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादित्याह-'एवं खु' [illegible] पादि गुरुरवाते, एतदेव 'ज्ञानिनो' विशिष्टविवेकवत 'सारं' न्याय्यं यत् केञ्चन प्राणिजात स्थावरं जङ्गमं वा 'न हिनस्ति' न परिता पयति, उपलक्षणं चैतत्, तेन मृषा मृषावादं च तृतीयावमानग्राहऽऽसेवेत न परिग्रहं परिगृह्णीयात्र नक्तं भुञ्जीतेत्येतज्ज्ञानिनः सारं यन्न समाचरेत् चतन इति। अपि च-अहिंसया समता अहिंसासमता तां चैतावद्विजानीयात्, यथा मम मरणं दुःखं चाप्रियमेवमन्यस्यापि [illegible] अपरागोऽपणाप्ये, अतएव साधुना ज्ञानवता प्राणिनां परितापनाऽपद्रावणादि न विधेयमेवेति ॥१०॥ एवं मूलगुणान-भिधायेदानीमनुत्तरगुणानभिधातुमाह आह—

वुसिए य विगयगेही,[1] आयाणं स(सम्म)रक्खए। चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे अ अंतसो ॥११॥

1 [illegible] ब. । २ [illegible] ब. । ३ गोंठी ब. । ४ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible]

एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए[1] सततं मुणी । उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं[2] च [3]विगिंचए ॥१२॥

समिए[4] उ सया[5] साहु, पंचसंवरसंवुडे[6] । सिएहिं[7] असिए[8] भिक्खू, आमोक्खाय[9] परिव्वएज्जासि ॥१३॥त्तिबेमि ॥[10]

'वुसिए य'इत्यादि विविधम्–अनेकप्रकारमुषितः–स्थितो दशविधचक्रवालसामाचार्यां व्युषितः, तथा विगता–अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्यासौ विगतगृद्धिः साधुः, एवंभूतश्चादीयते–स्वीक्रियते–प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानीयं–ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्सम्यग् रक्षयेद्–अनुपालयेत्, यथा यथा तस्य वृद्धिर्भवति तथा तथा कुर्यादित्यर्थः । कथं पुनश्चारित्रादि पालितं भवतीति दर्शयति–'चर्यासनशय्यासु' चरणं चर्या–गमनं, साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यं, तथा सुप्रत्युपेक्षिते सुप्रमार्जिते चासने उपवेष्टव्यं, तथा शय्यायां–वसतौ संस्तारके वा सुप्रत्युपेक्षितप्रमार्जिते स्थानादि विधेयं, तथा भक्ते पाने चान्तशः सम्यगुपयोगवता भाव्यम्, इदमुक्तं भवति–ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपप्रतिष्ठापनासमितिषूपयुक्तेनान्तशो भक्तपानं यावदुद्गमादिदोषरहितमन्वेषणीयमिति ॥११॥ पुनरपि चारित्रशुध्द्यर्थं गुणानधिकृत्याह–'एतेहिं' इत्यादि एतानि–अनन्तरोक्तानि त्रीणि स्थानानि, तद्यथा–ईर्यासमितिरित्येकं स्थानम्, आसनं शय्येत्यनेनादानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिरित्येतच्च द्वितीयं स्थानं, भक्तपानमित्यनेनैषणासमितिरुपात्ता, भक्तपानार्थं च प्रविष्टस्य भाषणसंभवाद्भाषासमितिराक्षिप्ता, सति चाहारे उच्चारप्रश्रवणादीनां सद्भावात्प्रतिष्ठापनासमितिरप्यायातेत्येतच्च तृतीयं स्थानमिति, अत एतेषु त्रिषु स्थानेषु सम्यग्यतः संयत आमोक्षाय परिव्रजेदित्युत्तरश्लोकान्ते क्रियेति । तथा 'सततम्' अनवरतम् 'मुनिः' सम्यक् यथा-

---

१ °ते आ. इ. । २ मज्झ च आ. । ३ विगिंच° आ. । ४ °ते आ इ । ५ सदा आ. इ । ६ °डो आ. । ७ सितेर्हि आ इ. ८ असिते आ. इ । ९ °क्खाए । १० ॥छ॥ पढम अज्झयण सम्मत्त ॥छ॥छ॥ आ इ । ११ ×तथा आ. ।

पश्चिमउगयपमेसा उत्कृष्यते आत्मा दपाध्मातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षो—मानः, तथाऽऽत्मानं चारित्रं वा ज्वलयति—दहतीति ज्वलनः क्रोध, तथा 'णूम' मिति गहन मायेत्यर्थः, तस्या अलक्ष्यमध्यत्वादेवमभिधीयते, तथा आसंसारमसुमतां मध्ये—अन्तर्भवतीति मध्यस्थो—लोभ, एतान् मभृषये, एतान् मानादींश्चतुरोऽपि कषायांस्तद्विपाकाभिज्ञो मुनिः सदा निगिंचए'त्ति विवेचयेत्—आत्मनः पृथक्कुर्यादित्यर्थः । ननु सूत्रक्रमे क्रोध आदावुपन्यस्यते, तथा क्षपकश्रेण्यामारूढो भगवान् क्रोधादीनेव सज्वलनान् क्षपयति, तत् किमर्थमागमक्रममिदं क्रममुल्लङ्घ्याऽऽदौ मानस्योपन्यास इति ?, अत्रोच्यते, माने सत्यवश्यंभावी क्रोध, क्रोधे तु मानः स्याद्वा न वेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायान्यथाक्रमप्रदर्शनमिति ॥१२॥ तदेवं मूलगुणानुत्तरगुणांश्चोपदर्श्याधुना सर्वोपसंहारार्थमाह—'समि उ सया' इत्यादि तुरवधारणे, समयि' मसिमितिमि' मसित एव साधु'; तथा प्राणातिपातादिपञ्चमहाव्रतोपेतत्वात्पञ्चप्रकारसंवरसंवृतः, तथा मनोवाक्कायगुप्तिगुप्तः, तथा गृहवास्मि गिता सदा' अरमेक्ता गृहस्थास्तेष्वमित'—अनवद्यदस्तेषु मूर्च्छामकुर्वाणः पद्माधारपङ्कजवत्कर्मणाऽलिप्यमानो भिक्षुः—मिक्षणशीलो मारविञ्ज' आमोयाए' अशेषकर्मापगमलक्षणमोक्षार्थं परि—समन्ताद् व्रजे'—संयमानुष्ठानरतो भवेस्त्वमिति विनेयस्योपदेश । इति अध्ययनसमाप्तौ, ब्रवीमीति गणधर एवमाह, यथा तीर्थकरोक्तं तथैवाहं ब्रवीमि, न स्वमनीषिकयेति । गतोऽनुगमः, साम्प्रतं नयास्तेषामयमुपसंहारः "सव्वेसिपि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामित्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥१॥" ॥१३॥
॥८८॥ इति सूत्रकृताङ्गे नवमाध्ययनं समाप्तम् ॥

१ गायत्रक । २ समन्त आ. । ३ परिसमन्ता आ. । आ. ४ सर्वेषामपि नयानां बहुविधवक्तव्यतां निशम्य । तत्सर्वनयविशुद्धं यच्चरणगुण (क्रियास्थित) स्थित[illegible] ५ [illegible] ६ [illegible] आ. ६ । ७ [illegible] । ८ परिसमा ।

॥ अथ द्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तं समयाख्यं प्रथममध्ययनं, साम्प्रतं वैतालीयाख्यं द्वितीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः–इहानन्तराध्ययने स्वसमयगुणाः परसमयदोषाश्च प्रतिपादिताः, तांश्च ज्ञात्वा यथा कर्म विदार्यते तथा बोधो विधेय इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भणनीयानि, तत्राप्युपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा–अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्रागेव निर्युक्तिकारेणाभाणि–'णाऊण बुज्झणा चेवे' त्यनेन गाथाद्वितीयपादेनेति, उद्देशार्थाधिकारं तु स्वत एव निर्युक्तिकार उत्तरत्र वक्ष्यति, नामनिष्पन्नं तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

वेयालियंमि वेयालगो[3] य वेयालणं वियालणियं । तिन्निवि चउक्कगाइं वियालओ[6] एत्थ पुण जीवो ॥३६॥

'वेयालिय'मित्यादि तत्र प्राकृतशैल्या वेयालियमिति 'दॄ विदारणे' इत्यस्य धातोर्विपूर्वस्य छान्दसत्वात् भावे ण्वुल्प्रत्ययान्तस्य विदारकमिति क्रियावाचकमिदमध्ययनाभिधानमिति, सर्वत्र च क्रियायामेतत्त्रयं सन्निहितं, तद्यथा–कर्ता करणं कर्म चेति, अतस्तद्दर्शयति–विदारको विदारणं विदारणीयं च, तेषां त्रयाणामपि नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्द्धा निक्षेपेण त्रीणि चतुष्ककानि द्रष्टव्यानि, अत्र च नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यविदारको यो हि द्रव्यं काष्ठादि विदारयति, भावविदारकस्तु कर्मणो विदार्यत्वात् नोआगमतो जीव-

१ °यनमिति आ इ । २ °यति अ. आ. । ३ °लिगो आ. । ४ °लण य आ. । ५ °कयाई अ. आ. । ६ °लउ अ. आ. ।

निवरा, गायुरिति ॥३६॥ स्थणमधिकृत्याऽऽह—

दव्वे य परसुमाई दंसणणाणतवसंजमा भावे। दव्वे य दारुगाई भावे कम्मं वियालणियं ॥३७॥

द्रव्ये च स्यादि नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यविदारणं परश्वादि, भावविदारणं तु दर्शनज्ञानतपःसंयमाः, तेषामेव कर्मविदारणे सामर्थ्यमित्युक्तं भवति, विदारणीयं तु नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यं दार्वादि, भावे पुनरष्टप्रकारं कर्मेति ॥३७॥ साम्प्रतं 'वेतालिय'मित्येतस्य निरुक्तं दर्शयितुमाह—

वेयालियं इह देसियंति वेयालियं ततो होइ। वेयालियं तहा वित्तमत्थि तेणेव य णिबद्धं ॥३८॥

'वेतालिय'मित्यादि। इहाध्ययनेऽनेकधा कर्मणां विदारणमभिहितमित्यतस्त्वेतदध्ययनं निरुक्तिवशाद्विदारकं ततो भवति, यदिवा—वैतालीयमित्यध्ययननाम, अत्रापि प्रश्नो निमित्त—वैतालीयं छन्दोविशेषरूपं वृत्तमस्ति, तेनैव च वृत्तेन निबद्धमित्यध्ययनमपि वैतालीयं, तस्य चेदं लक्षणम्—"वैतालीयं लगनघनाः षड्युक्पादेऽष्टौ समे च लः। न समोऽत्र परेण युज्यते नेतः षट् च निरन्तरा युजोः ॥१॥" ॥३८॥ साम्प्रतमध्ययनस्योपोद्घातं दर्शयितुमाह—

१ °ई च. ब. । २ °णे च. ब. । ३ °णं ब. । ४ °था ब. च. । ५ °ई च. ब. । ६ °ज च. ब. । ७ [illegible] च. । ८ [illegible] च. [illegible] ब. । ९ [illegible] ब. च. । १० [illegible] ब. । ११ [illegible] च. । १२ [illegible] (छन्दोऽनुशासने अ. २-५२) [illegible] । १३ [illegible] च. ।

कामं तु सासयमिणं कहियं अट्ठावयंमि उसभेणं । अट्ठाणउतिसुयाणं सोऊणं तेवि पव्वइया ॥३९॥

'काम' मित्यादि कामशब्दोऽयमभ्युपगमे, तत्र यद्यपि सर्वोऽप्यागमः शाश्वतः तदन्तर्गतमध्ययनमपि तथापि भगवताऽऽदितीर्थाधिपेनोत्पन्नदिव्यज्ञानेनाष्टापदोपरिव्यवस्थितेन भरताधिपभरतेन चक्रवर्त्तिनोपहृतै[3]रष्टनवतिभिः[4] पुत्रैः पृष्टेन यथा भरतोऽस्मानाज्ञां कारयत्यतः किमस्माभिर्विधेयमित्यतस्तेषामङ्गारदाहकदृष्टान्तं प्रदर्श्य न कथञ्चिज्जन्तोर्भोगेच्छा निवर्तत इत्यर्थगर्भमिदमध्ययनं 'कथितं' प्रतिपादितं, तेऽप्येतच्छ्रुत्वा संसारासारतामवगम्य विषयाणां च कटुविपाकतां निःसारतां च ज्ञात्वा मत्तकरिकर्णवच्चपलमायुर्गिरिनदीवेगसमं यौवनमित्यतो भगवदाज्ञैव श्रेयस्करीति तदन्तिके सर्वे प्रव्रज्यां गृहीतवन्त इति । अत्र 'उद्देसे निद्देसे य' इत्यादिः सर्वोऽप्युपोद्घातो भणनीयः ॥३९॥ साम्प्रतं उद्देशार्थाधिकारं प्रागुल्लिखितं दर्शयितुमाह—

पढमे संबोहो[6] अनिच्चया, य बीयंमि माणवज्जणया । अहिगारो पुण भणिओ तहा तहा बहुविहो तत्थ[7] ॥४०॥
उद्देसंमि य तइए अन्नाणचियस्स[9] अवचओ[10] भणिओ । वज्जेयव्वो य सया सुहप्पमाओ[11] जइजणेणं ॥४१॥[12]

तत्र प्रथमोद्देशके हिताहितप्राप्तिपरिहारलक्षणो बोधो विधेयोऽनित्यता चेत्ययमर्थाधिकारः, द्वितीयोद्देशके मानो वर्जनीय इत्ययमर्थाधिकारः, पुनश्च तथा तथाऽनेकप्रकारो बहुविधं[13] शब्दादावर्थेऽनित्यतादिप्रतिपादकोऽर्थाधिकारो भणित इति, तृतीयोद्देशके अज्ञानो-

१ °हेण अ. । २ °उइ° अ. आ. । ३ °द्रुतै° आ । सा ४ यद्यपि विंशत्याद्येति वचनात्स्यादत्र शीलमेकवचनान्वितं तथापि प्रतिपुत्र प्रश्नोत्तरपार्थक्यविवक्षयाऽत्र बहुत्वं । चैत्रमैत्राभ्यामेकविंशती दत्तमितिवत् । ५ °ल्लिगितं आ. इ । ६ सबोहि अणिच्चपायवीयमि, अ संपोहि अणिच्चयायपियमि आ. । ७ °णिउ व आ. । ८ ॥४२॥ अ. आ. । ९ अण्णाणचि अ. आ. । १० °वचउ भणिउ अ. आ. । ११ °प्पमाउ अ. आ. । १२ ॥४३॥ अ. आ. । १३ विधः ।

परिणाम एवंभूतोऽस्मयकरोऽप्यादिश्चरो भणित इति यशिसेनेन च सुखप्रमादो वर्जनीयः सदेति ॥४१॥ साम्प्रत प्रस्तानुगमे अस्खलिता दिगुणोपेत सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

सबुज्झह किं न बुज्झह ?, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा । णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

डहरा वुड्ढा य पासह गब्भत्था वि चयंति माणवा । सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयंमि तुट्टई ॥२॥

'संबुज्झह' इत्यादि, अत्र भगवानादितीर्थकृत् भरततिरस्कारागतसंवेगान् स्वपुत्रानुद्दिश्येदमाह, यदि वा—सुरासुरनरोरगतिरश्चः समुद्दिश्य भगवानाह यथा—'संबुज्झध्वं' यूयं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणे धर्मे बोधं कुरुत, यतः पुनरेवंभूतोऽवसरो दुरापः, तथाहि—मानुष्यं जन्म, कर्मभूमि, धुनापदेशः, कुलोत्पत्तिः, सर्वेन्द्रियपाटव, श्रवणश्रद्धादिमत्तां सत्यां स्वसंविद्स्यवष्टम्भेनाह—'किं न बुध्यध्व' मिति, अवरे सैनन्द्रमामिते, तस्य सत्तमपात् धर्मबुध्द्वो नो रोचितु युज्यते । वैडूर्यादिमरोपलोपलिप्पिते प्रोतोऽपि रत्नाकरे, इत्यादिसदृशं, किं सम्यक् मान्यतम् ? ॥१॥" अकृतधर्माचरणानां तु प्राणिनां 'संबोधि' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रावाप्तिलक्षणा 'प्रेत्य' जन्मान्तरे मनुष्यभवसारतपार्यन्तात् सुदुर्लभैव, तथाहि—विषयप्रमादरत्वात् सकृत् धर्माचरणात् अवश्यानन्तमपि काले पर्यानपमितिनिमिति । किंच—इन्द्रियरताय्ये, वैमानिकान्ता रात्रयः 'उपनेयन्ति' पुनर्दीयन्ते, न भविकान्तो यौवनादिककालः पुनरा

[illegible]

वर्त्तत इतिभावः, तथाहि—“भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे ?। न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥१॥” 'नो' नैव संसारे 'सुलभं' सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितं, यदिवा—जीवितम्—आयुस्त्रुटितं सत् तदेव संधातुं न शक्यत इति वृत्तार्थः। संबोधश्च प्रसुप्तस्य सतो भवति, स्वापश्च निद्रोदये, निद्रासंबोधयोश्च नामादिश्चतुर्द्धा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यभावनिक्षेपं प्रतिपादयितुं निर्युक्तिकृदाह—

दव्वं निद्दावेओ दंसणनाणतवसंजमा भावे। अहिगारो पुण भणिओ नाणे [4]तवदंसणचरित्ते ॥४२॥[5]

'दव्वं' इत्यादि इह च गाथायां द्रव्यनिद्राभावसंबोधश्च दर्शितः, तत्राद्यन्तग्रहणेन भावनिद्राद्रव्यबोधयोस्तदन्तर्वर्तिनोर्ग्रहणं द्रष्टव्यं, तत्र द्रव्यनिद्रा निद्रावेदो, वेदनमनुभवः दर्शनावरणीयविशेषोदय इतियावत्, भावनिद्रा तु ज्ञानदर्शनचारित्रशून्यता। तत्र द्रव्यबोधो द्रव्यनिद्रया सुप्तस्य बोधनं, भावे—भावविषये पुनर्बोधो दर्शनज्ञानचारित्रतपःसंयमा द्रष्टव्याः। इह च भावप्रबोधेनाधिकारः, स च गाथापश्चार्द्धेन सुगमेन प्रदर्शित इति। [6]अत्र च निद्राबोधयोर्द्रव्यभावभेदाच्चत्वारो भङ्गा योजनीया इति ॥४२॥१॥ भगवानेव सर्वसंसारिणां सोपक्रमत्वादनियतमायुरुपदर्शयन्नाह—'डहरावुड्ढाय' इत्यादि—'डहराः' बाला एव केचन जीवितं त्यजन्ति, तथा वृद्धाश्च गर्भस्था अपि, एतत्पश्यत यूयं, के ते ?—'मानवा' मनुष्याः, तेषामेवोपदेशदानार्हत्वात् मानवग्रहण, बह्वपायत्वादायुषः सर्वास्वप्यवस्थासु प्राणी प्राणांस्त्यजतीत्युक्तं भवति, तथाहि—त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि पर्याप्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्तेनैव कस्यचिन्मृत्युरुपतिष्ठतीति, अपि च—'गर्भस्थं

१ पुनरपि सुलभ आ °पि सुलभ इ। २ सम्बोधस्तु आ। ३ पुव्वभणिउ अ. पुण भणिय आ.। ४ तह अ. आ.। ५ ॥३९॥ अ आ.। ६ अत्र × आ.। ७ °रुपदर्श° आ. इ।

गमपानं मित्यादि। अत्र दृष्टान्तमाह—यथा 'श्येन' पक्षिविशेषो, 'वर्तकं' तित्तिरजातीयं, 'हरेत्' व्यापादयेत्, एवं प्राणिनः प्राणान् मोपक्रमम्, उपक्रमकारणमायुष्कमुपक्रमेन, तदभावे वा आयुष्यक्षये 'त्रुट्यति' व्यवच्छिद्यते जीवानां जीवितमिति शेषः ॥२॥ तथा—
मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ। एयाइं भयाइं पेहियाँ, आरम्भा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥
जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पति पाणिणो। सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ॥४॥
'माताहिं' इत्यादि मातापितृभ्यां मोहेन स्वजनस्नेहेन वै न धर्मे प्रत्युद्यम विषये स च तैरेव मातापित्रादिभिः 'लुप्यते' संसारे भ्राम्यते यथाऽऽहि—"पितृमातृस्वजने मत्स्याशापितृपुत्रदारेषु दुःसंगम्। मोहनयमसुमतामद् किं मन्थन मञ्जुल सलिलेन माञ्ज? ॥१॥" तस्य च मातापित्रादिमोहितस्य सदसद्विवेकविकलस्य स्वजनपोषणाय पापकर्मकारिण इहैव सद्भिर्निन्दितस्य सुगतिरपि 'प्रेत्य' जन्मान्तरे नो सुलभा, तरि तु मातापितृव्यामोहितमनसस्त्य क्लिश्यतो विषयसुखेप्सोश्च दुर्गतिरेव भवतीत्युक्तं भवति, तदेवमेतानि 'भयानि' भयस्थानानि दुर्गतिगमनादीनि "पेहिय" त्ति प्रेक्ष्य 'आरम्भात्' सावद्यानुष्ठानरूपाद्विरमेत् 'सुव्रतः' शोभनव्रतः सन्, सुस्थितो भवेति तात्पर्यम् ॥३॥ अनिवृत्तस्य दोषमाह—'जमिणं' इत्यादि 'यद्' यस्मादनिवृत्तानामिदं भवति, किं तत्?—'जगति' पृथिव्यां 'पुढो' त्ति

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible] ५ [illegible] ६ [illegible] ७ [illegible] ८ [illegible] ९ [illegible] १० [illegible] ११ [illegible]

पृथग्भूता–व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानोपचितैः 'कर्मभिः' 'विलुप्यन्ते' नरकादिषु–यातनास्थानेषु भ्राम्यन्ते, स्वयमेव च कृतैः कर्मभिः, न ईश्वराद्यापादितैः, गाहते नरकादिस्थानानि यानि तानि वा कर्माणि दुःखहेतूनि गाहते–उपचिनोति, अनेन च हेतुहेतुमद्भावः कर्मणामुपदर्शितो भवति, न च 'तस्य' अशुभाचरितस्य कर्मणो विपाकेन 'अस्पृष्टः' अच्छुप्तो 'मुच्यते' जन्तुः, कर्मणामुदयमननुभूय[1] तपोविशेषमन्तरेण दीक्षाप्रवेशादिना न तदपगमं विधत्त इति भावः ॥४॥ अधुना सर्वस्थानानित्यतां दर्शयितुमाह—

देवा गंधव्वरक्खसा, असुरा भूमिचरा सरिसिवा[2]। राया नरसेट्ठिमाहणा, ठाणा तेऽवि चयंति दुक्खिया[3] ॥५॥

कामेहि[4] ण संथवेहि गिद्धा[5], कम्मसहा कालेण जंतवो। ताले जह बंधणच्चुए[6], एवं आउखयंमि तुट्टती ॥६॥

'देवा' इत्यादि देवा–ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वराक्षसयोरुपलक्षणत्वादष्टप्रकारा व्यन्तरा गृह्यन्ते, तथा 'असुरा' दशप्रकारा भवनपतयः, ये चान्ये भूमिचराः सरीसृपाद्याः तिर्यञ्चः, तथा 'राजानः' चक्रवर्तिनो बलदेववासुदेवप्रभृतयः, तथा 'नराः' सामान्यमनुष्याः 'श्रेष्ठिनः' पुरमहत्तराः ब्राह्मणाश्चैते सर्वेऽपि स्वकीयानि स्थानानि दुःखिताः सन्तस्त्यजन्ति, यतः–सर्वेषामपि प्राणिनां प्राणपरित्यागे महद्दुःखं समुत्पद्यत इति ॥५॥ किञ्च–'कामेहिं' इत्यादि, 'कामैः' इच्छामदनरूपैस्तथा 'संस्तवैः' पूर्वापरभूतैः 'गृद्धा' अध्युपपन्नाः सन्तः 'कम्मसह'त्ति कर्मविपाकसहिष्णवः 'कालेन' कर्मविपाककालेन 'जन्तवः' प्राणिनो भवन्ति, इदमुक्तं भवति–भोगेप्सोर्विषयाऽऽसेवनेन

---

१ °मनुभूय आ.। २ सिरि° आ. इ। ३ °क्खिया आ.। ४ य सथवेहि य आ. इ.। सा ५ कामे हि य संथवे हि य इति पु०, छन्दोऽनुलोमता चात्र, नवरं टीयाकृद्भिः गृद्धा इत्येतद् व्याख्यातं, परं 'यान्ता औपच्छन्दसकम्' इति लक्षणं सगच्छते इति न क्षतिः, तस्यापि वैतालीयप्रकरणगतत्वाच प्राक्प्रतिज्ञाविरोध, एवमन्यत्रापि विकल्पसमाहते सर्वजातिपसाकर्याभ्युपगमे च नाद्यपादमात्रस्य तथात्वे क्षति। ६ °च्चुते आ. इ.। ७ °णार्थत्वा° आ. इ.।

गत्वसमपिन्यन्त रसमूय च क्षय एव केवल, न पुनरुपशमावाप्ति", तथाहि–"उपभोगोपायपरो वाञ्छति यः शमयितु विषयतृष्णाम्। धावत्याक्रमितुमसौ पुरोऽपराह्न निजच्छायाम् ॥१॥" न च तस्य मुमूर्षोः कामैः सत्त्वैव त्राणमस्तीति दर्शयति–यथा तालफलं 'व च नार्' पत्नात् च्युतम् अवश्यमवस्य पतति, एवमसावपि स्वायुषः क्षये 'तुट्यति' जीवितात् च्यवत इति ॥६॥ अपिच–

जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मिय माहणभिक्खुए सिया। अभिणूमकडेहिं मुच्छिए, तिव्व ते कम्मेहिं किच्चती॥

अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिन्ने इह भासई धुवं। णाहिसि आरं कओ परं, वेहासे कम्मेहिं किच्चती ॥८॥

'जे यावि' इत्यादि ये चापि 'बहुश्रुताः' शास्त्रार्थपारगाः तथा 'धार्मिकाः' धर्माचरणशीलाः, तथा ब्राह्मणाः तथा 'भिक्षुकाः' भिक्षाटन शीला 'स्युः' भवयुः, तेऽप्याभिमुख्येन 'णूमं'त्ति कर्म माया वा तत्कृतैः असदनुष्ठानैः 'मूर्च्छिताः' गृद्धाः 'तीव्रम्' अत्यर्थं, अत्र च मान्दग्याऽऽदूरपन उदम्प, 'ते' पवमृताः 'कर्मभिः' सद्वेद्यादिभिः 'कृत्यन्ते' छिद्यन्ते पीड्यन्त इतियावत् ॥७॥ साम्प्रत ज्ञानदर्शनचा-रित्रान्तरेण नारगे मोक्षमार्गोऽन्तीर्थिकमतविपत्वात् मतसाऽऽगामितीर्थिकधर्मप्रतिषेधार्थमाह–'अह'इत्यादि 'अथे'त्यधिकारान्तरे वहादेन व्यपदेश इति, 'अथ' स्तनन्तरं एतत् 'पश्य' कश्चित्तीर्थिको 'विवेकं' परित्याग परिग्रहस्य परिज्ञानं वा संसारस्याऽऽश्रित्य उत्थितः मम मोक्षायनन, स च सम्यग्दर्शनज्ञानाभावादवितीर्णः संसारसमुद्रं तितीर्षुः, केवलम् 'इह' संसारे प्रस्तावे वा प्राधान्यात् 'ध्रुवो' मो सम्यग् यद्वाप वा संयम भाषत एव न पुनर्विषये तत्परिज्ञानाभावादिति भावः, त्वन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथं ज्ञास्यसि 'आरम्' इहभवं

१ रो० आ० । २ यत्ते च० । ३ मै च० । ४ वरम आ० चिप्त्वा० । ५ हमी च० । ६ भाषती आ० । ७ ख्न्च च० । ८ मूम आ० । ९ [आ०] च० । १० मम्मे च० । ११ ×××केस्ते आ० । १२ तत्मार्गो ...

कुतो वा 'परं' परलोकं यदिवा—आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्रव्रज्यापर्यायं, अथवा—आरमिति संसारं परमिति मोक्षं, एवम्भूतश्चान्योऽप्युभयभ्रष्टः, 'वेहासि'त्ति अन्तराले उभयाभावतः स्वकृतैः कर्मभिः 'कृत्यते' पीड्यत इति ॥८॥ ननु च तीर्थिका अपिकेचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा निष्टप्तदेहाश्च, तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाशङ्क्याह—

जइ[2] वि य णिगणे किसे चरे, जइविय मुंजिय मासमंतसो[3]। जे इह मायाइ मिज्जइ[4], आगंता गब्भाय णंतसो॥९॥

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं। सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

'जइ विय' इत्यादि यद्यपि तीर्थिकः कश्चित्तापसादिस्त्यक्तबाह्यगृहवासादिपरिग्रहत्वात् निष्किञ्चनतया नग्नः त्वक्त्राणाभावाच्च कृशः 'चरेत्' स्वकीयप्रव्रज्यानुष्ठानं कुर्यात्, यद्यपि च षष्ठाष्टमदशमद्वादशादितपो विशेषं विधत्ते यावद् अन्तशो मासं स्थित्वा 'भुङ्क्ते' तथापि आन्तरकषायापरित्यागान्न मुच्यते इति दर्शयति—'यः' तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणार्थत्वात् कषायैर्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, असौ 'गर्भाय' गर्भार्थमा—समन्तात् 'गन्ता' यास्यति 'अनन्तशो' निरवधिकं कालमिति, एतदुक्तं भवति—अकिञ्चनोऽपि तपोनिष्टप्तदेहोऽपि कषायापरित्यागान्नरकादिस्थानात् तिर्यगादिस्थानं गर्भाद्गर्भमनन्तमपि कालमभिशर्मवत् संसारे पर्यटतीति ॥९॥ यतो मिथ्यादृष्ट्युपदिष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधो अतो मदुक्त एव मार्गे स्थेयमेतद्गर्भमुपदेशं दातुमाह—'पुरिसो' इत्यादि, हे पुरुष! येन 'पापेन कर्मणा' असदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षितस्तत्रासकृत् प्रवृत्तत्वात् तस्मात् 'उपरम' निवर्त्तस्व, यतः पुरुषाणां जीवितं सुबह्वपि त्रिपल्योपमान्तं संयमजीवितं वा पल्योपमस्यान्तः—मध्ये वर्त्तते तदप्यूनां पूर्वकोटिमितियावत्, अथवा परि—समन्तात् अन्तोऽस्येति पर्यन्तं—सान्तमि-

1 'गब्भयसो आ.। 2 जतिविय इ. जाइवि य आ.। 3 मेतसा आ.। 4 मिज्जती आ. निवृति इ.। 5 °यत्त आ। 6 च आ। 7 ऽस्यति आ।

म्पं, यथा तदनमेवागन्तव्यं, तदेव मनुष्याणां स्तोकं जीवितमवगम्य शावत्तम् पर्येति तावद्धर्मानुष्ठानेन सफलं कर्त्तव्यं, ये पुनर्मो-
...रमणा–मया 'इह' मनुष्यभवे संसारे वा कामेषु–इच्छामदनरूपेषु 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्नाः ते नरा मोहं यान्ति–हिताहि-
...मूढ्न्ति, मोहनीयं वा कर्म चिन्वन्तीति संभाव्यते, एतदर्शयतां–हिंसादिस्थानेभ्योऽनिवृत्तानामसंयतेन्द्रियाणां चेति
॥१०॥ ... परिहर्तुमाह—

जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा। अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेइयं ॥११॥

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहंकायरियाइपीसणा। पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१२॥

'जयय' इत्यादि, सर्वं जीवितमवगम्य विषयांश्च ... गृहपाशबन्धनं 'यतमानः' यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरो-
... 'योगवानि'ति संयमयोगवान् गुप्तिसमितिगुप्त इत्यर्थः, किमित्येव?, यतः 'अणवः'–
...सूक्ष्माः ... पन्थानोऽनुपयुक्तैर्जीवानुपमर्देन 'दुरुत्तरा' दुर्गमा इति, अनेन ईर्यासमितिरु-
... मनसि ... 'वीरैः' अर्हद्भिः सम्यक् 'प्रवेदितं' प्रकर्षेणाख्यातमिति ॥११॥ अथ क एते वीरा इत्याह–
'विरया' इत्यादि, हिंसादिपापेभ्यो ये विरताः, विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति वीराः, सम्यगारम्भपरित्यागेनोत्थिताः समुत्थिताः, ते
... 'कोहकायरियाइपीसणा' तत्र क्रोधग्रहणान्मानो गृहीतः, कातरिका–माया तद्ग्रहणाल्लोभो गृहीतः, आदिग्रहणात्

१ ... २ ... ३ ...

शेषमोहनीयपरिग्रहः, तत्पीषणाः-तदपनेतारः, तथा 'प्राणिनो' जीवान् सूक्ष्मेतरभेदभिन्नान् 'सर्वशो' मनोवाक्कायकर्मभिः 'न घ्नन्ति' न व्यापादयन्ति, 'पापाच्च' सर्वतः सावद्यानुष्ठानरूपाद्विरताः-निवृत्तास्ततश्च 'अभिनिर्वृत्ताः' क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूताः, यदिवाऽभिनिर्वृत्ता इव अभिनिर्वृत्ताः-मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥१२॥ पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोअंसि[1] पाणिणो। एवं सहिएहिं पासए[2], अणिहे से पुट्ठे[3] अहियासए ॥१३॥

धुणिया कुलियं व लेववं, किसए[4] देहमणासणा इह। अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

'णवि ता' इत्यादि परीषहोपसर्गा एतद्भावनापरेण सोढव्याः, नाहमेवैकस्तावदिह शीतोष्णादिदुःखविशेषैः 'लुप्ये' पीडये अपि त्वन्येऽपि 'प्राणिनः' तथाविधास्तिर्यङ्मनुष्याः अस्मिँल्लोके 'लुप्यन्ते' अतिदुःसहैर्दुःखैः परिताप्यन्ते, तेषां च सम्यग्विवेकाभावान्न निर्जराख्यफलमस्ति, यतः—"क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषतः, सोढा दुःसहतापशीतपवनक्लेशा न तप्तं तपः। ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमित द्वन्द्वैर्न तत्त्वं परं, तत्तत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः ॥१॥" तदेवं क्लेशादिसहनं सद्विवेकिनां संयमाभ्युपगमे सति गुणायैवेति, तथाहि—"कार्श्यं क्षुत्प्रभवं कदन्नमशनं शीतोष्णयोः पात्रता, पारुष्यं च शिरोरुहेषु शयनं मह्यास्तले केवले। एतान्येव गृहे वहन्त्यवनतिं तान्युन्नतिं संयमे, दोषाश्चापि गुणा भवन्ति हि नृणां योग्ये पदे योजिताः ॥१॥" एवं सहितो ज्ञानादिभिः स्वहितो वा आत्महितः सन् 'पश्येत्' कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेदनन्तरोदितं, तथा निहन्यत इति निहः न निहोऽनिहः-क्रोधादिभि-

१ सर्वे× आ । २ लोगंसि इ । ३ पासते आ. । ४ पुट्ठो आ. इ । ५ धिया° आ । ६ कसते आ. कसए इ । ७ दिहिं आ. इ. । ८ °न्न तन्निर्ज° । ९ गुणीभ° आ. । सा. १० अधिकं पृथग्जनान् पश्यतीति चू. ।

र्तीरिकः मन् म मरान्तर' पीनी स्पृष्टोऽपि सन् 'अधिसहेत' मनःपीडां न विदध्यादिति, यदिवा 'अनिह' इति तपःसंयमे परीषह गरन तन्निगूहितबलवीर्यः, न्नर प्रसक्तिति ॥१३॥ अपिच 'धुणिया' इत्यादि, 'धूत्वा' विधूय 'कुलिय' कटणकृत कुड्य 'लेपवत्' मलेन, यथापचयः—यथा द्रव्यं गोमयादिलेपेन मलेप उपक्रममान लेपापगमात् कृश भवति, एवम् अनशनादिभिर्देह 'कर्शयेत्' अप किन्नमरोचित तिरष्कार, मरणवशाप धर्मपोऽभ्यो भवतीति भावः, तथा विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा तामेव गरेन मतर अहिंसानवानो भवेदित्यथा, यदुगतो-मोथ प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसालक्षणः, परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो 'दनिना मरीचेन 'प्रवेदित' प्रथित इति ॥१४॥ किंच—

मउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं। एव दविओवहाणव, कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥१५॥
उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठिअं तवस्सिणं। डहरा वुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभेज्ज णो ॥१६॥

'सउणी' इत्यादि 'सउनिया' पक्षिणी यथा 'पांसुना' रजसा 'अवगुण्ठिता' खचिता सती अङ्ग 'विधूय' कम्पयित्वा तद्रजः 'सितम्' मरक मन् 'ध्वंसयति' अपनयति, एवं 'द्रव्यो' भव्यो मुक्तिगमनयोग्यो मोक्ष प्रत्युप-सामीप्येन दधातीति उपधानम्—अनशनादिकं तपः स्वार्थमुपवनरान्, स 'कम्म' 'कर्म' ज्ञानावरणादिकं 'क्षपयति' अपनयति, 'तपस्वी' साधु 'माहण'त्ति मा वधीरिति प्रवृत्तिर्यस्य स माहणेत्त्व मनगृष्य इति ॥१५॥ अनुकूलोपसर्गमाह—'उट्ठिय' इत्यादि, अगारं—गृहं तदस्य नास्तीत्यनगारः तमेवम्भूतं संयमो मनावस्थ्यं समुत्थितं नाम, भाव्यतीति पचनान्ते, तथा 'स्थानस्थितम्' उत्तरोत्तरविशिष्टसंयमस्थानाध्यासिनं 'तपस्विनं' विशिष्टतपो

१ मन स. । १ माल ... । १ पूर्ण ... । १ ... प्र आ. । ...

निष्टसदेहं तमेवम्भूतमपि कदाचित् 'डहरा' पुत्रनप्त्रादयः 'वृद्धाः' पितृमातुलादयः उन्निष्क्रामयितुं 'प्रार्थयेयुः' याचेरन् , त एवमूचुः– भवता वयं प्रतिपाल्या न त्वामन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति त्वं वाऽस्माकम् एक एव प्रतिपाल्यः, (इति) भणन्तस्ते जना अपि 'श्रुष्येयुः' श्रमं गच्छेयुः, न च तं साधुं विदितपरमार्थं 'लभेरन्' नैवाऽऽत्मसात्कुर्युः–नैवाऽऽत्मवशगं विदध्युरिति ॥१६॥ किञ्च—

जइ कालुणियाणि कासिया[2], जइ[3] रोयंति[4] य पुत्तकारणा। दवियं भिक्खू समुट्ठियं, णो लब्भंति, ण संठवित्तए[5] ॥
जइ[6]विय कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि[7] ण बंधिउं घरं। जइ[8] जीविय[9] नावकंखए, णो[10] लब्भंति[11] ण[12] संठवित्तए ॥१८

'जइ'इत्यादि यद्यपि ते मातापितृपुत्रकलत्रादयस्तदन्तिके समेत्य करुणाप्रधानानि–विलापप्रायाणि वचांस्यनुष्ठानानि वा कुर्युः, तथाहि–"[13]णाहपियकंतसामिय अइवल्लह दुलहोऽसि भुवणंमि। तुह विरहम्मि य निकिव! सुण्णं सव्वंपि पडिहाइ ॥१॥ सेणी गामो गोट्ठी गणो व तं जत्थ होसि [14]संणिहितो। दिप्पइ सिरिए सुपुरिस! किं पुण निययं घरद्दारं? ॥२॥" तथा यदि 'रोयंति य' त्ति रुदन्ति 'पुत्रकारणं' सुतनिमित्तं, कुलवर्धनमेकं सुतमुत्पाद्य पुनरेवं कर्तुमर्हसीति। एवं रुदन्तो यदि भणन्ति तं भिक्षुं रागद्वेषरहितत्वान्मुक्ति[15]योग्यत्वाद्वा द्रव्यभूतं सम्यक्संयमोत्थानेनोत्थितं तथाऽपि साधुं 'न लप्स्यन्ते' न शक्नुवन्ति प्रव्रज्यातो भ्रंशयितुं–[16]भावाच्च्यावयितुं नापि

१ °णिय आ । २ अकासिया आ । ३ जति आ । ४ रोयति ध. [illegible] इ । ५ संथ° आ. इ । ६ जइत्त आ. । ७ णिज्जाहि । ८ जति जीवित्त आ. । ९ °त्ती आ. । १० नो आ. इ. । ११ न आ इ । १२ संथ° आ. सन° इ । सा. १३ नाथ कान्त प्रिय स्वामिन् अतिवल्लभ दुर्लभोऽसि भवने । तव विरहे च निष्कृप !, शून्य सर्वमपि प्रतिभाति ॥१॥ श्रेणिर्ग्रामो गोष्ठी गणो वा त्वं यत्र भवसि सन्निहितः । दीप्यते श्रिया सुपुरुष ! किं पुनर्निज गृहद्वारम् ? ॥२॥ १४ सन्नि° १५ मुक्तिगमनयो° आ । १६ XXXXXनापि आ इ ।

मुम्पारपितुं-गृहस्थामावेन प्रव्रजितस्त्याजयितुमिति ॥१७॥ अपिच-'अहवि' इत्यादि, यद्यपि ते निजास्तं साधुं संयमोत्थानेनो-
त्थितं 'श्रम' इत्यामन्त्रणे 'लावयन्ति' उपनिमन्त्रयेयुरुपलोभयेयुरित्यर्थः, अनेनानुकूलोपसर्गग्रहणं, तथा यदि नयेयुर्बद्ध्वा गृहं,
पतितिं शास्त्रान्तरे। एवमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाभिद्रुतोऽपि साधुः-'यदि जीवितं नाभिकाङ्क्षेत्' यदि जीविताभिलाषी न भवेत् असं-
यमजीवितं वा नाभिनन्दत् ततः निजास्तं साधुं 'णो लब्भंति' त्ति न लभन्ते-न प्राप्नुवन्ति आत्मसात्कर्तुं 'णो संठवित्तए' त्ति नापि
गृहस्थभावेन संस्थापयितुमलमिति ॥१८॥ किञ्च—

सेहंति य णं ममाइणो, माय पिया य सुया य भारिया। पोसाहि ण पासओ तुमं, लोग परंपि जहासि पोसणो॥

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा। विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिया॥

'सेहंति य णं' इत्यादि, ते कदाचिन्मातापित्रादयस्तमभिनवप्रव्रजितं 'सेहंति' त्ति शिक्षयन्ति 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे-'ममाइणो' त्ति
मम-त्विदं ममत्ववन्तः, कथं शिक्षयन्तीत्यत आह-पश्य 'नः' अस्मानत्यन्तदुःस्थितांस्त्वदर्थे पोषकाभावात्, त्वं च यथावस्थितार्थ-
[illegible]-सूक्ष्मदर्शी, सम्यग्दृष्टिर्भव, यतः 'नः' अस्मान् 'पोषय' प्रतिजागरणं कुरु अन्यथा प्रव्रज्याऽभ्युपगमेनेहलोकस्त्यक्तो भवता
[illegible]-निजाननाथान् परित्यजन् परलोकमपि त्वं त्यजसि इति दुःस्थितनिजप्रतिपालनेन च पुण्यावाप्तिरेवेति, तथाहि-"या गतिः क्लेशदग्धानां,

[illegible] ॥ पु० ॥ ११ पु० आ० ॥ २ [illegible] प्रतिषु ॥ ३ मतेपुर्व पतितं पदं आ० ॥ [illegible] ॥ ५ पु० आ० ॥ [illegible] ॥ [illegible] आ० ॥ [illegible] ॥ ११ [illegible] ॥ १२ [illegible] आ० ॥ १३ [illegible]
[illegible] आ० ॥ [illegible] ॥

गृहेषु गृहमेधिनाम् । बिभ्रतां पुत्रदारांस्तु,तां गतिं व्रज पुत्रक ! ॥१॥" ॥१९॥ एवं तैरुपसर्गिताः केचन कातराः कदाचिदेतत्कुर्युरि-
त्याह–'अन्ने' इत्यादि, 'अन्ये' केचनाल्पसत्त्वाः 'अन्यैः' मात्रापित्रादिभिः 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्नाः सम्यग्दर्शनादिव्यतिरेकेण सकल-
मपि शरीरादिकमन्यदित्यन्यग्रहणं, ते एवम्भूताः असंवृता नराः 'मोहं यान्ति' सदनुष्ठाने मुह्यन्ति, तथा संसारगमनैकहेतुभूतत्वात् 'वि-
षमः' असंयमस्तं 'विषमैः' असंयतैरुन्मार्गप्रवृत्तत्वेनापायाभीरुभिः रागद्वेषैर्वा अनादिभवाभ्यस्ततया दुरुच्छेद्यत्वेन विषमैः ग्राहिता–असं-
यमं प्रतिवर्तिताः, ते चैवम्भूताः 'पापैः' कर्मभिः पुनरपि प्रवृत्ताः 'प्रगल्भिताः'-धृष्टतां गताः पापकं कर्म कुर्वन्तोऽपि न लज्जन्त इति
॥२०॥ यत एवं ततः किं कर्तव्यमित्याह—

तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिणिव्वुडे । पणए वीरं महाविहिं, सिद्धिपहं णेआउयं धुवं ॥२१॥
वेयालियमग्गमागओ, मणवयसाकायेण संवुडो । चिच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरे ॥२२॥

त्तिबेमि इति वैतालीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः (गाथाग्रम् १२०)

'तम्हा' इत्यादि, यतो मातापित्रादिमूर्च्छिताः पापेषु कर्मसु प्रगल्भा भवन्ति तस्माद् द्रव्यभूतो भव्यः–मुक्तिगमनयोग्यः रागद्वेषर-
हितो वा सन् 'ईक्षस्व' तद्विपाकं पर्यालोच्य 'पण्डितः' सद्विवेकयुक्तः 'पापात्' कर्मणोऽसदनुष्ठानरूपात् 'विरतः' निवृत्तः क्रोधादिपरि-
त्यागाच्छान्तीभूत इत्यर्थः तथा 'प्रणताः' प्रह्वीभूताः 'वीराः' कर्मविदारणसमर्थाः 'महावीथिं' महामार्गं, तमेव विशिनष्टि–'सिद्धिपथं'

१ पुनकेति आ. इ. । २ लक्ष्यन्त आ. । ३ धुव आ. । ४ °गउ आ । ५ चेच्चा. । ६ चरेज्जसि आ. चरेज्जासि इ. । ७ अभिनिर्वृतः आ. इ. । ८ °गात् शीती° आ.।

ज्ञानादिमोक्षमार्गं तथा मोक्षं प्रति 'नेतारं' प्रापकं 'ध्रुवम्' अव्यभिचारिणमित्येतदवगम्य स एव मार्गोऽनुष्ठेयः, नासदनुष्ठानप्रगल्भैर्भा-व्यमिति ॥२१॥ पुनरप्युपदेशदानपूर्वकमुपसंहरन्नाह–'वेयालियमग्ग' इत्यादि, कर्मणां विदारणमार्गमागतो भूत्वा तं तथाभूतं मनोवा-क्कायसंवृतः पुनः 'त्यक्त्वा' परित्यज्य 'वित्तं' द्रव्यं तथा 'ज्ञातीन्' स्वजनांश्च तथा सावद्यारम्भं च सुष्ठु संवृत इन्द्रियैः संयमानुष्ठानं च-रेदिति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति वैतालीयद्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥

■ ■ ■ ■ ■

अथ द्वितीयाध्ययने द्वितीय उद्देशकः प्रारभ्यते ॥

प्रथमानन्तरं द्वितीयः समारभ्यते–अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तरोद्देशके भगवता स्वपुत्राणां धर्मदेशनाऽभिहिता, तदिहापि सैवाध्ययनार्थाधिकारत्वाद् अभिधीयते, यद्वा–अस्य सूत्रेण सह संबन्धोऽयम्–अनन्तरोक्तसूत्रे बाह्यद्रव्यस्वजनारम्भपरित्यागोऽभिहितः, तदिह त्वान्तरमानपरित्याग उद्देशार्थाधिकाराभिहितोऽभिधीयते, तदनेन संबन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

तयसं व जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जई । गोयन्नतरेण माहणे, अहऽसेयकरी अन्नेसी इंखिणी ॥१॥

जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं । अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥२॥

'तयसं व'इत्यादि यथा उरगः स्वां त्वचं अवश्यं परित्यागार्हत्वात् 'जहाति' परित्यजति, एवमसावपि साधुः रज इव रजः–अष्टप्रकारं कर्म तदकषायित्वेन परित्यजतीति, एवं कषायाभावो हि कर्माभावस्य कारणमिति 'संख्याय' ज्ञात्वा 'मुनिः' कालत्रयवेदी 'न माद्यति' मदं न याति, मदकारणं दर्शयति–'गोत्रेण' काश्यपादिना, अन्यग्रहणात् शेषाणि मदस्थानानि गृह्यन्त इति, 'माहण'त्ति साधुः, पाठान्तरं वा 'जे विउ'त्ति यो विद्वान्–विवेकी स जातिकुललाभादिभिः न माद्यतीति, न केवलं स्वतो मदो न विधेयः, जुगुप्साऽप्यन्येषां न विधेयेति दर्शयति–'अथ' अनन्तरं असौ 'अश्रेयस्करी' पापकारिणी 'इंखिणि'त्ति निन्दा अन्येषामतो न कार्येति, मुणी न मज्जइ' इत्यादिकस्य सूत्रावयवस्य सूत्रस्पर्शं गाथाद्वयेन निर्युक्तिकृदाह—

तवसंजमणाणे सुवि जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं। अत्तसमुक्करिसत्थं किं पुण हीला उ अन्नेसिं? ॥४३॥
जइ ताव निज्जरमओ, पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं। अविसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥४४॥

वेयालियस्स णिज्जुत्ती सम्मत्ता ॥छ॥

'तव संजम' इत्यादि, तपःसंयमज्ञानेष्वपि आत्मसमुत्कर्षणार्थम्–उत्सेकार्थं यः प्रवृत्तो मानः यद्यसावपि तावद् 'वर्जितः' त्यक्तो 'महर्षिभिः' महामुनिभिः, किंपुनर्निन्दाऽन्येषां न त्याज्येति। यदि तावन्निर्जरामदोऽपि मोक्षैकगमनहेतुः प्रतिषिद्धः 'अष्टमानमथनैः' अर्हद्भिरवशेषाणि तु 'मदस्थानानि' जात्यादीनि 'प्रयत्नेन' सुतरां परिहर्त्तव्यानीति गाथाद्वयार्थः ॥४३–४४॥१॥ साम्प्रतं परनिन्दादोषमधिकृत्याह–'जो परिभवइ' इत्यादि, यः कश्चिदविवेकी 'परिभवति'अवज्ञयति, 'परं जनं' अन्यं लोकम् आत्मव्यतिरिक्तं स तत्कृतेन कर्मणा

१ यथाबुर° आ. इ। २ °न्तरXXअ°। ३ नाण अ आ। ४ वज्जिओ अ. आ.। ५ तत्थ° अ.। ६ अण्णेसि आ.। ७ ॥४०॥ अ. आ.। ८ जति अ. आ.। ९ मउ अ. आ.। १० अवसेस अ. आ.। ११ ॥४१॥ अ. आ.। १२ निर्जराविशेषणम्।

'संसारे' चतुर्गतिलक्षणे घटीयन्त्रन्यायेन 'परिवर्तते' भ्रमति 'महत्' अत्यर्थं महान्तं वा कालं, क्वचित् 'चिरम्' इति पाठः, 'अदु' इति अथशब्दो निपातः, निपातानामनेकार्थत्वात् अत इत्यस्यार्थे वर्तते, यतः परपरिभवादात्यन्तिकः संसारः अतः 'इंखिणिया' पर निन्दा तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् 'पापिका' दोषवत्येव, अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिका, तत्रेह जन्मनि सुघरो दृष्टान्तः, परलोकेऽपि परनिन्दा दोषवती ज्ञात्वा मुनिर्जात्यादिभिः यथाऽहं विशिष्टकुलोद्भवः श्रुतवान् तपस्वी भवांस्तु मत्तो हीन इति न माद्यति ॥२॥ मदाभावे च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

जे यावि अणायगे सिया, जेवि य पेसगपेसए सिया। जे मोणपयं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया यरे ॥३॥

सम अन्नयरम्मि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए। जे आवकहा समाहिए, दविए कालमकासि पंडिए ॥४॥

'जे यावि' इत्यादि, यश्चापि कश्चिदास्तां तावदन्यो न विद्यते नायकोऽस्येत्यनायकः—स्वयंप्रभुश्चक्रवर्त्यादिः 'स्यात्' भवेत्, यश्चापि प्रेष्यस्यापि प्रेष्य—तस्यैव राज्ञः कर्मकरस्यापि कर्मकरः, य एवम्भूतो मौनीन्द्रं पदं—गम्यते मोक्षो येन तत्पदं—संयमस्तम् उप—सामीप्येन स्थितः उपस्थितः—समाश्रितः सोऽप्यलज्जमान उत्कर्षमकुर्वन् वा सर्वाः क्रियाः—परस्परतो वन्दनप्रतिवन्दनादिका विधत्ते, इदमुक्तं भवति—चक्रवर्तिनाऽपि मौनीन्द्रपदमुपस्थितेन पूर्वमात्मप्रेष्यप्रेष्यमपि वन्दमानेन लज्जा न विधेया इतरेण चोत्कर्ष इत्येवं 'समतां' समभावं सदा भिक्षुश्चरेत्—संयमोद्युक्तो भवेदिति ॥३॥ स पुनर्व्यवस्थितेन लज्जामदौ न विधेयाविति दर्शयितुमाह—'सम' इत्यादि

१ [illegible] भ. १। २ 'जे य' भ. १। ३ एतदा [illegible] भ.। ४ पेसए भा. पेसगे' १। ५ चर्य भा. १। ६ [illegible] भ. [illegible] १। [illegible]
भ. ८ [illegible] १। ९ [illegible] भ. १। १० [illegible] भ. १।

'समे'त्ति समभावोपेतः सामायिकादौ संयमे संयमस्थाने वा षट्स्थानपतितत्वात् संयमस्थानानामन्यतरस्मिन् संयमस्थाने छेदोपस्थापनीयादौ वा, तदेव विशिनष्टि–सम्यक्शुद्धे सम्यक्शुद्धो वा 'श्रमणः' तपस्वी लज्जामदपरित्यागेन समानमना वा 'परिव्रजेत्' संयमोद्युक्तो भवेत्, स्यात्–कियन्तं कालम् ?, यावत् कथा–देवदत्तो यज्ञदत्त इति कथां यावत्, सम्यगाहित आत्मा ज्ञानादौ येन स समाहितः समाधिना वा–शोभनाध्यवसायेन युक्तः, द्रव्यभूतो–रागद्वेषादिरहितः मुक्तिगमनयोग्यतया वा भव्यः, स एवम्भूतः कालमकार्षीत् 'पण्डितः' सदसद्विवेककलितः, एतदुक्तं भवति–देवदत्त इति कथा मृतस्यापि भवति अतो यावन्मृत्युकालं तावल्लज्जामदपरित्यागोपेतेन संयमानुष्ठाने प्रवर्तितव्यमिति स्यात् ॥४॥ किमालम्ब्यैतद्विधेयमिति, उच्यते—

दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा। पुंट्ठे[6] परुसेहिँ[7] माहणे, अवि हण्णू समयंमि[8] रीयइ ॥५॥
पण्णसमत्ते[9] सया जए[10], समता[11]धम्ममुदाहरे[12] मुणी। सुहुमे उ सया अलूसए, णो[13] कुज्झे णो[14] माणि माहणे ॥६॥

'दूरं'इत्यादि दूरवर्तित्वात् दूरो–मोक्षस्तमनु–पश्चात् तं दृष्ट्वा यदिवा–दूरमिति–दीर्घकालम् 'अनुदृश्य' पर्यालोच्य 'मुनिः' कालत्रयवेत्ता दूरमेव दर्शयति–अतीतं 'धर्मं' स्वभावं–जीवानामुच्चावचस्थानगतिलक्षणं तथा अनागतं च धर्मं–स्वभावं पर्यालोच्य लज्जामदौ न विधेयौ, तथा 'स्पृष्टः' छुप्तः 'परुषैः'[15] दण्डकशादिभिर्वाग्भिर्वा 'माहणे'त्ति मुनिः 'अवि हण्णू'त्ति अपि मार्यमाणः स्कन्दकशिष्यगणवत् 'समये' संयमे 'रीयते' तदुक्तमार्गेण गच्छतीत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'समयाऽहियासए' त्ति समतया सहत इति ॥५॥ पुनरप्युपदेशान्तर-

१ समत्ति आ समेत्ति इ । २ इत्येव आ. इ । ३ द्वेषरहित आ. इ. । ४ तीय इ. । ५ पुट्ठो इ. । ६ फरु° आ. । मा ७ समयाहियासए पा. । ८ °यंसि आ. इ । सा ९ पण्हसमत्थे पा० । १० जते आ । ११ समिया आ. इ. । १२ °याहरे आ. । १३ नो आ. इ । १४ त्त × आ. इ । १५ पुरुपैः आ. इ. ।

मार-'पण्हसमत्थे' इत्यादि, प्रश्नायां समासः प्रश्नासमासः—पट्टप्रश्नः, पाठान्तरं वा 'पण्हसमत्थे' प्रश्नविषये प्रत्युत्तरदानसमर्थः 'सदा' सर्व कालं जयेत्, तयं कषायादिकमिति शेषः। तथा समया—समता तया धर्मम्—अहिंसादिलक्षणम् 'उदाहरेत्' कथयेत् 'मुनिः' यतिः सूक्ष्मे तु-संयमे यत्कर्तव्यं तस्य 'अखुपक्क' अविराधकः, तथा न हन्यमानो वा पूज्यमानो वा कुप्येन्नापि 'मानी' गर्वितः स्यात् 'माहणो' यतिरिति ॥६॥ अपिच—

बहुजणणमणंमि संवुडो, सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए। हरए व सया अणाविले, धम्मं पादुरकासि कासवं ॥७॥

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं समीहिया जो मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

'बहुजणण' इत्यादि, बहून् जनान् आत्मानं प्रति नामयति—प्रह्वीकरोति तैर्वा नम्यते—स्तूयते बहुजननमनो—धर्मः, स एव बहुभि र्जनैरात्मीयात्मीयाशयेन यथाऽभ्युपगमप्रशंसया स्तूयते—श्लाघ्यते, कथम्?, अत्र कथानकं राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः, कदाचि दसौ चतुर्विधबुद्ध्युपेतेन पुत्रेण अभयकुमारेण सार्धमास्थानस्थितस्ताभिस्ताभिः कथाभिरासाञ्चक्रे, तत्र कदाचिदेवम्भूता कथाऽभूत्, तद्यथा—इह लोके धार्मिकाः बहवः उताधार्मिका इति?, तत्र समस्तपर्षदाऽभिहितम्—यथाऽत्राधार्मिका बहवो लोका धर्मं तु कतिपयानामपि मध्ये कश्चिदेवैको विधत्ते, तदाकर्ण्याभयकुमारेणोक्तम्—यथा प्रायशो लोकाः सर्व एव धार्मिकाः, यदि न निश्चयो भवतां परीक्षा क्रियतां, पर्षदाऽप्यभिहितम्—एवमस्तु, ततोऽभयकुमारेण धवलेतरप्रासादद्वयं कारितं, घोषितं च डिण्डिमेन नगरे, यथा—यः कश्चिदिह धार्मिकः

१ पण्ह खा। २ प्रमाण क. ८। ३ मर्वासि क। ४ संवुडे ह। ५ ह्री। ६ पस। ७ कर्मेदिग ला. ह। ११ पर्व क.। १ विरती का. ह। ११ xxxx क। [illegible]

स सर्वोऽपि धवलप्रासादं गृहीतबलिः प्रविशतु, इतरस्त्वितरमिति, ततोऽसौ लोकः सर्वोऽपि धवलप्रासादमेव प्रविष्टो निर्गच्छंश्च कथं त्वं धार्मिकः ? इत्येवं पृष्टः कश्चिदाचष्टे—यथाऽहं कर्षकः अनेकशकुनिगणः मद्धान्यकणैरात्मानं प्रीणयति खलकसमागतधान्यकणभिक्षादानेन च मम धर्म इति, अपरस्त्वाह—यथाऽहं ब्राह्मणः षट्कर्माभिरतः तथा बहुशौचस्नानादिभिर्वेदविहितानुष्ठानेन पितृदेवांस्तर्पयामि, अन्यः कथयति—यथाऽहं वणिक्कुलोपजीवी भिक्षादानादिप्रवृत्तः, अपरस्त्विदमाह—यथाऽहं कुलपुत्रकः न्यायागतं निर्गतिकं कुटुम्बकं पालयाम्येव, तावत् श्वपाकोऽपीदमाह—यथाऽहं कुलक्रमागतं धर्ममनुपालयामीति मन्निश्रया च बहवः पिशितभुजः प्राणान् संधारयन्ति, इत्येवं सर्वोऽप्यात्मीयमात्मीयं व्यापारमुद्दिश्य धर्मे नियोजयति, तत्रापरमसितप्रासादं श्रावकद्वयं प्रविष्टं, तच्च किमधर्माचरणं भवद्भ्यामकारीत्येवं पृष्टं सत् सकृन्मद्यनिवृत्तिभङ्गव्यलीकमकथयत्, तथा साधव एवात्र परमार्थतो धार्मिका यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणसमर्थाः, अस्माभिस्तु—"अवाप्य मानुषं जन्म, लब्ध्वा जैनं च शासनम्। कृत्वा निवृत्तिं मद्यस्य, सम्यक् साऽपि न पालिता ॥१॥ अनेन व्रतभङ्गेन, मन्यमाना अधार्मिकम्। अधमाधममात्मानं, कृष्णप्रासादमाश्रिताः ॥२॥" तथाहि—"लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्यामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः। तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति, सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥३॥ वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं, नचापि भग्नं चिरसंचितव्रतम्। वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो, नचापि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥४॥" इति, तदेवं प्रायशः सर्वोऽप्यात्मानं धार्मिकं मन्यत इतिकृत्वा बहुजननमनो धर्म इति स्थितं, तस्मिंश्च 'संवृतः' समाहितः सन् 'नरः' पुमान् 'सर्वार्थैः' बाह्याभ्यन्तरै-

---

१ °शौचस्नानादिभि आ. °शौचनस्नादिभि इ. । २ तावत् यावत् आ. इ. । सा० ३ आधारस्यापि कर्मत्वविवक्षया, गत्यर्थत्वेन विश. कर्तरि क्त इति न प्रथमाशङ्का । ४ जातिपक्षीया मविपुलेयम् । ५ कर्मणो प्र० ।

धनधान्यकलत्रममत्वादिभिः 'अनिश्रिता' अप्रतिबद्धः सन् धर्म प्रकाशितवानित्युत्तरेण सह सम्बन्धः, निदर्शनमाह-इव द्वेव सच्छा ऽममा मृत मदा 'अनाविल' अनेकमत्स्यादिजलचरसंक्रमेणाप्यनाकुलोऽकलुषो वा क्षान्त्यादिलक्षण धर्मे 'प्रादुरकार्षीत्' प्रकटं कश्यान्, यदिवा एवंविशिष्ट एव काश्यप-तीर्थङ्करसंमन्धिनं धर्म प्रकाशयेत्, छान्दसत्वात् वर्तमाने भूतनिर्देश इति ॥७॥ स धर्म कथयति तद्दर्शयितुमाह-'बहवे' इत्यादि, यदिवोपदेशान्तरमेवाधिकृत्याह-'बहवे' इत्यादि, 'बहवः' अनन्ता 'प्राणा' दशविधप्राणमाश्रित्य तद्भेदोपचारात् प्राणिनः 'पृथग्' इति पृथिव्यादिभेदेन सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तनरकगत्यादिभेदेन वा संसारमाश्रिता तेषां च पृथगाश्रितानामपि प्रत्येक समतां-दुःखद्वेषित्व सुखप्रियत्वं च 'समीक्ष्य' दृष्ट्वा, यदिवा-'समतां' माध्यस्थ्यमुपेत्य(स्य) यो 'मौनीन्द्रपदमुपस्थित' संयममाश्रितः स साधुः 'तत्र' अनेकभेदभिन्नप्राणिगणे दुःखद्विषि सुखाभिलाषिणि मनि तदुपघाते कश्यपे विरतिम् अकार्षीत् कुर्यादिति, पापाडीन'-पापानुष्ठानात् दवीयान् पण्डित इति ॥८॥ अपिच—

धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए । सोयंति य णं ममाइणो, णो लब्भंति णियं परिग्गहं ॥९॥

इहलोगदुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं । विद्धंसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ? ॥१०॥

'धम्मस्स य'इत्यादि, धर्मस्य-श्रुतचारित्रभेदभिन्नस्य पारं गच्छतीति पारग'-सिद्धान्तपारगामी सम्यक्चारित्रानुष्ठायी वेति, चारित्रमधिकृत्याह-'आरम्भस्य' सावद्यानुष्ठानरूपस्य 'अन्ते' पर्यन्ते तदभावरूपे स्थितो मुनिर्भवति, ये पुनर्नैवं भवन्ति ते अकृतधर्माः मरणे

१ च। २ सार्धं ख. ३ ख। ३ अविप ख. ४। ४ सम्मती ख. । ५ विदत्ते ख. । ६ सा ख. । ७ निपतन्तमीहित ममत्वा- ... प्रत्यय भिन्नरोध .

दुःखे वा समुत्थिते आत्मानं शोचन्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे, यदिवेष्टमरणादौ अर्थनाशे वा 'ममाइणो'त्ति ममेदमहमस्य स्वामीत्येवमध्यवसायिनः शोचन्ति, शोचमाना अप्येते 'निजम्' आत्मीयं परि-समन्तात् गृह्यते-आत्मसात्क्रियत इति परिग्रहः-हिरण्यादिरिष्टस्वजनादिर्वा तं नष्टं मृतं वा 'न लभन्ते' न प्राप्नुवन्तीति, यदिवा धर्मस्य पारगं मुनिमारम्भस्थान्ते व्यवस्थितमेनमागत्य 'स्वजनाः' मातापित्रादयः शोचन्ति 'ममत्वयुक्ताः' स्नेहालवः, न च ते लभन्ते निजमप्यात्मीयपरिग्रहबुद्ध्या गृहीतमिति ॥९॥ अत्रान्तरे 'नागार्जुनीयास्तु' पठन्ति "सोऊणं तयं उवट्ठियं, केइ गिही विग्घेण उट्ठिया। धम्मंमि अणुत्तरे मुणी, तंपि जिणिज्ज इमेण पंडिए ॥१॥" एतदेवाह-'इह लोग' इत्यादि, 'इह' अस्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहति 'विउ'त्ति विद्याः-जानीहि, तथाहि-"अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे। आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम् ॥१॥" तथाहि-"रेवापयः किसलयानि च सल्लकीनां, विन्ध्योपकण्ठविपिनं स्वकुलं च हित्वा। किं ताम्यसि द्विप! गतोऽसि वशं करिण्याः, स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्परायाः ॥१॥" परलोके च हिरण्यस्वजनादिममत्वापादितकर्मजं दुःखं भवति, तदप्यपरं दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादानादिति भावः, तथैतदुपार्जितमपि 'विध्वंसनधर्मं' विशरारुस्वभावं, गत्वरमित्यर्थः, इत्येवं 'विद्वान्' जानन् कः सकर्णः 'अगारवासं' गृहवासमावसेत्?, गृहपाशं वाऽनुबध्नीयादिति, उक्तं च-"दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः। कोऽयं जनस्य मोहो? ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ॥१॥" ॥१०॥ पुनरप्युपदेशमधिकृत्याह—

---

१ यदा आ । सा. २ श्रुत्वा तमुपस्थितं केचिद्गृहिणो विघ्नायोत्तिष्ठेयुः । धर्मेऽनुत्तरे मुनिस्तानपि जयेदनेन पण्डित ।। ३ उवट्ठिया आ इ. । ४ लोके इ ।

महयं पलिगोव जाणिया, जावि य वंदणपूयणा इहं। सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विउमंता पयहिज्ज संथवं ॥११॥
एगे चरे(१) ठाणमासणे, सयणे एगे(ग) समाहिए सिया। भिक्खू उवहाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥१२॥

'महयं' इत्यादि, 'महान्' संसारिणां दुस्त्यजत्वान्महता वा संरम्भेण परिगोपणं परिगोपः द्रव्यतः पङ्कादिः, भावतोऽभिष्वङ्गः त[illegible] 'यावता महान्' महिलायत्नो वा परिज्ञिय याऽपि च प्रव्रजितस्य सतो राजादिभिः कायादिभिर्वन्दना वस्त्रपात्रादिभिश्च पूजना तां [illegible] मौनीन्द्र वा शासन व्यवस्थितेन कर्मोपशमज फलमित्येवं परिज्ञायोत्सेको न विधेयः, किमिति ?, यतो गर्वा[illegible] [illegible] 'दुरुद्धरं' दुःखेनोद्धर्तुं शक्यते, अतः 'विद्वान्' सदसद्विवेकज्ञस्तावत् 'संस्तवं' परिचयमभिष्वङ्ग[illegible] 'परित्यजेत्' परित्यजेदिति। नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"पलिमंथ महं वियाणिया, जाऽविय वंदणपूयणा इहं। सुहुमं सल्लं दुरुद्धरं, तपि [illegible] परिए ॥१॥" अस्य चायमर्थः—साधोः स्वाध्यायध्यानपरस्यैकान्तनिःस्पृहस्य योऽपि चायं परैः वन्दनापूजनादिकः स[illegible] महान् पलिमन्थो—विघ्नः, आस्तां तावच्छब्दादिष्वभिष्वङ्गः, तमित्येवं परिज्ञाय तथा सू[illegible] [illegible] दुरुद्धरं च मत्वा[illegible] 'उक्तम्' भगवन् पण्डितः 'एतेन' वक्ष्यमाणेनेति ॥११॥ 'एगे चरे' इत्यादि 'एकः' असहायो द्रव्यत ए[illegible]

[illegible]

कल्पविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत्, तथा 'स्थानं' कायोत्सर्गादिकम् एक एव कुर्यात्, तथा आसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत्, एवं शयनेऽप्येकाक्येव 'समाहितः' धर्मादिध्यानयुक्तः 'स्यात्' भवेत्, एतदुक्तं भवति—सर्वास्वप्यवस्थासु चरणस्थानासन शयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति, तथा भिक्षणशीलो भिक्षुः उपधानं—तपस्तत्र वीर्यं यस्य स उपधानवीर्यः—तपस्यनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थः, तथा 'वाग्गुप्तः' सुपर्यालोचिताभिधायी 'अध्यात्मं' मनः तेन संवृतो भिक्षुर्भवेदिति ॥१२॥ किञ्च—

णो[3] पीहे ण यावपंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजए। पुट्ठे ण उदाहरे वयं[4], ण समुच्छे णो[5] संथरे तणं ॥१३॥

जत्थऽत्थमिए अणाउले, समविसमाइं मुणीऽहियासए। चरगा अदुवावि भेरवा, अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥

'णो पीहे' इत्यादि, केनचिच्छयनादिनिमित्तेन शून्यगृहमाश्रितो भिक्षुः तस्य गृहस्य द्वारं कपाटादिना न स्थगयेन्नापि तच्चालयेत्, यावत् 'न यावपंगुणे' त्ति नोद्घाटयेत्, तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद्धर्मादिकं मार्गं वा पृष्टः सन् सावद्यां वाचं 'नोदाहरेत्' न ब्रूयात्, आभिग्रहिको जिनकल्पिकादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्, तथा 'न समुच्छिन्द्यात्' तृणानि कचवरं च प्रमार्जनेन नापनयेत, नापि शयनार्थी कश्चिदाभिग्राहिकः 'तृणादिकं संस्तरेत्' तृणैरपि संस्तारकं न कुर्यात्, किं पुनः कम्बलादिना ?, अन्यो वा शुषिरतृणं न संस्तरेदिति ॥१३॥ तथा 'जत्थत्थमिए' इत्यादि, भिक्षुर्यत्रैवास्तमुपैति सविता तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति यत्रास्तमितः, तथाऽनाकुलः समुद्र-

---

सा १ आसनोऽपि शयनादिसमुच्चयाय, अथ तूर्ध्वस्थानादिसमुच्चयाय। २ °तौ××आ। ३ णो पीहेणावत्र० आ. नो पीहे नावप० इ। ४ °ते आ। ५ वर्ति आ. वर्यि इ। ६ णो य सवरे° आ. नो सयरे° इ। ७ °इले आ इ। ८ °माणि आ. इ.। ९ °येत्××णात्तं° आ. नेयात्तत् नावप° इ.। १० °द्रिप-मार्गादिक आ इ.। ११ वा आ. इ। १२ °त्यादि° आ इ।

५+।।दिमैः पराग्दोपमगणयन्न् 'समविषमाणि' शयनासनादीन्यनुकूलप्रतिकूलानि 'मुनिः' यथावस्थितसंसारस्वभाववेत्ता सम्यग्-अ
ध्यासयेत्,अपि च शून्यगृहादौ व्यवस्थितस्य तस्य चरन्तीति चरका—दंशमशकादयः अथवापि 'भैरवा' भयानका—रक्षःशिवादय
अपरा अथ सरीसृपाः 'स्युः' भवेयुः, तत्कृतांश्च परीषहान् सम्यग् अधिसहेतेति ॥१४॥ साम्प्रतं त्रिविधोपसर्गाधिसहनमधिकृत्याह—

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया। लोमादीय ण हारिसे, सुन्नागारगओ महामुणी ॥१५॥
णो अभिकंखेज्ज जीविय, नोऽवि य पूयणपत्थए सिया। अब्भत्थमुविंति भेरवा, सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥

'तिरिया' इत्यादि, 'तैरश्चा' तिरश्चाघातादिकृताः तथा 'मानुषा' अनुकूलप्रतिकूलाः सत्कारपुरस्कारवन्दकदण्डताडनादिजनिताः,तथा
'दिव्या' इति व्यन्तरादिना हास्यप्रद्वेषादिजनिताः, एवं त्रिविधानप्युपसर्गान् 'अधिसहेत' नोपसर्गैर्विकारं गच्छेत्, तदेव दर्शयति—
'लोमादिकमपि न हर्षेत्' भयेन रोमोद्गममपि न कुर्यात्, यदि वा—एवमुपसर्गास्त्रिविधा अपि 'अहियासिय'त्ति अधिसोढा भवन्ति यदि
रोमोद्गमादिकमपि न कुर्यात्) आदिग्रहणात् दृष्टिमुखविकारादिपरिग्रहः, शून्यागारगतः, शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पि-
तृवनादिस्थितो वा 'महामुनिः' जिनकल्पिकादिरिति ॥१५॥ किञ्च—'णो अभिकंखेज्ज' इत्यादि,स तैर्भैरवैरुपसर्गैरुदीर्णैस्तोतुद्यमानोऽपि जी-
वितं न अभिकाङ्क्षेत्, जीवितनिरपेक्षेणोपसोढव्या, नोऽनन्य इति भावः, न चोपसर्गसहनद्वारेण 'पूजाप्रार्थकः' प्रकर्षाभिलाषी 'स्यात्' भवेत्,
एवं च जीवितपूजानिरपेक्षेणासकृत् सम्यग् सह्यमाना भैरवा—भयानकाः शिवापिशाचादयोऽभ्यस्तभावेनाभ्यासमतां उप—सामीप्येन यान्ति—

१ ... २ ... विधि ... [illegible]
... [illegible]

—गच्छन्ति, तत्सहनाच्च भिक्षोः शून्यागारगतस्य नीराजितवारणस्येव शीतोष्णादिजनिता उपसर्गाः सुसहा एव भवन्तीति भावः ॥१६॥

पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

उवणीयतरस्स ताइणो, भयमाणस्स विविक्कमासणं। सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण[3] भए ण दंसए ॥

उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो[7]। संसग्गि असाहु राइहिं, असमाही उ तहागयस्सवि ॥

'उवणीयें' इत्यादि, उप–सामीप्येन नीतः–प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा अतिशयेनोपनीत उपनीततरस्तस्य, तथा 'तायिनः' परात्मोपकारिणः त्रायिणो वा–सम्यक्पालकस्य, तथा 'भजमानस्य' सेवमानस्य 'विविक्तं' स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितम् आस्यते–स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं–वसत्यादि, तस्यैवम्भूतस्य मुनेः 'सामायिकं' समभावरूपं सामायिकादिचारित्रमाहुः सर्वज्ञाः, 'यत्' यस्मात् ततश्चारित्रिणा प्राग्व्यवस्थितस्वभावेन भाव्यं, यश्चात्मानं 'भये' परिषहोपसर्गजनिते 'न दर्शयेत्' तद्भीरुर्न भवेत् तस्य सामायिकमाहुरिति सम्बन्धनीयं ॥१७॥ किञ्च–'उसिणोदग' इत्यादि, मुनेः 'उष्णोदकतप्तभोजिनः' त्रिदण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिनः, यदि वा–उष्णं सन्न शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणं, तथा श्रुतचारित्राख्ये धर्मे स्थितस्य 'हीमतो' त्ति ह्रीः–असंयमं प्रति लज्जा तद्वतोऽसंयमजुगुप्सावत इत्यर्थः, तस्यैवम्भूतस्य मुने राजादिभिः सार्द्धं यः 'संसर्गः' सम्बन्धोऽसावसाधुः अनर्थोदयहेतुत्वात् 'तथागतस्यापि' यथोक्तानुष्ठायिनोऽपि राजादिसंसर्गवशाद् 'असमाधिरेव' अपध्यानमेव स्यात्, न कदाचित् स्वाध्यायादिकं भवेदिति ॥१८॥ परिहार्यदोषप्रदर्शनेन अधुनोपदेशाभिधित्सयाऽऽह—

१ विवित्तमा° आ। २ यप्पाण आ अप्पाण इ। ३ °ओ आ.। ४ °णीए आ इ। ५ प्राग्व्यात्तर्भित° आ. इ.। ६ °यगे इ। ७ हीमउसिही आ. ××××ह्री°. इ.। ८ °ध्यानादिकं आ।

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं। अट्ठे परिहायती बहू, अहिगरणं न करेज्ज पण्डिए॥

सीओदगपडिदुगुंछिणो, अपडिण्णस्स लवावसक्किणो। सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती॥

'अहिगरण' इत्यादि, अधिकरणं—कलहस्तत्करोति तच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः तस्यैवम्भूतस्य भिक्षोः तथाऽधिकरणकरीं दारुणां वा भाषां 'प्रसभं' प्रकटमेव वाचं ब्रुवतः सतः 'अर्थो' मोक्षः तत्कारणभूतो वा संयमः स बहु 'परिहीयते' ध्वंसमुपयाति, इदमुक्तं भवति बहुना क्लेशेन यदर्जितं विप्रकृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कलहं कुर्वतः परोपघातिनीं च वाचं ब्रुवतः तत्क्षणमेव ध्वंसमुपयाति, तथाहि—"जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवनियमबंभमइएहिं। मा हु तयं कलहंता छड्डेयह सागपत्तेहिं॥१॥" इत्येवं मत्वा मनागप्यधिकरणं न कुर्यात् 'पण्डितः' सदसद्विवेकीति ॥१९॥ तथा 'सीओदग' इत्यादि, शीतोदकम्—अप्रासुकोदकं तस्मात् जुगुप्सकस्याप्रासुकोदकपरिहारिणः साधोः न विद्यते प्रतिज्ञा—निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञोऽनिदान इत्यर्थः, लव—कर्म तस्मात् अवसर्पिणोऽपि—अवसर्पिणः यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानभूतं तत्परिहारिण इत्यर्थः, तस्यैवम्भूतस्य साधोर्यस्मात् यत् 'सामायिकं' समभावलक्षणमाहुः सर्वज्ञाः, यश्च साधुः 'गृहमात्रे' गृहस्थभाजने भोजनपानादौ न भुङ्क्ते तस्य च सामायिकमाहुरिति संबन्धनीयमिति ॥२०॥ किञ्च—

---

१ [illegible] ॥ ३ सीओदगपडि° [illegible] ४ [illegible] (शमीखल्लैः) तपोनियमब्रह्ममयैः [illegible] ॥१॥ [illegible]

ण य संखयमाहु जीवियं, तहविय बालजणो पगब्भइ। बाले पापेहिं मिज्जती, इति संखायँ मुणी ण मज्जती॥
छंदेण पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा। वियडेण पलिंति माहणे, सीउण्हं वयसाऽहियासएँ ॥२२॥

'णय संखय'इत्यादि, 'न च' नैव 'जीवितम्' आयुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः 'संखय'मिति संस्कर्तुं-तन्तुवत्संधातुं शक्यते इत्येवमाहुस्तद्विदः, तथाऽपि एवमपि व्यवस्थिते 'बालः' अज्ञो जनः 'प्रगल्भते' पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति, स चैवम्भूतो बालस्तैरसदनुष्ठानापादितैः 'पापैः' कर्मभिः 'मीयते' तद्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, ध्रियते वा मेयेन धान्यादिना प्रस्थकवदिति, एवं 'संख्याय' ज्ञात्वा 'मुनिः' यथावस्थितपदार्थानां वेत्ता 'न माद्यतीति' तेष्वसदनुष्ठानेष्वहं शोभनः कर्त्तेत्येवं प्रगल्भमानो मदं न करोति ॥२१॥ उपदेशान्तरमाह-'छंदेण' इत्यादि, 'छन्दः'-अभिप्रायस्तेन तेन स्वकीयाभिप्रायेण कुगतिगमनैकहेतुना 'इमाः प्रजाः' अयं लोकस्तासु गतिषु प्रलीयते, तथाहि-छागादिवधमपि स्वाभिप्रायग्रहग्रस्ता धर्मसाधनमित्येवं प्रगल्भमाना विदधति, अन्ये तु संघादिकमुद्दिश्य दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहं कुर्वन्ति, तथाऽन्ये मायाप्रधानैः कुक्कुटैरसकृदुत्प्रोक्षणश्रोत्रस्पर्शनादिभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति, तथाहि-"कुक्कुटसाध्यो लोको नाकुक्कुटतः प्रवर्तते किञ्चित्। तस्माल्लोकस्यार्थे पितरमपि सकुक्कुटं कुर्यात् ॥१॥" तथेयं प्रजा 'बहुमाया' कपटप्रधाना, किमिति ?-यतो मोहः-अज्ञानं तेन 'प्रावृता' आच्छादिता सदसद्विवेकविकलेत्यर्थः, तदेतदव-

१ °जणे आ। २ °ब्भत आ ब्भती इ। ३ पावेहिं आ इ.। ४ °त आ। ५ पलेति मायया आ प्पलेति मायया इ.। ६ पलेति आ. इ.। ७ °सते आ.। ८ न आ इ। ९ जंड आ। १० करोतीति आ. इ। ११ °स्तासु तासु आ। १२ ×लीयते आ। सा. १३ वस्तादीति प्र° वस्तादि° आ इ.। सा. १४ कुक्कुटै इति प्र°। कुक्कुटै° आ. इ। १५ प्रावृताच्छा आ. इ.।

गम्य 'मादमें'त्ति माधुः 'विकटेन' प्रकटेनामायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण लीयते-प्रलीयते, शोभनभावयुक्तो भवतीति भावः, तथा शीत च उष्ण च शीतोष्णं शीतोष्णा वा अनुकूलप्रतिकूलपरीषहास्तान् वाचा कायेन मनसा च करणत्रयेणापि सम्यगधिसहेत इति ॥२२॥ अपिच—

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं। कडमेव गहाय णो कलिं, नो तीयं नो चेव दावरं ॥२३॥

एव लोगंसि ताइणा, बुइए जे धम्मे अणुत्तरे। तं गिण्ह हियंति उत्तमं, कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥२४॥

'कुजए' इत्यादि, कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयो-द्यूतकारः, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति, तथा जितनदि-अपराजितो दीव्यन् कुशलत्वादन्येन न जीयते अक्षैः वा-पाशकैः दीव्यन्-क्रीडन्स्तत्पातकः कुशलो-निपुणः, यथा असौ द्यूतकारोऽक्षैः-पाशकैः कपर्दकैर्वा रममाणः 'कडमेव'त्ति चतुष्कमेव गृहीत्वा तद्धि जयत्वात् तेनैव दीव्यति, ततोऽसौ सर्वस्व-... 'कलिं' एककं नापि 'त्रेतं' त्रिकं च नापि 'द्वापरं' द्विकं गृह्णातीति ॥२३॥ दार्ष्टान्तिकमाह-'एवं'इत्यादि, यथा द्यूतकारः ... मनोज्ञं दीव्यञ्चतुष्कमेव गृह्णाति एवमस्मिन् 'लोके' मनुष्यलोके तायिना त्रायिणा वा-सर्वज्ञेनोक्तो योऽयं 'धर्मः' क्षा-न्त्यादिलक्षणः श्रुतचारित्राख्यो वा नास्योत्तरः अधिकोऽस्तीत्यनुत्तरः तमेकान्तहितमितिकृत्वा सर्वोत्तमं च 'गृहाण' विस्रोतसिकारहितः

1 [illegible] । 2 [illegible] । 3 [illegible] । 4 [illegible] । 5 [illegible] । 6 [illegible] । 7 [illegible] । 8 [illegible] । 9 [illegible] । 10 [illegible] । 11 [illegible] । 12 [illegible]

स्वीकुरु, पुनरपि निगमनार्थं तमेव दृष्टान्तं दर्शयति—यथा कश्चित् द्यूतकारः 'कृतं' कृतयुगं चतुष्कमित्यर्थः, 'शेषम्' एकादि 'अपहाय' त्यक्त्वा दीव्यन् गृह्णाति, एवं पण्डितोऽपि—साधुरपि शेषं—गृहस्थकुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभावमपहाय सम्पूर्णं महान्तं सर्वोत्तमं धर्मं गृह्णीयादिति भावः ॥२४॥ पुनरप्युपदेशान्तरमाह—

उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा(म्म)इइ मे अणुस्सुयं।
जंसी विरता समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२५॥

जे एय चरंति आहियं, नायएणं महया महेसिणा। ते उट्ठिय ते समुट्ठिया, अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥२६॥

'उत्तर' इत्यादि, उत्तराः—प्रधानाः दुर्जयत्वात्, केषाम्?—उपदेशार्हत्वान्मनुष्याणाम् अन्यथा सर्वेषामेवेति, के ते?—'ग्रामधर्माः' शब्दादिविषया मैथुनरूपा वेति, एवं ग्रामधर्मा उत्तरत्वेन सर्वज्ञैराख्याताः, मयैतदनु—पश्चाच्छ्रुतं, एतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं यच्च वक्ष्यमाणं तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्रानुद्दिश्याभिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्ति अतो मयैतदनुश्रुतमित्यनवद्यं, यस्मिन्निति—कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी सप्तमी वेति यान् ग्रामधर्मानाश्रित्य ये विरताः, पंचम्यर्थे वा सप्तमी, येभ्यो वा विरताः सम्यक्संयमरूपेणोत्थिताः समुत्थितास्ते 'काश्यपस्य' ऋषभस्वामिनो वर्धमानस्वामिनो वा सम्बन्धी यो धर्मस्तदनुचारिणः, तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥२५॥ किञ्च—'जे एय' इत्यादि, ये मनुष्या 'एनं' प्रागुक्तं धर्मं—ग्रामधर्मविरतिलक्षणं 'चरन्ति' कु-

१ धूतकर आ.। २ इति आ ति इ.। ३ °ट्ठिता आ.। ४ न.तेण आ नायएण इ.। ५ वा इत्येव आ. इ। ६ त्थिताःxxxxते आ। ७ जे वे आ.।

रान्त ज्ञानत 'ज्ञानं' ज्ञानपूर्वेण 'महय'न्ति महाविषयस्य ज्ञानस्यानन्यभूतत्वात् महान् तेन, यथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वात् 'नारैना' ...नभमानस्वामिना आख्यात धर्म ये चरन्ति ते एव संयमोत्थानेन–कुतीर्थिकपरिहारेणोत्थिताः तथा निह्नवादिपरिहारेण ... एव ... –...नापदेशनासंल्लापन उत्थिता' समुत्थिता इति, नान्ये कुश्रावधनिका जमालिप्रभृतयश्चेति भावः, त एव च यथोक्त ...नादिन' 'अन्योऽन्य' परस्परं 'धर्मतो' धर्ममाश्रित्य धर्मतो वा भ्रश्यन्त 'सारयन्ति' चोदयन्ति–पुनरपि सद्धर्मे प्रवर्तयन्तीति ...दिप–

...ह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धुणित्तए। जे दूमण तेहिं णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं ॥२७॥

णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए। नच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए णयावि मामए ॥२८॥

'मा स' ..., दुर्गतिं संसारं वा प्रणामयन्ति–प्रापयन्ति प्राणिनां प्रणामकाः –शब्दादयो विषयास्तान् 'पुरा' पूर्वं भुक्तान् 'मा ...णए' मा ..., तथं ...न्यारि ...नागतांश्च नोद्दिशेत–नाऽऽकाङ्क्षेदिति, तथा 'अभिकाङ्क्षेत्' अभिलषेद् अनारतं ...न इयात्, ...मित्रामिति ...पति–उपधीयते–ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनासावुपधि'–माया अष्टप्रकारं वा कर्म ...मार्गनियमदिनि ...प", 'दूमणं' प्रत्युपनतो' कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः, यदिवा–'दूमण'त्ति दुष्टमन'कारिण ...शब्दादयो विषयास्तु ये महासत्त्वाः 'न नता' न प्रह्वीभूताः तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति 'ते' सन्मार्गानुष्ठायिनो

प ... १ ... २ ... ३ ... ४ ... ५ ... ६ ...

'जानन्ति' विदन्ति 'समाधिं' रागद्वेषपरित्यागरूपं धर्मध्यानं च 'आहितम्' आत्मनि व्यवस्थितम्, आ–समन्ताद्धितं वा त एव जानन्ति नान्य इति भावः ॥२७॥ तथा 'णो काहिए' इत्यादि, 'संयतः' प्रव्रजितः कथया चरति काथिकः गोचरादौ न भवेत्, यदिवा–विरुद्धां पैशून्यापादनीं स्त्र्यादिकथां वा न कुर्यात्, तथा 'प्रश्नेन' राजादिकिंवृत्तरूपेण दर्पणादिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निको न भवेत्, नापिच 'संप्रसारकः' देववृष्ट्यर्थकाण्डादिसूचककथाविस्तारको भवेदिति, किं कृत्वेति दर्शयति–'ज्ञात्वा' अवबुध्य नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरस्तं श्रुतचारित्राख्यं धर्मं सम्यग् अवगम्य, तस्य हि धर्मस्यैतदेव फलं यदुत–विकथानिमित्तपरिहारेण सम्यक्क्रियावान् स्यादिति, तद्दर्शयति–कृता–स्वभ्यस्ता क्रिया–संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियस्तथाभूतश्च नचापि 'मामको' ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाग्रही भवेदिति ॥२८॥ किञ्च—

छन्नं च पसंस णो करे, न य उक्कोस पगास माहणे। तेसिं सुविवेगमाहिए, पणया जेहिं सुजोसिअं धुयं ॥२९॥

अणिहे साहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए। विहरेज्ज समाहिइंदिए, अत्तहिअं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

'छन्नं' इत्यादि, 'छन्नं'ति माया तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् तां न कुर्यात्, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, तथा प्रशस्यते–सर्वैरप्यविगानेनाद्रियत इति प्रशस्यो–लोभस्तं च न कुर्यात्, तथा–जात्यादिभिर्मदस्थानैर्लघुप्रकृतिं पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको–मानस्तमपि न कुर्यादिति सम्बन्धः, तथाऽन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभ्रूभङ्गविकारैः प्रकाशीभवतीति प्रकाशः–क्रोधस्तं च 'माहणे'त्ति

१ °विकथा। २ °ऽर्घकाण्डादि खा °ऽर्थ्यकाण्डादि इ। ३ सम्यगवगतस्य आ.। ४ नो इ.। ५ °हिते इ। ६ °ज्झोसिय आ. °ज्झोसित इ.। ७ °हिति-दिए इ.। ८ आयहिय आ. इ। ९ छण्ण०।

साधुर्न कुर्यात्, 'तेषां' कषायाणां यैर्महात्मभिः 'विवेकः' परित्यागः 'आहितो' ज स्त एव धर्म प्रति प्रणता इति, यदिवा—तेषामेव स त्पुरुषाणां सुष्ठु विवेकः परिज्ञानरूप आहितः—प्रथितः प्रसिद्धिं गतः त एव च धर्म प्रति प्रणता 'यैः' महासत्त्वैः सुष्ठु 'ख्यातं' सेवितं धू यतेऽष्टप्रकारं कर्म तद्धूतं—संयमानुष्ठानं, यदिवा—यैः सदनुष्ठायिभिः 'सुजोसिअं'ति सुष्ठु सेवितं धूननार्हत्वात् 'धूत' कर्मेति ॥२९॥ अपि च—'अणिहे' इत्यादि, स्निह्यत इति स्निहः न स्निहः अस्निहः—सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः, यदिवा—परीषहोपसर्गैर्निहन्यते इति निहः न निहोऽनिहः—उपसर्गैरपराजित इत्यर्थः, पाठान्तरं वा 'अणहे'त्ति नास्याघमस्तीत्यनघो, निरवद्यानुष्ठायीत्यर्थः, सह हितेन वर्तत इति सहितः सहितो—युक्तो वा ज्ञानादिभिः, स्वहितः—आत्महितो वा सदनुष्ठानप्रवृत्तेः, तामेव दर्शयति—सुष्ठु 'संवृतः' इन्द्रियनोइन्द्रियैर्विस्रोतसिका-रहित इत्यर्थः, तथा धर्मः—श्रुतचारित्राख्यः तेनार्थो—प्रयोजनं स एव वाऽर्थः तस्यैव सद्भिरर्थ्यमानत्वात् धर्मार्थः स यस्यास्तीति स धर्मार्थी तथा उपधानं—तपस्तत्र वीर्यवान् स एवम्भूतो 'विहरेत्' संयमानुष्ठानं कुर्यात् 'समाहितेन्द्रियः' संयतेन्द्रियः, कुत एवं ?—यत आत्महितं दुःखेनासुमता संसारे पर्यटता सकलधर्मानुष्ठानेन 'लभ्यते' अवाप्यत इति, तथाहि "न पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योततडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥१॥" तथाहि—युगसमिलादिदृष्टान्तनीत्या मनुष्यभव एव तावद् दुर्लभः, तत्राप्यार्यक्षेत्रादिकं दुरापमिति, अत आत्महितं दुःखेनावाप्यत इति मन्तव्यम्, अपिच—"भूतेषु जङ्गमत्वं तस्मिन् पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम् । तस्मादपि मानुष्यं मानुष्येऽप्यार्यदेशश्च ॥१॥ देशे कुलं प्रधानं कुले प्रधाने च जातिरुत्कृष्टा । जातौ रूपसमृद्धी रूपे च बलं विशिष्टतमम् ॥२॥ भवति बले चायुष्कं प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् । विज्ञाने सम्यक्त्वं सम्यक्त्वे शीलसम्प्राप्तिः ॥३॥ एतत्पूर्वश्चायं समासतो मोक्षसाधनोपायः ।

१ चरित्र प्रा. त्रिपि १ । २ भौत' प्रा. १ । या ३ स तदर्थो प्र । ४ यत्र प्रा. १ । ५ तथा प्रा. । ६ भाव प्रा १ । ७ 'प्रासिरिति प्रा. १ ।

तत्र च बहु सम्प्राप्तं भवद्भिरल्पं च संप्राप्यम् ॥४॥ तत्कुरुतोद्यममधुना मदुक्तमार्गे समाधिमाधाय । त्यक्त्वा सङ्गमनार्यं कार्यं सद्भिः सदा श्रेयः ॥५॥" इति ॥३०॥ एतच्च प्राणिभिर्न कदाचिदवाप्तपूर्वमित्येतद्दर्शयितुमाह—

णे[1] हि णूण पुरा अणुस्सुतं, अदुवा[3] तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइआहितं[4], णाएणं[5] जगसव्वदंसिणा ॥३१॥

एवं मत्ता महंतरं, धम्ममिणं सहिया बहू जणा[6] ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा[7], विरया तिन्न[8] महोघमाहितं ॥३२॥ तिबेमि ॥[9] (गाथाग्रम् १५२)

'णं[10] हि णूण' इत्यादि, यदेतत् 'मुनिना' जगतः सर्वभावदर्शिना ज्ञातपुत्रीयेण[11] सामायिकादि 'आहितम्' आख्यातं, तत् 'नूनं' 'निश्चितं 'न हि' नैव 'पुरा' पूर्वं जन्तुभिः 'अनुश्रुतं' श्रवणपथमायातं अथवा श्रुतमपि तत्सामायिकादि यथा अवस्थितं तथा नानुष्ठितं, पाठान्तरं वा 'अवितह'न्ति[12] अवितथं यथावन्नानुष्ठितमतः कारणादसुमतामात्महितं सुदुर्लभमिति ॥३१॥ पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह—'एवं[13] मत्ता' इत्यादि, 'एवम्' उक्तरीत्याऽऽत्महितं[14] सुदुर्लभं 'मत्वा' ज्ञात्वा धर्माणां च महदन्तरं धर्मविशेषं कर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा, यदिवा 'महं-

१ अत्र आ । २ न हि णूण आ न हि नूण इ । सा ३ पा° अदुवाऽवितह णो अणुट्ठिअं । ४ समयादि याहियं आ सामाइताहिय इ. । ५ णायएण आ नायएण इ । ६ जणो आ. । ७ छन्दो° आ. इ । ८ तिण्णा आ तिन्ना इ. । ९ वितिउ उद्देसउ सम्मतो ॥छ॥ आ. द्वितीयस्य द्वितीयोद्देशक ॥छ॥ इ. १० न हि नू° इ । ११ °पुत्रेण आ. । १२ ति आ इ १३ एवमताइत्या° आ. एवमत्या° इ. १४ °नीत्या° ।

सर्वं ति मनुष्यार्यक्षेत्रादिकमवसरं सद्नुष्ठानस्य ज्ञात्वा 'एनं' जैनं 'धर्मं' श्रुतचारित्रात्मकं, सह हितेन य त इति सहिता—ज्ञानादियुक्त बहवो जना लघुकर्माण समाश्रिताः सन्तो 'गुरो' आचार्यविस्तीर्णस्य वा 'छन्दानुवर्तकाः' तदुक्तमार्गानुयायिनो 'विरताः' पापेभ्यः कर्मभ्य सन्तस्तीर्णा 'महौघम्' अपारं संसारसागरमेवमाख्यातं मया भवतामपरैश्च तीर्थकृद्भिरन्येषाम्, इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववद् ॥३२॥ वैतालीयस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥२॥

■ ■ ■ ■ ■

अथ वैतालीयाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः प्रारभ्यते ।

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशकान्ते विरता इत्युक्तं, तपां च कदाचित्परीषहाः समुदीरेरंस्तत्सहनं विधेयमिति, उद्देशार्थाधिकारोऽपि निर्युक्तिकारेणाभिहितः यथाऽज्ञानोपचितस्य कर्मणोऽपचयो भवतीति, स च परीषहसहनादेवेत्यतः परीषहाः सोढव्या इत्यनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदि सूत्रम्—

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए। तं संजमओऽवचिज्जई, मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥१॥

जे विण्णवणाहिऽज्झोसिया, संतिण्णेहिं समं वियाहिया। तम्हा उड्ढंति पासहा, अदक्खु कामाइं रोगवं ॥२॥

1 परिसमाप्ता [illegible] । 2 [illegible] । 3 "विण्णवणा" [illegible] । 4 [illegible]

'संवुडकम्मस्स' इत्यादि, संवृतानि–निरुद्धानि कर्माणि–अनुष्ठानानि सम्यगुपयोगरूपाणि वा यस्य 'भिक्षोः' साधोः स तथा तस्य यत् 'दुःखम्' असद्वेद्यं तदुपादानभूतं वाऽष्टप्रकारं कर्म 'स्पृष्ट' मिति बद्धस्पृष्टनिकाचितमित्यर्थः, तच्चात्र[1] 'अबोधिना' अज्ञानेनोपचितं सत् 'संयमतो' मौनीन्द्रोक्तात् सप्तदशरूपादनुष्ठानाद् 'अपचीयते' प्रतिक्षणं क्षयमुपयाति, एतदुक्तं भवति–यथा तटाकोदरसंस्थितमुदकं निरुद्धापरप्रवेशद्वारं सदादित्यकरसम्पर्कात् प्रत्यहमपचीयते, एवं संवृताश्रवद्वारस्य भिक्षोरिन्द्रिययोगकषायं प्रति संलीनतया संवृतात्मनः सतः[3] संयमानुष्ठानेन चानेकभवाज्ञानोपचितं कर्म क्षीयते, ये च संवृतात्मानः सदनुष्ठायिनश्च ते 'हित्वा' त्यक्त्वा 'मरणं' मरणस्वभावमुपलक्षणत्वात् जातिजरामरणशोकादिकं त्यक्त्वा मोक्षं व्रजन्ति 'पण्डिताः' सद्-सद्विवेकिनः, यदिवा–'पण्डिताः' सर्वज्ञा एवं वदन्ति यत् प्रागुक्तमिति ॥१॥ येऽपिच तेनैव भवेन न मोक्षमाप्नुवन्ति तानधिकृत्याह–'जेविन्नवणा' इत्यादि, 'ये' महासत्त्वाः कामार्थिभिर्विज्ञाप्यन्ते यास्तदर्थिन्यो वा कामिनं विज्ञापयन्ति ता विज्ञापनाः–स्त्रियस्ताभिः 'अजुष्टा' असेविताः क्षयं[4] वा–अवसायलक्षणमतीतास्ते 'सन्तीर्णैः' मुक्तैः समं व्याख्याताः, अतीर्णा अपि सन्तो यतस्ते निष्किञ्चनतया शब्दादिषु विषयेष्वप्रतिबद्धाः संसारोदन्वतस्तटोपान्तवर्तिनो भवन्ति, तस्माद् 'ऊर्ध्वमिति' मोक्षं योषित्परित्यागाद्वोर्ध्वं यद्भवति तत्पश्यत यूयं । ये च कामान् 'रोगवंदू' व्याधिकल्पान् 'अद्राक्षुः' दृष्टवन्तस्ते संतीर्णसमा व्याख्याताः, तथा चोक्तम्–"पुप्फफलाणं च रसं सुराइ मंसस्स महिलियाणं च । जाणंता जे विरया ते दुक्करकारए वंदे ॥१॥" तृतीयपादस्य पाठान्तरं वा 'उड्ढं तिरियं अहे तहा' ऊर्ध्वमिति–सौध-

१ तचाबोधिना आ इ । २ सदा° आ इ । ३ सत सत् स° आ. सत्स । ४ Xमो° आ । सा० ५ झोषोऽवसानम् । ६ स्तटान्तर्व° प्र० । ७ °वदू आ. इ. । सा० ८ पुप्फलाना च रस सुराया मासस्य महेलाना च । जानन्तो ये विरतास्तान् दुष्करकारकान् वन्दे ॥१॥ ९ सुराए आ. इ. ।

मोदिषु, त्वारपमाद-लम्यक्त्वात्, अथ हात्तिभ्भानपत्वादौ, ये प्रमास्तान् रोगवत्प्राप्तुर्य ते तीर्णकस्पा व्यास्याता इति ॥२॥ पुन रप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह—

अग्गं वणिएहिं आहियं, धारती राईणिया इह। एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ॥३॥

जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहियं ॥४॥

'अग्गं' इत्यादि, 'अग्रं' वरं प्रधान रत्नवस्त्राभरणादिक तथवा वणिग्भिर्देशान्तराद् 'आहितं' ढौकितं राजानस्तत्कल्पा ईश्वरादयः 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'धारयन्ति' बिभ्रति, एवमेवान्यपि महाव्रतानि रत्नकल्पानि आचार्यैः 'आख्यातानि' प्रतिपादितानि निरोजितानि 'सरात्रिभोजनानि' रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि साधवो बिभ्रति, तुशब्दः पूर्वरत्नेभ्यो महाव्रतरत्नानां विशेषापादक इति, इदमुक्तं भवति—यथा प्रधानरत्नानां राजान एव भाजनमेवं महाव्रतरत्नानामपि महासत्त्वा एव साधवो भाजनं नान्ये इति ॥३॥ किञ्च—'जे इह' इत्यादि, ये नरा लघुप्रकृतयः 'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके सात—सुखमनुगच्छन्तीति साताऽनुगाः—सुखशीला ऐहिकामुष्मिकापायभीरवः समृद्धिरससातागौरवेषु 'अभ्युपपन्ना' गृद्धाः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'मूर्च्छिता' कामोत्कटतृष्णाः कृपणो—दीनो वराकक इन्द्रियैः पराजितस्तेन समाः सदृक्कामासेवने 'प्रगल्भिता' धृष्टतां गताः, यदि वा—कृपणेन स्तोकेन दोषेणासम्यगस्त्युपवमादिरूपेणाऽसत्संयमस्य

१ धर्मेषु ८। १ मतान्तरम्।

विराधनं भविष्यत्येवं प्रमादवन्तः कर्तव्येष्ववसीदन्तः समस्तमपि संयमं पटवन्मणिकुट्टिमवद्वा मलिनीकुर्वन्ति, एवम्भूताश्च ते 'समाधिं' धर्मध्यानादिकम् 'आख्यातं' कथितमपि न जानन्तीति ॥४॥ पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह—

[1]वाहेण जहा व विच्छए[2], अबले होइ गवं पचोइए[3]। से अंतसो अप्पथामए, [4]नाइवहइ अबले विसीयति ॥५॥

एवं कामेसणं विऊ[5], अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं। कामी कामे ण कामए, लद्धे [6]वावि अलद्ध कण्हुई ॥६॥

'वाहेण' इत्यादि, 'व्याधेन' लुब्धकेन 'जहा व'त्ति यथा 'गव'न्ति मृगादिपशुर्विविधम्—अनेकप्रकारेण कूटपाशादिना क्षतः—परवशीकृतः श्रमं वा ग्राहितः [7]प्रणोदितोऽप्यबलो भवति, जातश्रमत्वात् गन्तुमसमर्थः, यदिवा—वाहयतीति वाहः—शाकटिकस्तेन यथावद्वहन् [8]गौर्विविधं प्रतोदादिना क्षतः—प्रचोदितोऽप्यबलो—विषमपथादौ गन्तुमसमर्थो भवति, 'स चान्तशः' मरणान्तमपि यावदल्पसामर्थ्यो नातीव वोढुं शक्नोति, एवम्भूतश्च 'अबलो' भारं वोढुमसमर्थः तत्रैव पङ्कादौ [9]विषीदतीति ॥५॥ दार्ष्टान्तिकमाह—'एवं' इत्यादि, 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या कामानां—शब्दादीनां विषयाणां या [10]गवेषणा—प्रार्थना तस्यां कर्त्तव्यायां 'विद्वान्' निपुणः कामप्रार्थनासक्तः शब्दादिपङ्के मग्नः स चैवम्भूतोऽद्य श्वो वा 'संस्तवं' परिचयं कामसम्बन्धं प्रजह्यात् किलेति, एवमध्यवसाय्येव सर्वदाऽवतिष्ठते, नच तान् कामान् [11]अबलो बलीवर्दवत् [12]विषमं मार्गं त्यक्तुमलं, किञ्च—न [13]चैहिकामुष्मिकापायदर्शितया कामी भूत्वोपनतानपि 'कामान्' श-

१ सवाहेण आ । २ विक्कए इ । ३ °चोचिते आ । ४ णाद नभए इ. नाति वहति आ. । ५ विहु आ इ. । ६ आवि आ । ७ प्रचो° आ. । सा. ८ °प्यचालो प्र० । ९ °दति× आ । सा. १० याऽन्वेषणा प्र० । याऽन्वेषणा आ. । सा. ११ वालो °मवल° प्र० । १२ विपम आ । सा. १३ नैवे° प्र० ।

न्यादिविषयान् वैरस्वामिजम्बूनामादिवत् 'कामयेत' अभिलषेदिति, यथा क्षुल्लककुमारवत् कुतश्चिन्निमित्तात् 'सुट्ठुगाइय'मित्यादिना प्रतिबुद्धो 'लब्धानपि' प्राप्तानपि कामान् अलब्धसमान् मन्यमानो महासत्त्वतया त्यक्तस्पृहो भवेदिति ॥६॥ किमिति कामपरित्यागो विधेय इत्याशङ्क्याह—

मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं। अहियं च असाहु सोयेती, से थणती परिदेवती बहुं ॥

इह जीवियमेव पासहा, तरुणं एवा(णे वा)ससयस्स तुट्टती। इत्तरवासे य बुज्झह, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥

'मा पच्छ' इत्यादि, मा पश्चात्—मरणकाले भवान्तरे वा कामानुषङ्गात् 'असाधुता' कुगतिगमनादिरूपा 'भवेत्' प्राप्नुयादिति, अतो विषयासङ्गादात्मानम् 'अत्येहि' त्याजय, तथा आत्मानं च 'अनुशाधि' आत्मनोऽनुशास्तिं कुरु, यथा हे जीव! यो हि 'असाधुः' असाधुकर्मकारी हिंसानृतस्तेयादौ प्रवृत्तः सन् दुर्गतौ पतितः अधिकम्—अत्यर्थमेवं शोचति, स च परमाधार्मिकैः कदर्थ्यमानस्तिर्यक्षु वा क्षुधादिवेदनाग्रस्तोऽत्यर्थं 'स्तनति' सशब्दं निःश्वसितीति, तथा 'परिदेवते' विलपत्याक्रन्दति सुबह्विति—"हा मातर्म्रियत इति भ्राता नैवास्ति मत्सम कश्चित्। किं शरणं मे स्यादिह दुष्कृतचरितस्य पापस्य? ॥१॥" इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिणः प्राप्नुवन्तीत्यतो विषयानुषङ्गो न विधेय इत्येवमात्मनोऽनुशासनं कुर्विति सम्बन्धनीयं ॥७॥ किञ्च—'इह जीवियमेव' इत्यादि, 'इह' अस्मिन् संसारे आस्तां तावदन्य-जीवितमेव सकलमुत्तास्वदनित्यताध्यात आवीचिमरणेन प्रतिक्षणं विशरारुस्वभावं, तथा—सर्वायुःक्षय एव वा 'तरुण एव' युवैव सर्व-

1 मिवद्दृग्गु चू.। 2 अत्येहिति चू.। 3 अणुसास चू. ह.। 4 इये चू.। 5 तयी चू.। 6 पत्ती ह.। चू.। 7 इप्पत च चू.। 8 वस-यस चू.। 9 ऐत्तर। 10 स। 11 चावते। 12 सिर्ज। 13 सुयारि चू. ह.।

शतायुरप्युपक्रमतोऽध्यवसाननिमित्तादिरूपादायुषः 'त्रुट्यति' अच्यवते, यदिवा—साम्प्रतं सुबह्वप्यायुर्वर्षशतं तच्च तस्य तदन्ते त्रुट्यति, तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेषप्रायत्वात् इत्वरवासकल्पं वर्तते—स्तोकनिवासकल्पमित्येवं बुध्यध्वं यूयं, तथैवम्भूतेऽप्यायुषि 'नराः' पुरुषा लघुप्रकृतयः 'कामेषु' शब्दादिषु विषयेषु 'गृद्धा' अध्युपपन्ना मूर्च्छिताः तत्रैवाऽऽसक्तचेतसो नरकादियातनास्थानमाप्नुवन्तीति शेषः ॥८॥ अपिच—

जे इह आरंभनिस्सिया, आतंदंडा[1](ड)एगंतलूसगा। गंता ते पावलोगयं[2], चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

ण[3] य संखयमाहु जीवितं, तहवि य बालजणो[4] पगब्भई[5]। पच्चुप्पन्नेण कारियं, को[6] दट्ठुं परलोयमागते[7]?॥

'जे इह' इत्यादि, ये केचन महामोहाकुलितचेतसः 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'आरम्भे' हिंसादिके सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिताः—संबद्धा अध्युपपन्नास्ते आत्मानं दण्डयन्तीत्यात्मदण्डकाः, तथैकान्तेनैव जन्तूनां लूषकाः—हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकाः, ते एवम्भूता 'गन्तारो' यास्यन्ति 'पापं लोकं' पापकर्मकारिणां यो लोको नरकादिः 'चिररात्रम्' इति प्रभूतं कालं तन्निवासिनो भवन्ति, तथा बालतपश्चरणादिना यद्यपि तथाविधदेवत्वापत्तिस्तथाऽप्यसुराणामियमासुरी तां दिशं यान्ति, अपरप्रेष्याः किल्बिषिका देवाधमा भवन्तीत्यर्थः[8] ॥९॥ किञ्च—'ण य संखय' इत्यादि, 'न च' नैव त्रुटितं[9] जीवितमायुः 'संस्कर्तुं' संधातुं शक्यते, एवमाहुः सर्वज्ञाः, तथाहि—"दंडकलियं[10] करिन्ता वच्चंति हु राइओ य दिवसा य। आउं संवेल्लंता गया य ण पुणो णियंचंति[11] ॥१॥" 'तथाऽपि' एवमपि व्यवस्थिते

1 आयदंड आ. इ। 2 °त आ। 3 न त आ न य इ.। 4 °जणे आ. इ.। 5 °ती आ.। 6 के आ. इ। 7 °गए इ.। 8 °न्तीति। 9 त्रु-टयुज्जी° आ.। सा. 10 दण्डकलित कुर्वन्तो व्रजन्ति रात्रयश्च दिवसाश्च। आयु. संवेलयन्त्य. गताश्च पुनर्न निवर्तन्ते ॥१॥ 11 णिय°।

जीतानामायुषि 'बालजनः' अज्ञो लोको निर्विवेकत्वया असदनुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन् 'प्रगल्भते' धृष्टतां याति, असदनुष्ठानेनापि न लज्जत इत्यर्थः, स चाज्ञो जनः पापानि कर्माणि कुर्वन् परेण चोदितो धृष्टतया अलीकपाण्डित्याभिमानेनेदमुत्तरमाह—'प्रत्युत्पन्नेन' वर्तमान कालभाविना परमार्थसता अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाविद्यमानत्वात् 'कार्यं' प्रयोजनं, प्रेक्षापूर्वकारिभिस्तदेव प्रयोजनसाधकत्वादादीयते, एवं च सतीहलोक एव विद्यते न परलोक इति दर्शयति—को परलोकं दृष्ट्वाऽऽयातः, तथा चोक्तं—"पिब खाद च साधु शोभने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । नहि भीरु ! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१॥" तथा—"एतावानेव पुरुषो, यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे ! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥२॥" इति ॥१०॥ एवमैहिकसुखाभिलाषिणा परलोकं निह्नुवानेन नास्तिकेन अभिहिते सत्युत्तरप्रदानायाह—

अदक्खुव दक्खुवाहिय, (तं) सद्दहसु अदक्खुदंसणा ! । हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विंदेज्ज सिलोगपूयणं । एवं सहितेऽहिपासए, आयतुलं पाणेहिं संजए ॥१२॥

'अदक्खुव' इत्यादि, पश्यतीति पश्यो न पश्योऽपश्यः—अन्धस्तेन तुल्यः कार्याकार्याविवेकित्वादन्धवत्तस्याऽऽमन्त्रणं हेऽन्धवत्—अन्धसदृश ! प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन कार्याकार्यानभिज्ञ पश्येन—सर्वज्ञेन व्याहृतम्—उक्तं सर्वज्ञागमं 'श्रद्धत्स्व' प्रमाणीकुरु, प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हन्त हतोऽसि, पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेरिति, तथा अपश्यकस्य—असर्वज्ञस्याभ्युपगतं

१ परलोक च.। ख. १ क परलोकं दर्शयति क पर प्र । २ यन च.। ख. ४ वदन्ति पा । ५ वरगात्र ६. जयकखत्य च.। ६ नाव. व दे च.। ७ एव च.। ८ मोहे इ । ९ एवमवत च.।

दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनस्तस्याऽऽमन्त्रणं हेऽपश्यकदर्शन ! स्वतोऽर्वाग्दर्शी भवांस्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च सन् कार्याकार्याविवेचितयाऽन्धवद्भविष्यत् यदि सर्वज्ञाभ्युपगमं नाकरिष्यत्, यदिवा अदक्षो वा अनिपुणो वा दक्षो वा–निपुणो वा यादृशस्तादृशो वाऽचक्षुर्दर्शनमस्यासावचक्षुर्दर्शनः–केवलदर्शनः–सर्वज्ञस्तस्माद्यदवाप्यते हितं तत् श्रद्धस्व, इदमुक्तं भवति–अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनोक्तं हितं श्रद्धातव्यं, यदिवा–हे 'अदृष्ट' हे अर्वाग्दर्शन ! द्रष्ट्रा–अतीतानागतव्यवहितसूक्ष्मपदार्थदर्शिना यद्व्याहृतम्–अभिहितमागमे तत् श्रद्धस्व, हे अदृष्टदर्शन अदक्षदर्शन ! इति वा–असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिन् ! तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानं कुर्विति तात्पर्यार्थः, किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानमसुमान्न करोति ? येनैवमुपदिश्यते, तन्निमित्तमाह–"हंदी'[1] त्येवं गृहाण, हुशब्दो वाक्यालङ्कारे सुष्ठु–अतिशयेन निरुद्धम्–आवृतं दर्शनं–सम्यग् अवबोधरूपं यस्य स तथा, केनेत्याह–मोहयतीति मोहनीयं–मिथ्यादर्शनादि ज्ञानावरणीयादिकं वा तेन स्वकृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनः प्राणी सर्वज्ञोक्तं मार्गं न श्रद्धत्ते अतस्तन्मार्गश्रद्धानं प्रति चोद्यते इति ॥११॥ पुनरप्युपदेशान्तरमाह–'दुक्खी' इत्यादि, दुःखम्–असातवेदनीयमुदयप्राप्तं तत्कारणं वा दुःखयतीति दुःखं तदस्यास्तीति दुःखी सन् प्राणी पौनःपुन्येन[2] [3]मोहं याति–सदसद्विवेकविकलो भवति, इदमुक्तं भवति–असातोदयात् दुःखमनुभवन्नार्तो मूढस्तत्तत्करोति[4] येन पुनः पुनः दुःखी संसारसागरमनन्तमभ्येति, तदेवम्भूतं मोहं परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थाय "निर्विंधेत'[5] जुगुप्सयेत् परिहरेदात्मश्लाघां स्तुतिरूपां तथा 'पूजनं' वस्त्रादिलाभरूपं परिहरेत्, 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या प्रवर्त्तमानः सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादियुक्तो वा संयतः प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थिभिः 'आत्मतुला' आत्मतुल्यतां दुःखाप्रियत्वसुखप्रियत्वरूपामाधिकं पश्येत्[6], आत्मतुल्यान् सर्वानपि

१ हदीत्यादि हदी आ. । २ °पुण्येन आ इ. । ३ मोहे आ. इ । ४ मूढस्तत्क आ. मूढ सन् तत्क° इ. । ५ निर्विंद्यात आ. । ६ पश्येदभिपश्येत् आ. ।

भावेन सत्यापयति ॥१२॥ किञ्च—

गारंपि अ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए। समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे सलोगयं ॥१३॥

सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं। सव्वत्थ विणीयमच्छरे, उञ्छं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

'गारंपि' इत्यादि, 'अगारमपि' गृहमप्यावसन्—गृहवासमपि कुर्वन् 'नरो' मनुष्यः 'आनुपूर्व्ये'मिति आनुपूर्व्या—श्रवणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यक् यतः संयत तदुपमर्दाभिरुचः, किमिति? यतः 'समता' समभावः आत्मपरतुल्यता 'सर्वत्र' यतो गृहस्थे च यदिदैकेन्द्रियादौ 'श्रूयते' अभिधीयते आर्हते प्रवचने, तां च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् 'देवानां' पुरन्दरादीनां 'लोकं' स्थानं गच्छेत्, किं पुनर्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधारी यतिरिति ॥१३॥ अपिच—'सोच्चा'इत्यादि, ज्ञानैश्वर्यादिगुणसमन्वितस्य भगवतः—सर्वज्ञस्य शासनम्—आज्ञामागमं वा 'श्रुत्वा' अधिगम्य 'तत्र' तस्मिन्नागमे तदुक्ते वा संयमे सद्भ्यो हिते सत्ये उपक्रमं तदुपक्रम—तत्प्राप्तुपायं कुर्यात्, किम्भूतः?—सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स तथा सोऽन्तःकरणः क्षेत्रे(वा)स्त्वपिशरीरनिष्पिपासः, तथा 'उञ्छं'ति भैक्ष्यं विशुद्धं-द्विचत्वारिंशद्दोषरहितमाहारं गृह्णीयादभ्यवहरेदिति ॥१४॥ किञ्च—

सव्वं नच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए। गुत्ते जुत्ते सदा जए, आयपरे परमायतट्ठिते ॥१५॥

---

१ नरे च॰। २ समया सा॰ ह॰। ३ 'पेत्य इ॰ सर्व्वत्र'। ४ हु सा॰ ह॰। ५ आनुपूर्व्या सा॰ आपापूर्व ह॰। प॰ १ प्रथम म। ७ सम्यग्नीतो सा॰। ८ ह॰ ८ सर्वत्र अ ॥ ९ मात्सर्य सा ह॰।

[1]वित्तं पसवो य [2]नाइओ, तं बाले सरणं ति [3]मन्नइ। एते मम तेसुवी अहं, नो ताणं सरणं [4]न विज्जई ॥१६॥

'सव्वं नच्चा' इत्यादि, 'सर्वम्' एतद्धेयमुपादेयं च ज्ञात्वा सर्वज्ञोक्तं मार्गं सर्वसंवररूपम् 'अधितिष्ठेत्' आश्रयेत्, धर्मेणार्थो धर्म एव वाऽर्थः परमार्थेनान्यस्यानर्थरूपत्वात् धर्मार्थः स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थी–धर्मप्रयोजनवान्, उपधानं–तपस्तत्र वीर्यं यस्य स तथा अनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थः, तथा मनोवाक्कायगुप्तः, सुप्रणिहितयोग इत्यर्थः, तथा युक्तो ज्ञानादिभिः 'सदा' सर्वकालं यतेताऽऽत्मनि ॥ ९ ॥ परस्मिंश्च। किंविशिष्टः सन्? अत आह–परम–उत्कृष्ट आयतो–दीर्घः सर्वकालभवनात् मोक्षस्तेनार्थिकः–तदभिलाषी पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टो भवेदिति ॥१५॥ पुनरप्युपदेशान्तरमाह–'वित्तं' इत्यादि, 'वित्तं' धनधान्यहिरण्यादि 'पशवः' करितुरगगोमहिष्यादयो 'ज्ञातयः' स्वजना मातापितृपुत्रकलत्रादयः तदेतद्वित्तादिकं 'बालः' अज्ञः शरणं मन्यते, तदेव दर्शयति–ममैते वित्तपशुज्ञातयः परिभोगे उपयोक्ष्यन्ते, तेषु चार्जनपालनसंरक्षणादिना शेषोपद्रवनिराकरणद्वारेणाहं भवामीत्येवं बालो मन्यते, न पुनर्जानीते यदर्थं धनमिच्छन्ति तच्छरीरमशाश्वतमिति, अपिच–"रिद्धी[5] सहावतरला[6] रोगजराभंगुरं हयसरीरं। दोण्हंपि गमणसीलाण किच्चिरं होज्ज संबंधो? ॥१॥"

॥ १० ॥ तथा "मातापितृसहस्राणि, पुत्रदारशतानि च। प्रतिजन्मनि वर्तन्ते, कस्य माता पिताऽपि वा? ॥१॥" एतदेवाह–'नो' नैव वित्तादिकं संसारे कथमपि त्राणं भवति नरकादौ पततो, नापि रागादिनोपद्रुतस्य कश्चिच्छरणं विद्यत इति ॥१६॥ एतदेवाह—

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा[7] उक्कमिते भवंतिए[8]। एगस्स[9] गती य आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥१७॥

१ चित्त इ.। २ णायतो आ. णायए इ। ३ °ण्णती °ण्णई। ४ ति। सा० ५ ऋद्धिः स्वभावतरला रोगजराभङ्गुरं हतकं शरीरम्। द्वयोरपि गमनशीलयोः कियच्चिरं भवेत्सम्बन्धः? ॥१॥ ६ °चवला आ। ७ °वोवक्कमिए आ। ८ °तए आ. इ.। ९ °कस्स आ.।

सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो। हिंडति भयाउला सढा जाइजरामरणेहिऽभिद्दुता ॥१८॥

'अब्भागमि' इत्यादि, पूर्वोपार्जितासातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे सत्येकाक्येव दुःखमनुभवति, न ज्ञातिवर्गेण विभेन वा किञ्चित्क्रियते, तथाच—"सयणस्सवि मज्झगओ रोगाभिहओ किलिस्सइ इहेगो। सयणोविय से रोग, न विरंचइ नेव नासेइ ॥१॥" अथवा उपक्रमकारणैरुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा भवान्तरे मवान्तिके वा—मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवासुमतो गतिरागतिश्च भवति, 'विद्वान्' विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते, कुतः ? सर्वात्मना त्राणमिति, तथाहि—"एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते। तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥१॥ एक्को करेइ कम्मं फलमवि तस्सिक्कओ सम णुहवइ। एक्को जायइ मरइ य परलोयं एक्कओ जाइ ॥२॥" ॥१७॥ अन्यच्च—'सव सय'इत्यादि, सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्तिनः प्राणिनः संसारे पर्यटन्त' स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः—सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकैकेन्द्रियादिभेदेन व्यवस्थिताः, तथा तेनैव कर्मणैकेन्द्रियाद्यवस्थायाम् 'अव्यक्तेन' अपरिस्फुटेन शिरःशूलाद्यप्रतिपादितस्वभावेनोपलक्षणार्थत्वात् प्रव्यक्तेन च 'दुःखेन' असातावेदनीयस्वभावेन समन्विताः प्राणिनः पर्यटन्ति—अरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन तास्वेव योनिषु भयाकुलाः शठकर्मकारित्वात् शठा भ्रमन्ति जाति-जरामरणैरभिद्रुता—गर्भाधानादिभिर्दुःखैः पीडिता इति ॥१८॥ किञ्च—

१ अभ्यागम आ.। २ चापि आ. इ.। ३ हिरुभिद्दुता इ. ४ हमिद्दुता आ.। ४ सर्वा' आ। ५ तडु'ख' आ। पा. ६ स्वजनस्यापि मध्यगतो रोगाभिहतः क्लिश्यति इहैकः। स्वजनोऽपि च तस्य रोगं न विरेचयति (हरति) नैव नाशयति ॥१॥ ७ 'ज्ञाते आ.। पा. ८ एकः करोति कर्म फलमपि तस्यैकः समनुभवति। एको जायते म्रियते च परलोकमेकको याति ॥१॥ ९ स्वकल्पिताः आ. इ.। १० 'निरपाय आ। ११ दुर्णीभिता इ.।

इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहितं। एवं सहिएऽहिपासए, आह जिणे इणमेव सेसगा[3] ॥
अभविंसु[4] पुरावि भिक्खुवो, आएसावि भवंति सुव्वता। एयाइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥

'इणमेव'[6] इत्यादि, इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इमं-द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं 'क्षणम्' अवसरं ज्ञात्वा तदुचितं विधेयं, तथाहि-द्रव्यं जङ्गमत्वपञ्चेन्द्रियत्वसुकुलोत्पत्तिमानुष्यलक्षणं क्षेत्रमप्यार्यदेशार्धषड्विंशतिजनपदलक्षणं कालोऽप्यवसर्पिणीचतुर्थारकादिः[7] धर्मप्रतिपत्तियोग्यलक्षणः भावश्च धर्मश्रवणतच्छ्रद्धानचारित्रावरणकर्मक्षयोपशमाहितविरतिप्रतिपत्त्युत्साहलक्षणः, तदेवंविधं क्षणम्-अवसरं परिज्ञाय तथा 'बोधिं च' सम्यग्दर्शनावाप्तिलक्षणां नो सुलभामिति, एवमाख्यातमवगम्य तदवाप्तौ तदनुरूपमेव कुर्यादिति शेषः, अकृतधर्माणां च पुनर्दुर्लभा बोधिः, तथाहि-"लद्धेल्लियं[10] च बोहिं अकरेंतो अणागयं च पत्थेंतो। अन्नं[11] दाइं बोहिं लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ? ॥१॥" तदेवमुत्कृष्टतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणकालेन[12] पुनः सुदुर्लभा बोधिरित्येवं सहितो ज्ञानादिभिरधिपश्येत्-बोधिसुदुर्लभत्वं पर्यालोचयेत्, पाठान्तरं वा 'अहियासए'त्ति परीषहानुदीर्णान् सम्यगधिसहेत। एतच्चाऽऽह 'जिनो' रागद्वेषजेता नाभेयोऽष्टापदे स्वान्[13] सुतानुद्दिश्य, तथाऽन्येऽपि इदमेव शेषका जिना अभिहितवन्त इति ॥१९॥ एतदाह-'अभविंसु' इत्यादि, हे भिक्षवः-साधवः !, सर्वज्ञ स्वशिष्यानेवमामन्त्रयति, येऽभूवन्-अतिक्रान्ता 'जिनाः' सर्वज्ञाः 'आएसावि'त्ति आगमिष्याश्च ये भविष्यन्ति, तान् विशिनष्टि-'सुव्रताः' शोभन-

१ °ाणिता आ.। २ °हिपा° आ इ। ३ °ता आ. इ। ४ मविंसु आ।५ आहिए आ.। ६ इमेत्यादि आ।७ °कादिधर्म° आ. इ.। सा. ८ °ख्याता° प्र०। ९ तथा च आ.। सा १० लब्धा च बोधिमकुर्वन् अनागता च प्रार्थयमान.। अन्या (तदा) बोधिं लप्स्यसे कतरेण मूल्येन ? ॥१॥ ११ अण्णं आ.। १२ °त उपार्द्ध° आ, इ.। १३ स्वसुतां ।

मता, अनेनेदमुक्तं भवति—तेषामपि जिनत्वं सुत्रतस्वादेशायातमिति, ते सर्वेऽप्येतान्—अनन्तरोदितान् गुणान् 'आहु:' अभिहितवन्त:, नात्र सर्वज्ञानां कश्चिन्मतभेद इत्युक्तं भवति, ते च 'काश्यपस्स' ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सर्वेऽप्यनुचीर्णधर्मचारिण इति, अनेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक एव मोक्षमार्ग इत्यावेदितं भवतीति ॥२०॥ अभिहितांश्च गुणानुद्देशत आह—

तिविहेणवि पाण मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे। एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे अ अणागयावरे ॥२१॥

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे। अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥ त्तिबेमि ॥ इति श्रीवेयालिय बितीयमज्झयणं समत्तं ॥ (गाथाग्रं १७४) ॥

'तिविहेण' इत्यादि, त्रिविधेन' मनसा वाचा कायेन यदिवा—कृतकारितानुमतिभिर्वा 'प्राणिनो' दशविधप्राणभाजो मा हन्यादिति, प्रथममिदं महाव्रतम्, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् एवं शेषाण्यपि द्रष्टव्यानि, तथाऽऽत्मने हित 'आत्महित', तथा नास्य स्वर्गावाप्त्यादिल-क्षणं निदानमस्तीत्यनिदान:, तथेन्द्रियनोइन्द्रियैर्मनोवाक्कायैर्वा संवृतस्त्रिगुप्तिगुप्त इत्यर्थ:, एवम्भूतस्यावश्यं सिद्धिमवाप्नोतीत्येतद्दर्शयति—'एवम्' अनन्तरोक्तमार्गानुष्ठानेनानन्ता 'सिद्धा' अशेषकर्मक्षयभाज: संप्राप्ता विशिष्टस्थानयाजो वा, तथा 'सम्प्रति' वर्तमाने काले सिद्धिगमनयोग्ये सिध्यन्ति, अपरे चा अनागते काले एतन्मार्गानुयायिन एव सेत्स्यन्ति, नापर: सिद्धिमार्गोऽस्तीति भावार्थ: ॥२१॥ एवम

१ वसीमं च. १. । २ पवि च. । ३ उवाहु च. । ४ त्ति इति धम्मविवाभ्मगुत्तं विल्लवीन ... । ... सिवं निर्वेमि ... तिवेमि च. त्ति बेमि बेयालियं सम्मत्तं ... । ५ ... ते मनागारे च ।

सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतिभ्यः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयतीत्याह—'एवं से' इत्यादि, 'एवम्' उद्देशकत्रयाभिहितनीत्या ... तदस्यास्तीत्यनुत्तरज्ञानी
स्वपुत्रानुद्दिश्य 'उदाहृतवान्' प्रतिपादितवान्, नास्योत्तरं-प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानं
तथाऽनुत्तरदर्शी, सामान्यविशेषपरिच्छेदकावबोधस्वभाव इति, बौद्धमतनिरासद्वारेण ज्ञानाधारं जीवं दर्शयितुमाह—'अनुत्तरज्ञानदर्शन-
धर' इति कथञ्चिद्भिन्नज्ञानदर्शनाऽऽधार इत्यर्थः, 'अर्हन्' सुरेन्द्रादिपूजार्हो ज्ञातपुत्रो वर्द्धमानस्वामी ऋषभस्वामी वा 'भगवान्' ऐश्व-
र्यादिगुणयुक्तो विशालयां नगर्यां वर्द्धमानोऽस्माकमाख्यातवान्, ऋषभस्वामी वा विशालकुलोद्भवत्वाद्वैशालिकः, तथा चोक्तम्—"वि-
शाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा। विशालं प्रवचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः ॥१॥" एवमसौ जिन आख्यातेति। इतिशब्दः
परिसमाप्त्यर्थो, ब्रवीमीति उक्तार्थो, नयाः पूर्ववदिति ॥२२॥ तृतीय उद्देशकः समाप्तः, तत्समाप्तौ च समाप्तं द्वितीयं वैतालीयमध्ययनं ॥

卐 卐 卐 卐

॥ अथ तृतीयस्योपसर्गाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः प्रारभ्यते ॥

उक्तं द्वितीयमध्ययनम्, अधुना तृतीयमारभ्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरं स्वसमयपरसमयप्ररूपणाऽभिहिता, तथा प-

---

१ °दर्शनी आ. इ.। २ इत्यर्थः आ.। ३ इति आ। ४ गुणसंयुक्तो आ.। ५ वर्त्त° आ.। स ६ (वचन) यस्य प्र०। शस्य आ. इ। ७ प्रथत
६८५ समाप्त च द्वितीय वैतालीयमध्ययन ॥छ॥छ॥ आ. ॥छ॥ समाप्त च द्वितीय वैतालीयमध्ययन ॥छ॥ ग्रंथाग्र ६८५। इ.।

रममदोषान् स्वममपगुणांश्च परिज्ञाय स्वसमये मोघो विधेय इत्येतदभिहितं, तस्य च प्रतिबुद्धस्य सम्यगुत्थानेनोत्थितस्य सतः क्वचि-
निरनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रादुर्भवेयुः, ते मोदीर्णाः सम्यक् सोढव्या इत्येतदनेनाध्ययनेन प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्या-
स्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा—अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययना-
र्थाधिकार 'संबुज्झसु न मन्ना' इत्यादिना प्रथमाध्ययने प्रतिपादितः, उद्देशार्थाधिकारं तूपरत्र स्वयमेव निर्युक्तिकारः प्रतिपादयिष्यतीति,
नामनिष्पन्ने तु निक्षेपमधिकृत्य निर्युक्तिकृदाह—

उवसग्गंमि य छक्कं दव्वे चेयणमचेयणं दुविहं। आगंतुगो य पीलाकरो य जो सो उवस्सग्गो ॥४५॥

'उवसग्गंमि' इत्यादि, नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् उपसर्गाः षोढा, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्योपसर्गं दर्शयति—
'द्रव्ये' द्रव्यविषये उपसर्गो द्वेधा यतस्तद्द्रव्यमुपसर्गकर्तृ चेतनाचेतनभेदात् द्विविधं, तत्र तिर्यङ्मनुष्यादयः स्वावयवाभिघातेन यदुपस-
र्गयन्ति स सचित्तद्रव्योपसर्गः, स एव काष्ठादिनेतरः। 'तत्तभेदपर्यायैर्व्याख्ये'ति, तत्रोपसर्ग उपतापः शरीरपीडोत्पादनमित्यादिप-
र्यायाः, भेदाश्च तिर्यङ्मनुष्योपसर्गादयः नामादयश्च, तद्व्याख्या तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्धेन दर्शयति—अपरस्मादभिघातादेः आग-
च्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपक्रमो भवति, स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकरीति ॥ क्षेत्रोपसर्गानाह—

सेसं बहुओघऍय काउो गंतसुसमाविभो। पावे कम्मक्खोवसमो सो दुविहो ओघुवक्कमिओ ॥४६॥

१ ... अ. १ २ ... अ. १ ३ ... अ. अ. १ ४ ... अ. ... अ. १ ५ ... अ. अ. १ ६ ...
... अ. अ. १

'खेत्तं' इत्यादि, यस्मिन् क्षेत्रे बहून्योघतः—सामान्ये-[illegible]क्रूरचाराद्युपसर्गस्थानानि भवन्ति तत्क्षेत्रं बह्वोघपदं, पाठान्तरं वा 'बह्वोघभयं' बहून्योघतो भयस्थानानि यत्र तत्तथा, तच्च लाढादिविषयादिकं क्षेत्रमिति, कालस्त्वेकान्तदुष्षमादिः, आदिग्रहणात् यो यस्मिन् क्षेत्रे दुःखोत्पादको ग्रीष्मादिः स गृह्यत इति, कर्मणां—ज्ञानावरणीयादीनामभ्युदयो भावोपसर्ग इति, स च उपसर्गः सर्वोऽपि सामान्येन औघिकौपक्रमिकभेदात् द्वेधा, तत्रौघिकोऽशुभकर्मप्रकृतिजनितो भावोपसर्गो भवति, औपक्रमिकस्तु दण्डकशाशस्त्रादिनाऽसातवेदनीयोदयापादक इति ॥ तत्रौघिकौपक्रमिकयोरुपसर्गयोरौपक्रमिकमधिकृत्याह—

उवक्कमिओ संयमविग्घकरे तत्थुवक्कमे पगयं । दव्वे चउव्विहो देवमणुयतिरियायसंवेत्तो ॥४७॥

'उवकमिओ' इत्यादि, उपक्रमणमुपक्रमः, कर्मणामनुदयप्राप्तानामुदयप्रापणमित्यर्थः, एतच्च यद्द्रव्योपयोगात् येन वा द्रव्येणासातावेदनीयाद्यशुभं कर्मोदीर्यते यदुदयाच्चाल्पसत्त्वस्य संयमविघातो भवति अत औपक्रमिक उपसर्गः संयमविघातकारीति, इह च यतीनां मोक्षं प्रति प्रवृत्तानां संयमो मोक्षाङ्गं वर्तते तस्य यो विघ्नहेतुः स एवात्राधिक्रियत इति दर्शयति—तत्र—औघिकौपक्रमिकयोरौपक्रमिकेन 'प्रकृतं' प्रस्तावः तेनात्राधिकार इतियावत्, स च 'द्रव्ये' द्रव्यविषयश्चिन्त्यमानश्चतुर्विधो भवति, तद्यथा—दैविको मानुषस्तैरश्च आत्मसंवेदनश्चेति ॥ साम्प्रतमेतेषामेव भेदमाह—

एक्केक्को य चउविहो अट्ठविहो वावि सोलसविहो वा । घडण जयणा य तेसिं एत्तो वोच्छं अहि(ही)यारं(रो)४८

१ क्रूरश्वापु आ । २ ××× आ इ. । ३ °मुदयो आ इ. । ४ कश° आ. इ. । ५ °मित अ. आ । ६ °विघायकारि अ. आ. । ७ तसु° अ. आ. ८ °सवेउ अ. आ. । ९ °त्याह इ । १० शुभक° आ. । ११ °व्विहा अ. आ. । १२ दिव्वाई होइ सोलस विहोउ अ. आ. । १३ °य अ. आ. । १४ पोच्छं आ. । १५ अहीगारो अ अहीगारे आ. ।

'चउव्विहा' इत्यादि, पश्चात् दिव्यादिः 'चतुर्विधः' चतुर्भेदः, तत्र दिव्यस्तावत् हासात् प्रद्वेषात् विमर्शात् पृथग्विमात्रातश्चेति, मानुषा अपि तथैव प्रद्वेषात् ... , तैरश्चा अपि चतुर्विधाः, तद्यथा—भयात् प्रद्वेषात् आहारादपत्यसंरक्षणात्, आत्मसंवेदनीयाश्चतुर्विधाः, तद्यथा—घट्टनातो लेशनात्—अङ्गुल्याद्यवयवसंश्लेषरूपायाः स्तम्भनात् प्रपाताच्चेति यदिवा—वातपित्तश्लेष्मसंनिपातजाः, एवं दिव्यादिचतुर्विधोऽप्युपसर्गो भेदात् अष्टधा भवति, स एव दिव्यादिः प्रत्येकं चतुर्धा प्राग्दर्शितः स चतुर्णां चतुष्कानां मेलापकात् षोडशभेदो भवति, तेषां चोपसर्गाणां यथा घटना—सम्बन्धः प्राप्तिः आसानां चाधिसहनं प्रति यतना ... इत्ययमत्रार्थाधिकार इति भावः ॥४॥ उद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह—

पढमंमि य पडिलोमा हुंती अणुलोमगा य बितियंमि (बिइयम्मि पिइपुत्ताईकया य अणुलोमा)।

तइए अज्झत्तविसोहणं च परवादिवयणं च ॥४९॥

हेऊसरिसेहिं अहेउएहिं ससमयपडिएहिं णिउणेहिं। सीलखलियपण्णवणा कया चउत्थंमि उद्देसे ॥५०॥

'पढमंमि' इत्यादि, प्रथमे उद्देशके 'प्रतिलोमाः' प्रतिकूला उपसर्गाः प्रतिपादिता इति, तथा द्वितीये 'ज्ञातिकृताः' स्वजनापादिता अनुलोमा—अनुकूला इति, तथा तृतीये अध्यात्मविषीदनं परवादिवचनं चेत्ययमर्थाधिकार इति, 'हेऊ' इत्यादि, चतुर्थोद्देशके अयमर्थाधिकारः, तद्यथा 'हेतुसदृशैः' ... —अनादिनामिलितानां—व्यामोहितानां प्रज्ञापना—यथावस्थितार्थप्ररूपणा

1 ... 2 ... 3 ... 4 ... 5 ... 6 ... 7 ... 8 ... 9 ... 10 ... 11 ... 12 ...

स्वसमयप्रतीतैर्निपुणभणितैर्हेतुभिः कृतेति ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

सूरं [1]मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती । [2]जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपा[3]लो व महारहं ॥१॥

[4]पयाता सूरा रणसीसे, संगामंमि उवट्ठिते । माया पुत्तं न याणाइ, जे[5]एण परिविच्छए ॥२॥

'सूरं मण्णइ'इत्यादि, कश्चिल्लघुप्रकृतिः सङ्ग्रामे समुपस्थिते शूरमात्मानं मन्यते—निस्तोयाम्बुद इवात्मश्लाघाप्रवणो वाग्भिर्विस्फूर्जन् गर्जति, तद्यथा—न मत्कल्पः परानीके कश्चित् सुभटोऽस्तीति, एवं तावद्गर्जति यावत् पुरोऽवस्थितं प्रोद्यतासिं जेतारं न पश्यति, तथा चोक्तम्—"तावद्गजः [7]प्रस्रुतदानगण्डः, करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि । यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु, लाङ्गूलविस्फोटरवं शृणोति ॥१॥" न दृष्टान्तमन्तरेण प्रायो लोकस्यार्थावगमो भवतीत्यतस्तदवगतये दृष्टान्तमाह—यथा माद्रीसुतः शिशुपालो वासुदेवदर्शनात्प्राक् आत्मश्लाघाप्रधानं गर्जितवान्, पश्चाच्च युध्यमानं—शस्त्राणि व्यापारयन्तं दृढः—समर्थो धर्मः—स्वभावः सङ्ग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा तं, महान् रथोऽस्येति महारथः, स च प्रक्रमादत्र नारायणस्तं युध्यमानं दृष्ट्वा प्राग्गर्जनाप्रधानोऽपि क्षोभं[8] गतः, एवमुत्तरत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि योजनीयमिति । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—"[9]वसुदेवसुसाएँ सुओ दमघोसणराहिवेण मद्दीए । जाओ चउ[10]ब्भुओऽब्भुयबलकलिओ कलहपत्तट्ठो ॥१॥ दट्ठूण तओ जणणी चउब्भुयं पुत्तमब्भुयमणग्घं । भयहरिसवि[11]म्हियमुही पुच्छइ णेमित्तियं सहसा ॥२॥ णेमित्ति-

---

१ °ण्णति इ. ग्णति आ. । २ जुज्झती इ. । ३ °पालेऽआ. °पालो व्व इ. । ४ पताया आ. पयाया इ. । ५ जेतेण आ. । ६ °वे आ. । ७ प्रश्रुत° इ. । ८ °शुपगतः आ. । सा. ९ वसुदेवस्वसु सुतो दमघोषनराधिपेन माद्र्याः । जातश्चतुर्भुजोऽद्भुतबलकलितः आसकलहार्थः ॥१॥ १० °तुब्भुओ भुय आ. । सा. दृष्ट्वा ततो जननी चतुर्भुजं पुत्रमद्भुतमनर्घम् । भयहर्षविस्मिताक्षी पृच्छति नैमित्तिकं सहसा ॥२॥ ११ विम्हिय आ. । सा. नैमित्तिकेन भणित्वा साधित तस्यै हृष्टहृदयायै । यथैव

च मुरिडअ मासिए मीई सहिसयाए । जइ एस तुम्ह पुत्तो महाबलो दुज्जओ समरे ॥२॥ पयस्स ये ज दट्ठूण होइ सामारिय पानुमन । होही नत्रो निय मम पुत्तस्स से पेत्तिय संदेहो ॥३॥ सावि मयवेविरंगी पुत्त देसेइ जाव कण्हस्स । ताम विय तस्स ठिंप पयाय समुप्पन्नुपन ॥५॥ मेरे कण्हस्स पिउच्छा पुत्तं पाडेइ पायपीढंमि । अवराहसयमपत्तस्स सोवि सय से खमिस्सामि ॥६॥ सिसु पाला [illegible] गुणसयणम्स नारायण समन्भरि । ससणेहिं मण्ण सोविहु समइ पयाए समत्थोवि ॥७॥ अवरासयए पुण्णे वारिखतो य फिरइ जाए । छत्तन गओ छिन्न मरण उवंगओ से ॥८॥" साम्प्रतं सर्वजनप्रतीतं वार्तमानिकं दृष्टान्तमाह—'पयाया' इत्यादि, यथा [illegible] रणशिरसि संग्राममूर्धन्यग्रानीके याता—गताः, के ते ?—'शूराः' शूरंमन्याः—सुभटाः, ततः संग्रामे समुपस्थिते सति तत्र च सर्वस्याकुलीभूतत्वात् 'माता पुत्रं न जानाति' कटीतो भ्रश्यन्तं स्तन [illegible] न मन्यते भविताणवीत्यर्थं 'मातापुत्रीये संग्रामे परानीकसुभटेन जेत्रा चक्रकुन्तनाराचशक्त्यादिभिः परि—समन्तात् विवि [illegible] परिविक्षतो वा यथा कश्चिदल्पसत्त्वो भङ्गमुपयाति दीनो भवतीतियावदिति ॥२॥ दार्ष्टान्तिकमाह—

[illegible]

एवं सेहेवि अप्पुट्ठे, भिक्खायरियाअकोविए । सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥३॥

जया हेमंतमासंमि, सीतं फुसइ सव्वगं । तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया ॥४॥

'एवं सेहे' इत्यादि, 'एव'मिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थः, यथाऽसौ शूरंमन्य उत्कृष्टिसिंहनादपूर्वकं सङ्ग्रामशिरस्युपस्थितः पश्चाज्जेतारं वासुदेवमन्यं वा युध्यमानं दृष्ट्वा दैन्यमुपयाति, एवं 'शैक्षकः' अभिनवप्रव्रजितः परीषहैः 'अस्पृष्टः' अच्छुप्तः किं प्रव्रज्यायां दुष्करमित्येवं गर्जन् 'भिक्षाचर्यायां' भिक्षाटने 'अकोविदः' अनिपुणः, उपलक्षणार्थत्वादन्यत्रापि साध्वाचारेऽभिनवप्रव्रजितत्वादप्रवीणः, स एवम्भूत आत्मानं तावच्छिशुपालवत् शूरं मन्यते यावज्जेतारमिव 'रूक्षं' संयमं कर्मसंश्लेषकारणाभावात् 'न सेवते' न भजत इति, तत्प्राप्तौ तु बहवो गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वा भङ्गमुपयान्ति ॥३॥ संयमस्य रूक्षत्वप्रतिपादनायाह—'जया हेमंत' इत्यादि, 'यदा' कदाचित् 'हेमन्तमासे' पौषादौ 'शीतं' सहिमकणवातं 'स्पृशति' लगति 'तत्र' तस्मिन्नसह्ये शीतस्पर्शे लगति सति एके 'मन्दा' जडा गुरुकर्माणो 'विषीदन्ति' दैन्यभावमुपयान्ति 'राज्यहीना' राज्यच्युताः यथा—क्षत्रिया राजान इवेति ॥४॥ उष्णपरीषहमधिकृत्याह—

पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए । तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥५॥

---

१ °स्पुट्ठे आ °पुट्ठे इ । २ °चरिए आ । ३ सेवई आ. इ । ४ जदा । ५ °सि आ. । ६ सवातगं आ गवायग इ । ७ °हसिं° आ । ८ शिक्षक आ. शिष्यक इ । ९ °न्तीति आ इ । १० X प्र० आ. । ११ च° आ । १२ राजाच्युता XX आ राजच्युता XX इ । १३ गिम्हाधि° आ. गिण्हाहि° इ ।

सदा दत्तसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोछिया । कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥६॥

'पुट्ठ' इत्यादि, 'ग्रीष्मे' ज्येष्ठाषाढाख्ये अभितापस्तेन 'स्पृष्टः' छुप्तो व्याप्तः सन् 'विमनाः' विमनस्काः, सुष्ठु पातुमिच्छा पिपासा
तां प्राप्तोनिस्सरं वृद्धमिभूतो माधुस्पन दैन्यमुपयातीति दर्शयति—'तत्र' तस्मिन्नुष्णपरीषहोदये 'मन्दा' जडा अशक्ता 'निपीदन्ति' यथा
पगमक्षमुपयान्ति, दृष्टान्तमाह—मत्स्या अल्पोदके विपीदन्ति, गमनाभावान्मरणमुपयान्ति, एवं सत्त्वाभावात्संयमाद् भ्रश्यन्त इति, इद
मुक्तं भवति—यथा मत्स्या अल्पत्वादुदकस्य ग्रीष्माभितापेन तप्ता अवसीदन्ति, एवमल्पसत्त्वाश्चारित्रप्रतिपत्तावपि जल्लमलक्लेदक्लिन्नगात्रा
बहिरुष्णाभितप्ताः शीतलान् जलाश्रयान् जलधारागृहचन्दनादीनुष्णप्रतिकारहेतूननुस्मरन्तो—व्याकुलितचेतसः संयमानुष्ठानं प्रति विपी
दन्ति ॥५॥ साम्प्रतं याच्ञापरीषहमधिकृत्याह—'सदा दत्ते' इत्यादि, यतीनां 'सदा' सर्वदा दन्तशोधनाद्यपि परेण दत्तम् एषणीयम्—
उत्पादाद्येषणादोषरहितमुपभोक्तव्यमित्यतः क्षुधादिवेदनार्त्तानां यावज्जीवं परदत्तैषणा दुःखं भवति, अपि चैषा 'याच्ञा' याच्ञापरीषहो
दुष्परित्याज्यः परित्यज्य गताभिमाना महासत्त्वा ज्ञानाद्यभिवृद्धये महापुरुषसेवितं पन्थानमनुव्रजन्तीति । श्लोकपश्चार्द्धेनाऽऽक्रो
प्रणयनस्य ॥१॥ गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता । मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ॥२॥" इत्यादि, एवं
प्रायसंदृश्येन 'प्रणोदयं' त्यज्यते, तथा चोक्तम्—"खिज्जइ मुहलावण्णं वाया घोलेइ कण्ठमज्झम्मि । कहकहकहेइ हिययं देहित्ति परं

1 पुष्ठ[illegible] 2 [illegible] 3 [illegible] 4 [illegible] 5 [illegible] 6 [illegible] 7 [illegible] 8 [illegible] 9 [illegible] 10 [illegible] 11 सीतये मुत्सुकपरस्य याच्ञा गिलति (न्यूहति) कण्ठमध्ये । [illegible]

शपरीषहं दर्शयति— पृथग्जनाः प्राकृतपुरुषा अनार्यकल्पा 'इत्येवमाहुः' इत्येवमुक्तवन्तः, तद्यथा—ये एते यतयः जल्लाविलदेहा लुञ्चितशिरसः क्षुधादिवेदनाग्रस्तास्ते एते पूर्वाचरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदिवा—कर्मभिः—कृष्यादिभिरार्त्ताः—तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्नाः सन्तो यतयः संवृत्ता इति, तथैते 'दुर्भगाः' सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामभ्युपगता इति ॥६॥

एते सद्दे अचायंता, गामेसु णगरेसु वा । तत्थ मंदा विसीयंति, संगामंमिव भीरुया ॥७॥

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, सुणी डंसति लूसए । तत्थ मंदा विसीयंति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥८॥

'एते सद्दे' इत्यादि, 'एतान्' पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौरचारिकादिरूपान् शब्दान् सोढुमशक्नुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थिताः 'तत्र' तस्मिन् आक्रोशे सति 'मन्दा' अज्ञा लघुप्रकृतयो 'विषीदन्ति' विमनस्का भवन्ति संयमाद्वा भ्रश्यन्ति, यथा भीरवः 'संग्रामे' रणशिरसि चक्रकुन्तासिशक्तिनाराचाकुले रटत्पटहशङ्खझल्लरीनादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरुषं परित्यज्यायशः पटहमङ्गीकृत्य भज्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादल्पसत्त्वाः संयमे विषीदन्ति ॥७॥ वधपरीषहमधिकृत्याह—'अप्पेगे' इत्यादि, अपिः संभावने, एकः कश्चिच्छ्वादिः लूषयतीति लूषकः प्रकृत्यैव क्रूरो भक्षकः, 'खुधियं'ति क्षुधितं—बुभुक्षितं भिक्षामटन्तं भिक्षुं 'दशति' भक्षयति दशनैरङ्गावयवं विलुम्पति, 'तत्र' तस्मिन् श्वादिभक्षणे सति 'मन्दा' अज्ञा अल्पसत्त्वतया 'विषीदन्ति' दैन्यं भजन्ते, यथा 'तेजसा'

१ °विलमलदेहा° आ । २ क्षुदाधि° इ । ३ सचाइन्ता इ अचाएता आ । ४ °सि आ. इ । ५ °दसो आ । ६ °ग° खुधियं आ °मे खुधियं इ । ७ डसइ आ दसति इ । ८ °उपुट्ठा आ । ९ °न्तीति आ. । मा० १० खुधितं प्र० क्षुधितं पू° । खुधितमनि आ खुधितमपि इ । ११ °सया आ ।

मापना 'स्पृष्टा' दममाना 'प्राणिनो' जनघो वेदनार्ता सन्तो निषीदन्ति—गात्र संकोचयन्त्यार्तध्यानोपहता भवन्ति, एवं साधुरपि [illegible]मिदुन' संयमाद् भ्रश्यत इति, दु:सहत्वाद्ग्रामकण्टकानाम् ॥८॥ पुनरपि सानधिकस्याह—

अप्पेग पडिभासंति, पडिपंथियमागता । पडियारगता एते, जे एते एव जीविणो ॥९॥

अप्पेगे वइ जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाहमा । मुंडा कंडूविणट्ठंगा, उज्जल्ला असमाहिता ॥१०॥

'अप्पेग' इत्यादि, अपि संभावने, 'एके' केचनापुष्टधर्माण'—अपुण्यकर्माणः 'प्रतिभाषन्ते' ब्रुवते, प्रतिपथ —प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति [illegible]—साधुविद्वेषित्वमागता कथञ्चित्प्रतिपथे वा दृष्टा अनार्या एतद् ब्रुवते, सम्भाव्यत एतदेवंविधानां, तद्यथा—प्रती[illegible]—[illegible] जन्मान्तरकृतं गता'—वयमाः स्वकृतकर्मफलभोगिनो 'य एते' यतयः 'एवजीविन' इति परगृहाण्यटन्ति अतो[illegible]लाभान्तरायोदयात् परित्यक्तभोगा दुःखितं जीवन्तीति ॥९॥ किञ्च—'अप्पेगे' इत्यादि, अप्येके केचन कुसृति[illegible] वाचं प्रयुञ्जन्ति—भाषन्ते, तद्यथा—एते जिनकल्पिकादयो नग्नास्तथा 'पिंडोलगा' त्ति परपिण्डप्रार्थका अधमाः—मलाविल[illegible] मलग्रस्तादिनत्वात्', तथा—कण्डूकर्षणकथनं रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गा—विकृतशरीराः, अप्रतिकर्मशरीरतया वा कचि[illegible] जल्लो शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः, तथा 'असमाहिता' अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible] ५ प्रति [illegible] ६ भिभिणो [illegible] ७ [illegible] ८ [illegible] ९ [illegible]

[illegible] ११ पभिखा

प्राणेनामसमाधिमुत्पादयन्तीति ॥१०॥ साम्प्रतमेतद्वापकाणां विपाकदर्शनायाह—

एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया । तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ॥११॥

पुट्ठो य दंसमसएहिं, तणफासमचाइया । न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥१२॥

'एवं' इत्यादि, 'एवम्' अनन्तरोक्तनीत्या 'एके' अपुण्यकर्माणो 'विप्रतिपन्नाः' साधुमन्मार्गद्वेषिणः 'आत्मना' स्वयमज्ञाः, तुशब्दादन्येषां च विवेकिनां वचनमकुर्वाणाः सन्तस्ते 'तमसः' अज्ञानरूपादुत्कृष्टं तमो 'यान्ति' गच्छन्ति, यदिवा—अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति, यतो 'मन्दा' ज्ञानावरणीयेनावष्टब्धाः तथा 'मोहेन' मिथ्यादर्शनरूपेण 'प्रावृता' आच्छादिताः सन्तः खिङ्गप्रायाः साधुविद्वेषितया कुमार्गगा भवन्ति, तथा चोक्तम्—"एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम् । एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? ॥१॥" ॥११॥ दंशमशकपरीषहमधिकृत्याह—'पुट्ठो य' इत्यादि, क्वचित्सिन्धुताम्रलिप्तकोङ्कणादिके देशे अधिका दंशमशका भवन्ति, तत्र च कदाचित्साधुः पर्यटंस्तैः 'स्पृष्टश्च' भक्षितः, तथा निष्किञ्चनत्वात् तृणेषु शयानस्तत्स्पर्शं सोढुमशक्नुवन् आर्त्तः सन् एवं कदाचिच्चिन्तयेत्; तद्यथा—परलोकार्थमेतद्दुष्करमनुष्ठानं क्रियमाणं घटते, न चासौ मया परलोकः प्रत्यक्षेणोपलब्धः, अप्रत्यक्षत्वात्, नाप्यनुमानादिनोपलभ्यत इति, अतो यदि परं ममानेन क्लेशाभितापेन मरणं स्यात्, नान्यत्फलं किञ्चनेति ॥१२॥ अपिच—

१ तु आ. । २ °णगा आ । ३ ण इ । ४ सिता आ. । ५ °मज्ञानरू आ. °गन्या इ । ६ पि° आ. । ७ °स्यापिमा° आ इ. । ८ °कादिष° आ इ. । ९ °मलप्ति° इ °मलिप्ति° आ । १० घटेत आ इ. । ११ °त्वाच्च आ. इ । १२ इत्यर्थ इ । १३ °घातेन आ. ।

सतत्ता केसलोएण, बंभचेरपराइया । तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा व केयणे[1] ॥१३॥

आयदंडसमायारे, मिच्छासंठियभावणा । हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥१४॥

'संतत्ता' इत्यादि, समन्तात् तप्ताः सन्तप्ताः केशानां 'लोच' उत्पाटनं तेन, तथाहि—सरुधिरकेशोत्पाटने हि महती पीडोपपद्यते, तया सन्तप्ता निर्विण्णा भवन्ति, तथा 'ब्रह्मचर्ये' बस्तिनिरोधस्तेन च 'पराजिताः' पराभग्नाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् केशोत्पाटने ब्रह्मचर्ये वा मति 'मन्दा' जडा—लघुप्रकृतयो विषीदन्ति संयमानुष्ठानं प्रति शीतलीभवन्ति, सर्वथा संयमाद् वा भ्रश्यन्ति, यथा मत्स्याः 'केतने' मत्स्यबन्धने प्रविष्टा निर्गतिकाः सन्तो जीविताद् भ्रश्यन्ति, एवं तेऽपि वराकाः सर्वकषकर्मपराजिताः संयमजीवितात् भ्रश्यन्ति ॥१३॥ किञ्च—'आयदंड' इत्यादि, आत्मा दण्ड्यते—खण्ड्यते हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डः 'समाचारः' अनुष्ठानं येषां ते तथा, तथा मिथ्या—विपरीता संस्थिता—व्यवस्थिता भावना—अन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते मिथ्यासंस्थितभावना—मिथ्यात्वोपहता इत्यर्थः, हर्षश्च प्रद्वेषश्च हर्षप्रद्वेषं तदापन्ना रागद्वेषसमाकुला इतियावत्, ते एवम्भूता अनार्याः सदाचारं साधुं क्रीडया दर्पेण वा दूरस्थमेवतिन्नाद् 'लूषयन्ति' कदर्थयन्ति दण्डादिभिस्ताडयन्तीति ॥१४॥ एतदेव दर्शयितुमाह—

[illegible]

अप्पेगे पलियंते सिं, चौरो चौरोत्ति सुव्वयं । बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥१५॥

तत्थ [6]दंडेण[7] संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा । नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

एते भो! कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया । हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवा वस गया गिहं ॥१७॥

[1]तिबेमि ॥ [12]इति तृतीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ (गाथाग्रं० १९१)

'अप्पेगे'इत्यादि, अपिः संभावने, एके अनार्या आत्मदण्डसमाचारा मिथ्यात्वोपहतबुद्धयो रागद्वेषपरिगताः साधुं 'पलियंते'[3]सिं' ति अनार्यदेशपर्यन्ते वर्तमानं 'चौरो'त्ति चरोऽयं, 'चौरः' अयं स्तेन इत्येवं मत्वा सुव्रतं कदर्थयन्ति, तथाहि-'बध्नन्ति' रज्ज्वादिना संयमयन्ति 'भिक्षुकं' भिक्षणशीलं 'बाला' अज्ञाः सदसद्विवेकविकलाः तथा 'कषायवचनैश्च' क्रोधप्रधानकटुकवचनैर्निर्भर्त्सयन्तीति ॥१५॥ अपिच-'तत्र' तस्मिन्ननार्यदेशपर्यन्ते वर्त्तमानः साधुरनार्यैः 'दण्डेन' यष्टिना मुष्टिना वा 'संवीतः' प्रहतोऽथवा 'फलेन वा' मातुलिङ्गादिना[15] खड्गादिना वा स साधुरेवं तैः कदर्थ्यमानः कश्चिदपरिणतः 'बालः' अज्ञो 'ज्ञातीनां' स्वजनानां स्मरति, तद्यथा-यदत्र मम कश्चित् सम्बन्धी स्यात् नाहमेवम्भूतां कदर्थनामवाप्नुयामिति, दृष्टान्तमाह-यथा स्त्री क्रुद्धा सती स्वगृहात् गमनशीला निराश्रया मांसपेशीव

१ °ततसि आ यंतसि इ । सा २ येषा परस्परविरोध चू०। ३ चारि आ इ. । ४ चोरेत्ति आ । ५ °व्वते आ. °व्वय इ. । सा ६ खीलो दडपहारो वा। ७ दंडेहिं इ । सा. ८ चवेडा । ९ सरए आ । १० °सवीता आ °संवीया इ । ११ तित्तिबेमि आ. इ । १२ पढमो आ. तृतीयस्य प्रथमोद्देशकः इ. । १३ °तंसित्ति आ. इ । १४ चारि चोरित्ति आ. चारियति इ । १५ बालवद्बाला आ ई. । १६ °नाXXXX इ । १७ स्मरेत् आ. ।

सपससमीपा हस्करादिभिरभिद्रुता सती आतपभावापा भ्रातीनां स्मराति प्रथमसावपीति ॥१६॥ उपसंहारार्थमाह—'एए भो !' इत्यादि, भो इति शिष्यामन्त्रणं, य एव आदित प्रभृति दंशमशकादयः पीडोत्पादकत्वेन परीषहा प्रयोपसर्गा अभिहिताः 'कत्स्ना' संपूर्णा दुःसहाः सन्ते–सर्वेन्द्रियगात्रानुभूयन्त इति स्पर्शा, कथम्भूता ? 'परुषाः' परुषैरनार्यैः कृतत्वात् पीडाकारिणः, ते चाल्पसत्त्वैः सेनाभिसंहन्ते सोढुमसमाना रथमुखकस्य केचनाभाग्यभाजकस्य हस्तिन इव रणशिरसि 'भग्नालम्बनीवा' सम्यक्ताङ्कुशा भग्नपानि एवं 'क्लीबा' असमर्था 'अवशाः' परवशाः कर्मायत्ता गुरुकर्माणः पुनरपि गृहमेव गता, पाठान्तरे वा 'विन्नसन्नु'त्ति तीव्रैरुपसर्गैरभिद्रुता 'शठा' शठानुष्ठाना संयमं परित्यज्य गृहं गताः, इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१७॥ उपसर्गपरिज्ञायाः प्रथमोद्देशक इति ॥

■ ■ ■ ■ ■

अथ तृतीयाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः प्रारभ्यते ।

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपिपादयिषिताः, ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च, तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिताः, इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा। जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥१॥

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया। पोस णे ताय! पुट्ठोऽसि, कस्स ताय! जहासि णे? ॥२॥

'अहिमे' इत्यादि, 'अथ' इति आनन्तर्ये, प्रतिकूलोपसर्गान्तरमनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यानन्तर्यार्थः, ते 'इमे' अनन्तरमेवाभिधीयमानाः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमाऽभिधीयन्ते, ते च 'सूक्ष्माः' प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तराः, न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति, 'सङ्गाः' मातापित्रादिसम्बन्धाः ये एते 'भिक्षूणां' साधूनामपि 'दुरुत्तराः' दुर्लङ्घ्या–दुरतिक्रमणीया इति, प्रायो जीवितविघ्नकरैरपि प्रतिकूलोपसर्गैरुदीर्णैर्माध्यस्थ्यमवलम्बयितुं महापुरुषैः शक्यम्, एते त्वनुकूलोपसर्गास्तानप्युपायेन धर्मात् च्यावयन्ति, ततोऽमी दुरुत्तरा इति, 'यत्र' येषूपसर्गेषु सत्सु 'एके' अल्पसत्त्वाः सदनुष्ठानं प्रति 'विषीदन्ति' शीतलविहारित्वं भजन्ते सर्वथा वा–संयमं त्यजन्ति, नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन 'यापयितुं'–वर्तयितुं तस्मिन् वा व्यवस्थापयितुं 'शक्नुवन्ति' समर्था भवन्तीति ॥१॥ तानेव सूक्ष्मसङ्गान् दर्शयितुमाह–'अप्पेगे' इत्यादि, 'अपिः' संभावने 'एके' तथाविधा 'ज्ञातयः' स्वजना मातापित्रादयः प्रव्रजन्तं प्रव्रजितं वा 'दृष्ट्वा' उपलभ्य 'परिवार्य' वेष्टयित्वा रुदन्ति रुदन्तो वदन्ति च दीनं, यथा–बाल्यात् प्रभृति त्वमस्माभिः पोषितो वृद्धानां पालको भविष्यतीतिकृत्वा, ततोऽधुना 'नः' अस्मानपि त्वं 'तात!' पुत्र 'पोषय' पालय, कस्य कृते–केन कारणेन कस्य वा बलेन तातास्मान् त्यजसि?, नास्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित्राता विद्यत इति ॥२॥ किञ्च—

---

१ जवित्तए इ। २ नायया दिस्स आ णायओ दिस्सा इ.। ३ चयासि आ. इ। ४ अहमे॰ आ इ। सा. ५ यत प्र०-१ ६ धर्मं घ्यावयन्ति आ धर्मात् धावयति इ.। ७ ॰सीति आ.। ८ णे आ.इ।

पिया ते थेरओ तात!, ससा ते खुड्डिया इमा। भायरो ते सगा तात!, सोयरा किं जहासि णे? ॥३॥
मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति। एवं खु लोइयं ताय!, जे पालेंति य मायरं ॥४॥

'पिया'इत्यादि, हे 'तात!' पुत्र! पिता 'ते' तव 'स्थविरो' वृद्धः धर्मातीकः 'ससा' च भगिनी तव 'क्षुल्लिका' लघ्वी अप्राप्तयौवना 'इमा' पुरोवर्तिनी प्रत्यक्षेति, तथा भ्रातरः 'ते' तव 'स्वकाः' निजास्तात! 'सोदरा' एकोदरा' किमित्यस्मान् परित्यजसीति ॥३॥ तथा 'मायरमि'त्यादि, 'मातरं' जननीं तथा 'पितरं' जनयितारं 'पुषाण' बिभृहि, एवं च कृते तवेहलोकः परलोकश्च भविष्यति, तावदेव 'लौकिकं' लोकधर्मम्, अयमेव लौकिकः पन्था यदुत—वृद्धयोर्मातापित्रोः प्रतिपालनमिति, तथा चोक्तम्—"गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम्। अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र! वसाम्यहम् ॥१॥" इति ॥४॥ अपिच—

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात! खुड्डया। भारिया ते णवा तात!, मा सा अन्नं जणं गमे ॥५॥
एहि ताय! घरं जामो, मा य कम्मे सहा वयं। बितियंपि ताय! पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥६॥

'उत्तरा'इत्यादि, 'उत्तराः' प्रधाना उत्तरोत्तरास्ता वा मधुरो—मनोज्ञ उल्लापः—आलापो येषां ते तथाविधाः पुत्राः 'ते' तव 'तात'

१ न [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible] ५ [illegible] ६ [illegible] ७ [illegible] ८ [illegible] ९ [illegible] १० [illegible] ११ [illegible] १२ [illegible] १३ [illegible] १४ [illegible] १५ [illegible] १६ [illegible] १७ [illegible] १८ [illegible]

पुत्र ! 'क्षुल्लका' लघवः तथा 'भार्या' पत्नी ते 'नवा' प्रत्यग्रयौवना अभिनवोढा वा मा असौ त्वया परित्यक्ता सती अन्यं जनं गच्छेत्–उन्मार्गयायिनी स्याद्, अयं च महान् जनापवाद इति ॥५॥ अपिच–'एहि' इत्यादि, जानीमो वयं यथा त्वं कर्मभीरुस्तथापि 'एहि' आगच्छ गृहं 'यामो' गच्छामः। मा त्वं किमपि साम्प्रतं कर्म कृथाः, अपितु तव कर्मण्युपस्थिते वयं सहायका भविष्यामः–साहाय्यं करिष्यामः। एकवारं तावद्गृहकर्मभिर्भग्नस्त्वं तात ! पुनरपि द्वितीयं वारं 'पश्यामो' द्रक्ष्यामो यदस्माभिः सहायैर्भवतो भविष्यतीत्यतो 'यामो' गच्छामः तावत् स्वकं गृहं कुर्वेतदस्मद्वचनमिति ॥६॥ किञ्च–

गंतुं ताय ! पुणो गच्छे, ण[2] तेणासमणो सिया। अकामगं परिक्कम्मं[3], को ते वारेउमरिहति? ॥७॥
जं किंचि अणगं तात !, तंपि सव्वं समीकतं[5]। हिरण्णं ववहाराइ[6], तंपि दाहामु[7] ते वयं ॥८॥

'गन्तुं' इत्यादि, 'तात' पुत्र ! गत्वा गृहं स्वजनवर्गं दृष्ट्वा पुनरागन्ताऽसि, नच 'तेन' एतावता गृहगमनमात्रेण त्वमश्रमणो भविष्यसि, 'अकामगं'ति अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं 'पराक्रमन्तं' स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कः 'त्वा' भवन्तं 'वारयितुं' निषेधयितुम् 'अर्हति' योग्यो भवति, यदिवा–'अकामगं'ति वार्द्धकावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरप्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तं धारयितुमर्हतीति ॥७॥ अन्यच्च–'जं किंचि' इत्यादि, 'तात' पुत्र ! यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य 'समीकृतं' समभागेन व्यवस्थापितं, यदिवोत्कटं सत्[11] समीकृतं–सुदेयत्वेन व्यवस्थापितं, यच्च 'हिरण्यं' द्रव्यजातं

---

१ °कर्मसाम्प्रत° आ. इ.। २ न तेण आ. ण याय तेण° इ.। ३ परकम आ इ.। सा. ४ उत्तारितं चू०। ५ समीगत आ समागय इ। ६ °हाराती आ. हाराई इ। ७ दासासु आ. दासासु इ.। ८ आ° आ। ९ अनिच्छे आ. अनिच्छन् इ। १० वार्द्ध° आ इ.। ११ XX आ. तत् इ.।

...पूयते, आदिशब्दात् अन्यन वा प्रकारेण भोगोपयोगं यास्यति तदपि वयं दास्याम', निर्धनोऽयमिति मा कृथा मय-
मिति ॥८॥ उपसंहारार्थमाह—

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणीयसमुट्ठिया । विबद्धो नाइसंगेहिं, ततोऽगारं पहावइ ॥९॥

जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधई । एवं णं पडिबंधंति णातओ असमाहिणा ॥१०॥

'इच्चेव णं' इत्यादि, णमिति वाक्यालङ्कारे 'इत्येवं' पूर्वोक्तया नीत्या मातापित्रादयः कारुणिकैर्वचोभिः करुणामुत्पादयन्तः स्वयं वा कारुण्यमुपगता 'णं' प्रव्रजितं प्रव्रजन्तं वा 'सुसेहंति'त्ति सुष्ठु शिक्षयन्ति व्युद्ग्राहयन्ति, स चापरिणतधर्मोऽल्पसत्त्वो गुरुकर्मा ज्ञातिसं-बद्धो-ज्ञातिभिः पुत्रकलत्रादिमोहितो मतः 'अगारं' गृहं प्रति धावति-प्रव्रज्यां परित्यज्य गृहपाशमनुबध्नातीति ॥९॥ किञ्चान्यत्—'जहा रुक्खं' इत्यादि, यथा वृक्षं 'वने' अटव्यां 'जातम्' उत्पन्नं 'मालुया' वल्ली 'प्रतिबध्नाति' वेष्टयत्येवं 'णं' इति वाक्यालङ्कारे 'ज्ञातयः' स्वजनाः 'तं' यतिं असमाधिना प्रतिबध्नन्ति, ते तत्कुर्वन्ति येनास्यासमाधिरुत्पद्यत इति, तथा चोक्तम्—"अमित्तो मित्तवेसेण, कंठे घेत्तूण रोयइ । मा मित्ता ! सोग्गई जाहि, दोवि गच्छामु दुग्गई ॥१॥" ॥१०॥ अपिच—

१ [illegible] ॥ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible] । ९ [illegible] मित्र ! सुगतीर्मा [illegible] दुर्गतिम् [illegible] । १० [illegible] । ११ [illegible] ।

ति साध्वाचारेण जीवितुं शीलमस्येति (साधुजावा तं) साधुजीविनमिति, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्रसाधुरुपनिमन्त्रित इति। एवमन्येऽपि केनचित्सम्बन्धेन व्यवस्थिता यौवनरूपादिगुणोपेतं साधुं विषयोद्देशेनोपनिमन्त्रयेयुरिति ॥१५॥ एतदेव दर्शयितुमाह–'हत्थऽस्सरह'इत्यादि, हस्त्यश्वरथयानैः तथा 'विहारगमनैः' विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनानि विहारगमनानि–उद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः, चशब्दादन्यैश्चेन्द्रियानुकूलैर्विषयैरुपनिमन्त्रयेयुः, तद्यथा–भुङ्क्ष्व 'भोगान्' शब्दादिविषयान् 'इमान्' असाभिर्ढौकितान् प्रत्यक्षासन्नान् 'श्लाघ्यान्' प्रशस्तान् अनिन्द्यान् 'महर्षे' साधो! वयं विषयोपकरणढौकनेन 'त्वां' भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥१६॥ किञ्चान्यत्—

भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो! पूजयामु तं ॥१७॥

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।

जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावंमि सुव्वया!। अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा ॥१८॥

'वत्थगंध' इत्यादि, 'वस्त्रं' चीनांशुकादि 'गन्धाः' कोष्ठपुटपाकादयः, वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धमिति समाहारद्वन्द्वः, तथा 'अलङ्कारम्' कटककेयूरादिकं तथा 'स्त्रियः' प्रत्यग्रयौवनाः 'शयनानि च' पर्यङ्कतूलीप्रच्छदपटोपधानयुक्तानि, इमान् भोगानिन्द्रियमनोऽनुकूलानस्माभिर्ढौकितान् 'भुङ्क्ष्व' तदुपभोगेन सफलीकुरु, हे आयुष्मन्! भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥१७॥ अपिच–'जो तुमे' इत्यादि, यस्त्वया पूर्वं 'भिक्षुभावे' प्रव्रज्यावसरे 'नियमो' महाव्रतादिरूपः 'चीर्णः' अनुष्ठितः इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमगतेन हे सुव्रत! स साम्प्रतमपि 'अगारं' गृहम् 'आवसतः' गृहस्थभावं सम्यगनुपालयतो भवतस्तथैव विद्यत इति, न हि सुकृतदुष्कृतस्यानु-

१ °मु ते आ. सु त इ। २ आगार° आ. इ.। ३ सफलान् कुरु आ.। ४ °पशमोपगतेन आ. इ.।

ते च इत्यादि', 'ते च' प्रातिमत्र समारभेत मिक्षुर्ज्ञपरिज्ञया (ज्ञात्वा) प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। किमिति?, यतः 'सर्वेऽपि' ते केचन महान्ते 'महाश्रवा' महान्ति कर्मण आश्रवद्वाराणि वर्तन्ते। ततोऽनुकूलैरुपसर्गैरुपस्थितैरसंयमजीवितं-गृहावासपाशं 'नामि' नमित्यर्थं, प्रतिकूलैरुपसर्गैः सन्निर्मीमितामिलाषी न भवेत्, असमञ्जसकारित्वेन भवजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्। किं कृत्वा?– 'पुग्गा' निनम्यागम्य, किम्?-'धम' श्रुतचारित्राख्यं, नास्योपरोऽस्तीत्यनुत्तरं-प्रधानं मौनीन्द्रमित्यर्थः ॥१३॥ अन्यच्च-'अहिमे' इत्यादि,'अथ' त्वधिगतस्य स्वनाय', पाठान्तरं वा 'अहो' इति, तच विस्मये, 'इमे' इति एते प्रत्यक्षासन्ना' सर्वजनविदितत्वात् 'सन्ति' विद्यन्ते वर्तमाना आवर्तयन्ति-प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्ताः, तत्र द्रव्यावर्ता नद्यादेः भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाष-संपादकास्तत्प्रार्थनाविशेषा', एत भावना 'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिना उत्पन्नदिव्यज्ञानेन 'आ(प्र)वेदिता' कथिताः वीरा दृश्यन्ते, 'यत्र' यत्र मन्तु 'बुद्धा' अवगततत्त्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तस्मा' 'अपसर्पन्ति' अप्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्ति, अबु-धास्तु निर्विवेकतया सक्तमनस्काः-आसक्तिं कुर्वन्तीति ॥१४॥ तानेवावर्तान् दर्शयितुमाह—

रायाणो रायऽमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया। निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खूयं साहुजीविणं ॥१५॥

हत्थऽस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेहि य। भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी! पूजयामु तं ॥१६॥

'रायाणो' इत्यादि 'राजानः' चक्रवर्त्यादयो 'राजामात्याश्च' मन्त्रीपुरोहितप्रभृतयः तथा ब्राह्मणा अथवा 'क्षत्रिया' इक्ष्वाकुवंशजप्रभृतयः 'निमन्त्रयन्ति' भोगोपभोगं प्रत्यभ्युपगमं कारयन्ति, कम्?–भिक्षुकं 'साधुजीविणमि'

१ 'इह पीतम' [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible]

पौर्णस्य नागोऽस्तीति भावः ॥१८॥ किञ्च—

चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव?। इच्चेव णं निमंतेंति, नीवारेण व सूयरं ॥१९॥

चोइया भिक्खचरियाए, अचयंता जवित्तए। तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥२०॥

'चिरं' इत्यादि, 'चिरं' प्रभूतं कालं संयमानुष्ठानेन 'दूइज्जमाणस्स'त्ति विहरतः सतः 'इदानीं' साम्प्रतं दोषः कुतस्तव?, नैवास्तीति भावः, एवं हस्त्यश्वरथादिभिर्वस्त्रगन्धालङ्कारादिभिश्च नानाविधैरुपभोगोपकरणैः करणभूतैः 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे 'तं' भिक्षुं साधुजीविनं 'निमन्त्रयन्ति' भोगबुद्धिं कारयन्ति, दृष्टान्तं दर्शयति—यथा 'नीवारेण' व्रीहिविशेषकणदानेन 'सूकरं' वराहं कूटके प्रवेशयन्ति एवं त्वमपि साधुमिति ॥१९॥ अनन्तरोपन्यस्तवाक्योपसंहारार्थमाह—'चोइया' इत्यादि, भिक्षूणां—साधूनामुद्युक्तविहारिणां चर्या—दशविधचक्रवालसामाचारी इच्छामिच्छेत्यादिका तया चोदिता—प्रेरिता यदिवा भिक्षुचर्यया करणभूतया सीदन्तश्चोदिताः—तत्करणं प्रत्याचार्यादिकैः पौनःपुन्येन प्रेरितास्तच्चोदनामशक्नुवन्तः संयमानुष्ठानेनात्मानं 'यापयितुं' वर्तयितुमसमर्थाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् संयमे मोक्षगमनैकहेतौ भवकोटिदुर्लभे 'मन्दा' जडा 'विषीदन्ति' शीतलविहारिणो भवन्ति, तमेवाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पं महापुरुषानुचीर्णं संयमं परित्यजन्ति, दृष्टान्तमाह—ऊर्ध्वं यानमुद्यानं—मार्गस्योन्नतो भाग उट्टङ्कमित्यर्थः, तस्मिन् उद्यानशिरसि उद्वहनसमर्था अमरा उक्षाणो ऽतिदुर्बला यथाऽवसीदन्ति—ग्रीवां पातयित्वा तिष्ठन्ति नोत्थितभरनिर्वाहका भवन्तीत्येवं तेऽपि भावमन्दा उत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारं वोढु

१ एवं खा. । २ [illegible] खा. । ३ भिक्खु [illegible] खा. पु. । ४ [illegible] पु. । ५ 'णि मोणं' खा. । ६ [illegible] खा. पु. । चू. ७ [illegible] पु. । ८ [illegible] खा. पु. । ९ [illegible] खा. पु. । १० [illegible] पु.

मसमर्थाः पूर्वोक्तभावावर्तैः पराभग्ना विषीदन्ति ॥२०॥ किञ्च—

अचयंता व लूहेणं, उवहाणेण तज्जिया। तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥२१॥

एवं निमंतणं लद्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु। अज्झोववन्ना कामेहिं, चोइज्जंता गया गिहं ॥२२॥

तिबेमि ॥ इति उवसग्गपरिण्णाए बितिओ उद्देसो सम्मत्तो ॥ ३–२ ॥ (गाथाग्रं० २१३)

'अचयंता'इत्यादि, 'रूक्षेण' संयमेनात्मानं यापयितुमशक्नुवन्तः तथा 'उपधानेन' अनशनादिना सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा 'तर्जिता' बाधिताः सन्तः, तत्र संयमे मन्दा विषीदन्ति 'उद्यानशिरसि' उड्डङ्कमस्तके "जीर्णो' दुर्बलो गौरिव, यूनोऽपि हि तत्रावसीदनं सम्भाव्यते किं पुनर्जरद्गवस्येति जीर्णग्रहणम्, एवमावर्तमन्तरेणापि धृतिसंहननोपेतस्य विवेकिनोऽप्यवसीदनं सम्भाव्यते, किं पुनरावर्तैरुपसर्गितानां मन्दानामिति ॥२१॥ सर्वोपसंहारमाह—'एवं'इत्यादि, 'एवं' पूर्वोक्तया नीत्या विषयोपभोगोपकरणदानपूर्वकं 'निमन्त्रणं' विषयोपभोगं प्रति प्रार्थनं 'लब्ध्वा' प्राप्य 'तेषु' विषयोपकरणेषु हस्त्यश्वरथादिषु 'मूर्च्छिता' अत्यन्तासक्ताः तथा स्त्रीषु 'गृद्धा' दत्तावधाना रमणीराग-मोहिताः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'अध्युपपन्नाः' कामगतचित्ताः संयमेऽवसीदन्तोऽपरेणोद्युक्तविहारिणा नोद्यमानाः—संयमं प्रति प्रोत्साह्यमाना नोदनां सोढुमशक्नुवन्तः सन्तो गुरुकर्माणः प्रव्रज्यां परित्यज्याल्पसत्त्वा गृहं गता—गृहस्थीभूताः। इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति उपसर्गपरिज्ञाऽध्ययनस्य द्वितीय उद्देशः ॥

१ वियद्दति आ। २ सिरसि वि° आ। सा. ३ °तण प्र.। ४ गिद्ध गयत्तिति आ। ५ जीणदु० आ इ.। ६ चोय० आ इ.। ७ चोदना आ. इ.। ८ ·XX उ० आ.। ९ °ज्ञाया द्वितीयोद्देशकः समाप्तः आ. °ज्ञाया द्वितीयोद्देशक इ.।

अथ तृतीयस्योपसर्गाध्ययनस्य तृतीयोद्देशक प्रारभ्यते।

उक्तस्तद्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशकाभ्यामुपसर्गा अनुकूलप्रतिकूलभेदेनाभिहिता, तैश्चाध्यात्मविषीदनं भवतीति तदनेन प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्—

जहा संगामकालम्मि, पिट्ठतो भीरु वेहइ। वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं? ॥१॥

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स मुहुत्तो होइ तारिसो। पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरू उवेहई ॥२॥

यथेत्यादि: दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भवतीत्यत आदावेव दृष्टान्तमाह—यथा कश्चिद् 'भीरुः' अकृतकरणः 'संग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे समुपस्थिते 'पृष्ठतः प्रेक्षते' आदावेवापत्प्रतीकारहेतुभूतं दुर्गादिकं स्थानमवलोकयति। तदेव दर्शयति—'वलयं' यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम् उदकरहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशा, तथा 'गहनं' धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीयं 'णूमं' प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकं, किमित्यसावेवमवलोकयति?, यत एवं मन्यते—तैरेवम्भूते तुमुले संग्रामे सुभटसंकुले को जानाति कस्य पराजयो भविष्यतीति?, यतो दैवायत्ताः कार्यसिद्धयः, स्तोकैरपि बहवो जीयन्त इति ॥१॥ किञ्च—'मुहुत्ताणं' इत्यादि, मुहूर्ता-

[illegible]

नामैकस्य वा मुहूर्तस्यापरो 'मुहूर्तः' कालविशेषलक्षणोऽवसरस्तादृग् भवति, यत्र जयः पराजयो वा सम्भाव्यते, तत्रैवं व्यवस्थिते पर जिता वयम् 'अवसर्पामो' नश्याम इत्येतदपि सम्भाव्यते अस्माद्विधानामिति भीरुः पृष्ठत आपत्प्रतीकारार्थं शरणमुपेक्षते ॥२॥ इ श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

[2]एवं तु समणा एगे, [3]अबलं नच्चाण अप्पगं। अणागयं भयं दिस्स, [4]अविकप्पंतिमं सुयं ॥३॥

को जाणइ [5]विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा। चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पियं ॥४॥

'एवं तु' इत्यादि, 'एवम्' इति यथा सङ्ग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्टतोऽवलोकयति—किमत्र मम पराभग्नस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति ?, एवमेव 'श्रमणाः' प्रव्रजिता 'एके' केचनादृढमतयोऽल्पसत्त्वा आत्मानम् 'अबलं' यावज्जीवं संयमभारवहनाक्षमं ज्ञात्वा अनागतमेव भयं 'दृष्ट्वा' उत्प्रेक्ष्य तद्यथा—निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानाद्यवस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभयमुत्प्रेक्ष्य 'अवकल्पयन्ति' परिकल्पयन्ति मन्यन्ते—इदं व्याकरणं, गणितं, जोतिष्कं, वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं ममावमादौ त्राणाय स्यादिति ॥३॥ एतच्चैतेऽवकल्पयन्तीत्याह—'को जाणइ' इत्यादि, अल्पसत्त्वाः प्राणिनो विचित्रा च कर्मणां गतिः बहूनि प्रमादस्थानानि विद्यन्ते अतः 'को जानाति ?' कः परिच्छिनत्ति 'व्यापातं' संयमजीविताद् भ्रंशं, केन पराजितस्य मम संयमाद् भ्रंशः स्यादिति, किम् 'स्त्रीतः' स्त्रीपरिषहात् उत 'उदकात्' स्नानाद्यर्थमुदकासेवनाभिलाषाद् ?, इत्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न 'नः'

---

१ सा युद्धविषयत्वात् मायोपेक्षेन्द्रजालानि क्षुद्रोपाया इमे त्रय इति श्रीहेमचन्द्रवचनादत्र क्षुद्रोपायपर उपेक्षि । २ एय आ. । ३ अकर आ. । सा. ४ अवकप्पतीति टीका । अव° आ इ. । सा. ५ वियवात इति टीकाकृदभिप्रायः । ६ धूतयो° आ. इ । ७ XXXXXX म° आ । ८ ज्योतिप आ ज्योतिष्क इ. ।

न्नाक किञ्चन प्रघार । पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति यदस्मामवसायामुपयोग यास्यति, अतः 'चोद्यमाना' परेण पृच्छयमाना इस्ति-निमापनुसेदादिक इटिलेविप्लादिकं वा 'प्रवक्ष्याम' कथयिष्याम प्रयोक्ष्याम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः सम्प्रधार्य व्याकरणादौ श्रुते प्रपतन्त इति, न च तथापि मन्दभाग्यानाममिप्रेतार्थावाप्तिर्भवतीति, तथा चोक्तम्–"उपक्षमफलाद्विद्याबीजात्फल धनमिच्छतां, भवति विफलो यद्यायामस्तत्र किमद्भुतम् ? । न नियतफला कर्तुर्भावाः फलान्तरमीशते, जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरम् ॥१॥" इति ॥४॥ उपसंहारार्थमाह—

इच्चेव पडिलेहंति, वलया पडिलेहिणो । वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥५॥

जे उ संगामकालंमि, नाया सूरपुरंगमा । णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ? ॥६॥

'इत्थ' इत्यादि, 'इत्यव'मिति पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः, यथा भीरवः संग्रामं प्रविविक्षवो वलयादिकं प्रति उपेक्षिणो भवन्तीति, एवं प्रव्रजिता मन्दभाग्यतया अल्पसत्त्वा आजीविकाभयाद्व्याकरणादिकं जीवनोपायत्वेन 'प्रत्युपेक्षन्ते' परिकल्पयन्ति, किम्भूताः ? विचिकित्सा-चित्तविप्लुति-क्रिमेनं संयमभारमुत्क्षिप्तमन्तं नेतुं वयं समर्थाः, उत नेतीत्येवम्भूता, तथा चोक्तम्–"लुक्खमणुण्हम निययं अत्थमद्दसमोपम विरसं । भूमीसयणं लोओ असिणाणं बंभचेरं च ॥ १ ॥" तां समापन्ना–समागताः, यथा पन्थानं प्रति 'अकोविदा' अनिपुणाः, किमयं पन्था विवक्षितं भूभागं यास्यत्युत नेतीत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि संयमभारवहनं

म० १ दुष्करमार्गान् दुरध्वतिक्रमादि । दुष्करकरणादि आ० । १ XXXXX प्र० आ० । २ च आ० । पा० ४ पर्व मा म । पर्व मा० वा १ । ५ XXX ब० १ । ६ तत्र म इत्येवं ६ । ७ समरा आ० १ । ८ म ते पुढे पवे आ० म ते पिट्ठओ ६० । पा० २ संयमानुष्ठानमिप्रेतं ग्रन्थान्तरं नीसर्व विरसम् । भूमिसयणं लोओ असिणाणं बंभचेरं च ॥१॥

प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं जीविकार्थं प्रत्युपेक्षन्त इति ॥५॥ साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह—'जे उ संगाम' इत्यादि, ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः 'सङ्ग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे 'ज्ञाताः' लोकविदिताः, कथम् ?—'शूरपुरङ्गमाः' शूराणामग्रगामिनो युद्धावसरे सैन्याग्रस्कन्धवर्तिन इति, त एवम्भूताः सङ्ग्रामं प्रविशन्तो 'न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते' न दुर्गादिकमापत्त्राणाय पर्यालोचयन्ति, ते चाभङ्गकृतबुद्धयः, अपि त्वेवं मन्यन्ते—किमपरमत्रास्माकं भविष्यति ?, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतं यशःप्रवाहमिच्छतामस्माकं स्तोकं वर्तत इति, तथा चोक्तम्—"विशरारुभिरविनश्वरमपि चपलैः स्थास्नु वाञ्छतां विशदम्। प्राणैर्यदि शूराणां भवति यशः किं न पर्याप्तम् ? ॥१॥" ॥६॥ तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं। आरंभं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

तमेगे परिभासंति, भिक्खूयं साहुजीविणं। जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए ॥८॥

'एवं' इत्यादि, यथा सुभटा ज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च तथा सन्नद्धबद्धपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिभटसमितिभेदिनो न पृष्ठतोऽवलोकयन्ति, एवं 'भिक्षुरपि' साधुरपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रियकषायादिकमरिवर्गं जेतुं सम्यक्—संयमोत्थानेनोत्थितः समुत्थितः, तथा चोक्तम्—"कोहं माणं च मायं च, लोहं पंचिंदियाणि य। दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥१॥" किं कृत्वा समुत्थित इति दर्शयति—'व्युत्सृज्य' त्यक्त्वा 'अगारबन्धनं' गृहपाशं तथा 'आरम्भं' सावद्यानुष्ठानरूपं 'तिर्यक्कृत्वा'

१ वोसिज्जा आ इ। २ अध्यात्मनिषीदनार्थोऽधिकारो गत ।छा इ। ३ तेउ आ इ। ४ करा° आ.। ५ "विपर्यादि° आ। सा० ६ कोध मानश्च माया च लोभः पञ्चेन्द्रियाणि च। दुर्जयं चैवात्मना सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥१॥ ७ उत्सृज्य आ।

...स्य आत्मनो मात्र आत्मत्वम्–अशेषकर्मफलङ्करहितत्व तस्मै आत्मत्वाय, यदिवा–आत्मा–मोक्ष संयमो ... वित्तस–वह्वर्थे
पी–समन्तात् व्रजेत्–संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः ॥७॥ निर्युक्तौ यदभिहितमध्यात्मविषीदन तदुक्तम्, इदानीं परवा-
दिरमनं द्वितीयमर्थाधिकारमधिकृत्याह–'तमेगे' इत्यादि, 'त' मिति साधुम् 'एके' ये परस्परोपकाररहितं दर्शनमापन्ना अयःशलाकाकल्पाः,
त च गोशालमतानुसारिण आजीविका दिगम्बरा वा, न एवं वक्ष्यमाण परि–समन्तात्भाषन्ते । तं भिक्षुकं साध्वाचारं साधु–शोभनं
परिरक्षं जीवितं जीवनमस्य स साधुजीवीनिर्मिति, ये ते अपुष्टधर्माण 'एव' वक्ष्यमाण 'परिभाषन्ते' साध्वाचारनिन्दां विदधति
... 'अन्तके' पर्यन्त दूरे 'समाधे' मोक्षाख्यात्सम्यग्ध्यानात्तदनुष्ठानात् वा वर्तन्त इति ॥८॥ यथे प्रभाषन्ते तद्दर्शयितुमाह–

संबद्धसमकप्पा उ, अन्नमन्नेसु मुच्छिया । पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य ॥९॥

एवं तुभे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा । नट्ठसप्पहसब्भावा, संसारस्स अपारगा ॥१०॥

'संबद्ध' इत्यादि सम्–एकीभावेन परस्परोपकार्योपकारितया च 'बद्धा' पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धा–गृहस्थास्तैः समाः–तुल्याः
कल्पो–व्यापारोऽनुष्ठानं येषां ते सम्बद्धसमकल्पा–गृहस्थानुष्ठानतुल्यानुष्ठाना इत्यर्थः, तथाहि–यथा गृहस्था परस्परोपकारेण माता पुत्रे
...ऽपि मायादारि ... 'मूर्च्छिता' अभ्युपपन्ना, एवं भवन्तोऽपि 'अन्योऽन्य' परस्परतः शिष्याचार्याद्युपकारक्रियाकल्पनया मूर्च्छिताः,
तथाहि–गृहस्थानामयं न्यायो यदुत–परस्य दानादिनोपकार इति, न तु यतीनां, कथमन्योऽन्यं मूर्च्छिता इति दर्शयति–'पिण्डपातं'

भैक्ष्यं 'ग्लानस्य' अपरस्य रोगिणः साधोः यद्-यस्मात् 'सारेह'त्ति अन्वेषयत, तथा 'दलाहय'त्ति ग्लानयोग्यमाहारमन्विष्य तदुपकारार्थं ददध्वं, चशब्दादाचार्यादेः वैयावृत्त्यकरणाद्युपकारेण वर्तध्वं, ततो गृहस्थसमकल्पा इति ॥९॥ साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन दोषदर्शनायाह–'एवं' इत्यादि, 'एवं' परस्परोपकारादिना यूयं गृहस्था इव सरागस्थाः–सह रागेण वर्तत इति सरागः–स्वभावस्तस्मिन् तिष्ठन्तीति ते तथा, 'अन्योऽन्यं' परस्परतो वशमुपागताः–परस्परायत्ताः, यतयो हि निःसङ्गतया न कस्यचिदायत्ता भवन्ति, यतो गृहस्थानामयं न्याय इति, तथा नष्टः–अपगतः सत्पथः–सद्भावः–सन्मार्गः परमार्थो येभ्यस्ते तथा। एवम्भूताश्च यूयं 'संसारस्य' चतुर्गतिभ्रमणलक्षणस्य 'अपारगा' अतीरगामिन इति ॥१०॥ अयं तावत्पूर्वपक्षः, अस्य दूषणायाह–

अह ते परिभासेज्जा, भिक्खु मोक्खविसारए। एवं तुब्भे पभासंता, दुपक्खं चेव सेवह ॥११॥

तुब्भे भुंजह पाएसु, गिलाणो अभिहडंमि या। तं च बीओदगं भोच्चा, तमुद्दिस्सादि जं कडं ॥१२॥

'अह ते परिभासेज्जा' इत्यादि, 'अथ' अनन्तरं 'तान्' एवं प्रतिकूलत्वेनोपस्थितान् भिक्षुः 'परिभाषेत' ब्रूयात्, किम्भूतः?–'मोक्षविशारदो' मोक्षमार्गस्य–सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्य प्ररूपकः, 'एवम्' अनन्तरोक्तं यूयं प्रभाषमाणाः सन्तः दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः–असत्प्रतिज्ञाभ्युपगमस्तमेव सेवध्वं यूयं, यदिवा–रागद्वेषात्मकं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तथाहि–सदोषस्याप्यात्मीयपक्षस्य समर्थनाद्रागो, निष्कलङ्कस्याप्यसदभ्युपगमस्य दूषणाद्द्वेषः, अथै(थवै)वं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तद्यथा–वक्ष्यमाणनीत्या बीजोदकोद्दिष्टकृतभोजित्वाद्गृ-

सा० १ अन्वेषयन्ते प्र०। २ दलादति आ दलहति इ। ३ °कारे आ.। ४ °मनुगता आ. °मुपगता इ.। ५ °हामिज्जा आ। ६ °हडति आ इ।
७ पीउ° आ वीतो° इ। ८ °दर्शनज्ञान° आ।

रम्याः पतिलिङ्गाभ्युपगमात्किल प्रव्रजिताः स्मेत्येवं पक्षद्वयासेवनं भवतामिति, यदि वा–ततोऽसदनुष्ठानमपरञ्च सदनुष्ठायिना निन्दन मिति भावः ॥११॥ आजीविकादीनां परतीर्थिकानां दिगम्बराणां चासदाचारनिरूपणायाह–'तुब्भे भुंजह' इत्यादि, किल यूयमपरिग्रहतया निष्किञ्चना एवमभ्युपगमं कृत्वा यूयं भुङ्ध्वं 'पात्रेषु'–कांस्यपात्र्यादिषु–गृहस्थभाजनेषु, तत्परिभोगाच्च तत्परिग्रहोऽवश्यंभावी, तथाऽऽहारादिषु मूर्च्छा 'एतद्धर्मित्वात्' कथं निष्परिग्रहाभ्युपगमो भवतामकलङ्क इति, अन्यच्च 'ग्लानस्य' भिक्षाटनं कर्तुमसमर्थस्य यदपरैर्गृहस्थैरभ्याहृतं भोजनं भवद्भिः, यतिरानयनाधिकाराभावात् गृहस्थानयने च यो दोषसद्भावः स भवतामवश्यंभावीति, तमेव दर्शयति–यच्च गृहस्थैर्बीजोदकाद्युपमर्देनापादितमाहारं भुक्त्वा तं ग्लानमुद्दिश्योद्देशकादि 'यत्कृतं' यदभिनिष्पादितं तदवश्यं युष्मत्परिभो गायातमिति । यदि च गृहस्थगृहे भोजनादिषु भुञ्जानास्तथा ग्लानस्य च गृहस्थैरेव वैयावृत्त्यं कारयन्तो यूयमवश्यं बीजोदकादि भोजिनः उद्देशिकादिभोजिनश्चेति ॥१२॥ किञ्चान्यत्–

लित्ता तिव्वाभितावेण, उज्झिआ असमाहिया । नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झती ॥१३॥

तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिन्नेण जाणया । ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वती किती ॥१४॥

'लित्ता' इत्यादि योऽयं षड्जीवनिकायविराधनयोद्दिष्टभोजित्वनाभिगृहीतमिथ्यादृष्टितया च साधुपरिभाषणेन च तीव्रोऽभितापः –कर्मबन्धनोपन्निभा'–संवेष्टिमात्मना 'उज्झिय'त्ति सद्विवेकशून्या भिक्षापात्रादित्यागात्परगृहभोजित्वोद्देशकादिभोजित्वात् तथा

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] ।
१ [illegible]

'असमाहिता' शुभाध्यवसायरहिताः सत्साधुप्रद्वेषित्वात्, साम्प्रतं दृष्टान्तद्वारेण पुनरपि तद्दोषाभिधित्सयाऽऽह—यथा 'अरुषः' व्रणस्य नातिकण्डूयितं—नखैर्विलेखनं न श्रेयो—न शोभनं भवति, अपि त्वपराध्यति—तत्कण्डूयनं व्रणस्य दोषमावहति, एवं भवन्तोऽपि सद्विवेकरहिताः वयं किल निष्किञ्चना इत्येवं निष्परिग्रहतया षड्जीवनिकायरक्षणभूतं भिक्षापात्रादिकमपि संयमोपकरणं परिहृतवन्तः, तदभावाच्चावश्यंभावी अशुद्धाहारपरिभोग इत्येवं द्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्षणेन नातिकण्डूयितं श्रेयो भवतीति भावः ॥१३॥ अपि च—'तत्तेण' इत्यादि, 'तत्त्वेन' परमार्थेन मौनीन्द्राभिप्रायेण यथावस्थितार्थप्ररूपणया ते गोशालकमतानुसारिण आजीविकादयः बोटिका वा 'अनुशासिताः' तदभ्युपगमदोषदर्शनद्वारेण शिक्षां ग्राहिताः, केन ?—'अप्रतिज्ञेन' नास्य मयेदमसदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञो—रागद्वेषरहितः साधुस्तेन 'जानता' हेयोपादेयपदार्थपरिच्छेदकेनेत्यर्थः, कथमनुशासिता इत्याह—योऽयं भवद्भिरभ्युपगतो मार्गो यथा यतीनां निष्किञ्चनतयोपकरणाभावात् परस्परत उपकार्योपकारकभाव इत्येष 'न नियतो' न निश्चितो न युक्तिसङ्गतः, अतो येयं वाग् यथा—ये पिण्डपातं ग्लानस्याऽऽनीय ददति ते गृहस्थकल्पा इत्येषा 'असमीक्ष्याभिहिता' अपर्यालोच्योक्ता, तथा 'कृतिः' करणमपि भवदीयमसमीक्षितमेव, यथा चापर्यालोचितकरणता भवति भवदनुष्ठानस्य तथा नातिकण्डूयितं श्रेय इत्यनेन प्राग्लेशतः प्रतिपादितं, पुनरपि सदृष्टान्तं तदेव प्रतिपादयति ॥१४॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

एरिसा जा वई एसा, अग्गवेणु व्व करिसिता । [6]गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजिउं ण उ भिक्खुणं ॥१५॥

धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभा ण विसोहिआ । ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पग्गपिअं ॥१६॥

---

१ xxx अपि आ । २ °तxxस्तेन आ. इ. । ३ यथा आ. । ४ वे° इ. । ५ अग्गे° आ. इ. । ६ गिहिण आ. ।

'एरिसा' इत्यादि, येयमीदृक्षा वाक् यथा यतिना ग्लानस्यानीय न देयमित्येषा अग्रे वेणुवत्—वंशवत् कर्पिता तन्वी युक्त्यक्षमत्वात् दुर्बलेत्यर्थः, तामेव वाचम् दर्शयति—'गृहिणां' गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेर्भोक्तुं 'श्रेय' श्रेयस्करं, न तु भिक्षूणां सम्बन्धीति, अग्र तनुत्वं चास्या वाच एव द्रष्टव्य—यथा गृहस्थाभ्याहृत जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तूद्गमादिदोषरहितमिति ॥१५॥ किञ्च—'धम्मपन्नवणा' इत्यादि, धर्मस्य प्रज्ञापना—देशना, यथा—यतीनां दानादिनोपकर्तव्यमित्येवम्भूता या सा 'सारम्भाणां' गृहस्थानां विशोधिका, एतदेव तु ग्लानुष्ठानेनैव विशुध्यन्ति, न तु तेषां दानाधिकारोऽस्तीत्येतत् दूषयितुं प्रक्रमते—'न तु' नैवैताभिर्यथा गृहस्थेनैव पिण्डदानादिना यतेर्ग्लानावस्थायामुपकर्तव्य न तु यतिभिरेव परस्परमित्येवम्भूताभिः युष्मदीयाभिः 'दृष्टिभिः' धर्मप्रज्ञापनाभिः 'पूर्वम्' आदौ सर्वज्ञ 'प्रघस्थित' प्रज्ञापित प्रख्यापितमासीदिति, यतो न हि सर्वज्ञा एवम्भूतं परिफल्गुप्रायमर्थं प्ररूपयन्ति यथा—असंयतैरप्यग्लानादेर्वैयावृत्त्य विधेयं न तूपयुक्तेन संयतेनेति, अपिच—भवद्भिरपि ग्लानोपकारोऽभ्युपगत एव, गृहस्थप्रेरणादनुमोदनाच्च, ततो भवन्मतस्यापि प्रपञ्चमत्यापन्नमिति ॥१६॥ अपिच—

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए। ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जोवि पगब्भिया ॥१७॥

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता। आउस्से सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥१८॥

'सव्वाहिं' इत्यादि, ते गोशालकमतानुसारिणो दिगम्बरा वा सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरसमर्थाः स्वपक्ष आत्मानं 'यापयितुम्' संस्थापयितुम् 'ततः' सम्यग्युक्तिभिः प्रतिपादयितुम् सामर्थ्याभावात् 'वादं निराकृत्य' सम्य-

१ ... अ.। २ ... अ । ३ ... अ । ४ ... भा.।

रहेतुदृष्टान्तैर्यो वादो–जल्पस्तं परित्यज्य ते तीर्थिका 'भूयः' पुनरपि वादपरित्यागे सत्यपि 'प्रगल्भिता' धृष्टतां गता इदमूचुः, तद्यथा–"पुराणं मानवो धर्मः, साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥१॥" अन्यच्च किमनया बहिरङ्गय युक्त्याऽनुमानादिकयाऽत्र धर्मपरीक्षणे विधेये कर्तव्यमस्ति, यतः प्रत्यक्ष एव बहुजनसंमतत्वेन राजाद्याश्रयणाच्चायमेवास्मदभिप्रेतो धर्मः श्रेयान्नापर इत्येवं विवदन्ते, तेषामिदमुत्तरम्–न ह्यत्र ज्ञानादिसाररहितेन बहुनाऽपि प्रयोजनमस्तीति, उक्तं च–"एरंडकट्ठरासी जहा य गोसीसचंदनपलस्स । मोल्ले न होज्ज सरिसो कित्तियमेत्तो गणिज्जंतो ॥१॥" तहवि गणणातिरेगो जह रासी सो न चंदनसरिच्छो । तह निव्विण्णाणमहाजणोवि सोज्झे विसंवयति ॥२॥ एंको सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं बहुएहि । होइ वरं दट्ठवो णहु ते बहुगा अपेच्छंता ॥३॥ एवं बहुगावि मूढा ण पमाणं जे गइं ण याणंति । संसारगमणगुविलं णिउणस्स य बंधमोक्खस्स ॥४॥" इत्यादि ॥१७॥ अपिच–'रागदोसा' इत्यादि, रागश्च–प्रीतिलक्षणो, द्वेषश्च–तद्विपरीतलक्षणस्ताभ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकानां ते तथा, 'मिथ्यात्वेन' विपर्यस्तावबोधेनातत्त्वाध्यवसायरूपेण 'अभिद्रुता' व्याप्ताः सद्युक्तिभिर्वादं कर्तुमसमर्थाः क्रोधानुगा 'आक्रोशान्' असभ्यवचनरूपांस्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च हननव्यापारं 'यान्ति' आश्रयन्ते । अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्ये दृष्टान्तमाह–यथा 'टङ्कणा' म्लेच्छविशेषा

सा १ एरण्डकाष्ठराशिर्यथा च गोशीर्षचन्दनपलस्य । मूल्येन न भवेत् सदृशः कियन्मात्रो गण्यमानः ॥१॥ २ तथापि गणनातिरेको यथा राशिः स न चन्दनसदृशः । तथा निर्विज्ञानमहाजनोऽपि मूल्ये विसंवदते ॥२॥ ३ मोल्ले आ. सो जे इ । सा ४ एकः सचक्षुष्को यथा अन्धानां शतैर्बहुभिर्भवति वरं द्रष्टव्यो नैव बहुका अप्रेक्षमाणाः ॥३॥ ५ एवं बहुका अपि मूढा न प्रमाणं ये गतिं न जानन्ति । संसारगमनवक्रां निपुणयोर्बन्धमोक्षयोश्च ॥४॥ ६ तथा तथा आ. इ । ७ व्यापारान् शरण यान्ति आ. व्यापार शरण यान्ति इ. ।

दुर्जया यदा परेण प्रतिना स्वानीकविनाऽभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरप्यायुधैर्योद्धुमसमर्थाः सन्तः पर्वतं शरणमाश्रयन्ति, एवं तेऽपि कुतीर्थिका वादपराजिताः क्रोधाद्युपरतास्तस्य आक्रोशादिकं शरणमाश्रयन्ते, न च ते इत्थमाकलय्य प्रत्याक्रोष्टव्याः, तद्यथा–"अक्कोसह हणमाणधम्मम्मि माण मातुलमाण। लाभ मणं धीरो अणुत्तराण अमासंमि ॥१॥" ॥१८॥ किञ्चान्यत्–

बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए। जेणऽन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण तं त समायरे ॥१९॥

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं। कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२०॥

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे। उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जाऽसि ॥२१॥

त्तिबेमि। इति ततीयअज्झयणस्स तईओ उद्देसो समत्तो ॥ (गाथाग्रं २३४)

'बहुगुण' इत्यादि, 'बहवो गुणाः' स्वपक्षसिद्धिपरदोषोद्भावनादयो माध्यस्थ्यादयो वा प्रकल्पन्ते–प्रादुर्भवन्त्यात्मनि येष्वनुष्ठानेषु यानि बहुगुणप्रकल्पानि–प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनादीनि माध्यस्थ्यवचनप्रकाराणि वा अनुष्ठानानि साधुर्वादकाले अन्यदा वा 'इमानि' विदध्यात्, स एव विशिष्यते–आत्मनः 'समाधिः' चित्तस्वास्थ्यं यस्य स भवत्यात्मसमाधिकः, एतदुक्तं भवति–येन"

१ "अक्कोसहणमणुत्तरे [illegible] (प्रत्यौ)। [illegible] ॥१॥ [illegible]
[illegible]

येनोपन्यस्तेन हेतुदृष्टान्तादिना आत्मसमाधिः—स्वपक्षसिद्धिलक्षणो[1] माध्यस्थ्यवचनादिना वा परानुपघातलक्षणः समुत्पद्यते तत् तत् कुर्यादिति, तथा येनानुष्ठितेन वा भाषितेन वा अन्यतीर्थिको धर्मश्रवणादौ वाऽन्यः प्रवृत्तौ 'न विरुध्येत' न विरोधं गच्छेत्, तेन पराविरोधकारणेन तत्तदविरुद्धमनुष्ठानं वचनं वा 'समाचरेत्' कुर्यादिति ॥१९॥ तदेवं परमतं निराकृत्योपसंहारद्वारेण स्वमतस्थापनायाह-'इमंच'इत्यादि, 'इम'मिति वक्ष्यमाणं दुर्गतिधारणाद्धर्मम् 'आदाय'—उपादाय गृहीत्वा 'काश्यपेन'—श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनोत्पन्नदिव्यज्ञानेन सदेवमनुजायां पर्षदि प्रकर्षेण—यथावस्थितार्थनिरूपणद्वारेण वेदितं-प्रवेदितं, चशब्दात् परमतं च निराकृत्य, भिक्षणशीलो भिक्षुः 'ग्लानस्य' अपटोरपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्त्यादिक कुर्यात्, कथं कुर्याद् ?, एतदेव विशिनष्टि—स्वतोऽप्यग्लानतया यथाशक्ति 'समाहितः' समाधिं प्राप्त इति, इदमुक्तं भवति—यथा यथाऽऽत्मनः समाधिरुत्पद्यते न तत्करणेन अपाटवसंभवात् योगा विषीदन्तीति, तथा यथा तस्य च ग्लानस्य समाधिरुत्पद्यते तथा पिण्डपातादिकं विधेयमिति ॥२०॥ किं कृत्वैतद्विधेयमिति दर्शयितुमाह—'संखाय' इत्यादि, संख्याय—ज्ञात्वा, कं ?—'धर्मं' सर्वज्ञप्रणीतं श्रुतचारित्राख्यभेदभिन्न 'पेशलम्' इति सुश्लिष्टं प्राणिनामहिंसादिप्रवृत्त्या प्रीतिकारणं, किम्भूतमिति दर्शयति—दर्शनं दृष्टिः सद्भूतपदार्थगता सम्यग्दर्शनमित्यर्थः सा विद्यते यस्यासौ दृष्टिमान् यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदवानित्यर्थः, तथा 'परिनिर्वृतो' रागद्वेषविरहाच्छान्तीभूतस्तदेवं धर्मं पेशलं परिसंख्याय दृष्टिमान् परिनिर्वृत उपसर्गाननुकूलप्रतिकूलान्नियम्य—संयम्य सोढा[3], नोपसर्गैरुपसर्गितोऽसमञ्जसं विदध्यादित्येवम् 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षयप्राप्तिं यावत् परि—समन्तात् व्रजेत्—संयमानुष्ठानोद्युक्तो भवेत् परिव्रजेद्, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२१॥ उपसर्गपरिज्ञायास्तृतीयोद्देशकः समाप्तः ॥३॥

१ °पानादिक आ । २ °च्छीती° आ. इ. । ३ सोढ्वा आ इ. ।

अथ तृतीयोपसर्गाध्ययने चतुर्थोद्देशकस्य प्रारम्भ ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थः समारभ्यते—अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रतिपादिताः, तैश्च कदाचित्साधुः शीलात् प्रच्याव्येत—तस्य च स्खलितशीलस्य प्रज्ञापनाऽनेन प्रतिपाद्यते इति, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिमं सूत्रम्—

आहंसु महापुरिसा, पुव्वि तत्ततवोधणा। उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति ॥१॥

अभुंजिया नमी [1]विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ। बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे रिसी ॥२॥

'आहंसु' इत्यादि, केचन अविदितपरमार्था 'आहुः'—उक्तवन्तः, किं तदित्याह—यथा 'महापुरुषाः'—प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणिप्रभृतयः 'पूर्वं'—पूर्वस्मिन् काले, 'तप्त'—तप्तं तप एव धनं येषां ते तप्ततपोधनाः—पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहाः, त एव शीतोदकपरिभोगेन, उपलक्षणार्थत्वात् कन्दमूलफलाद्युपभोगेन च 'सिद्धिमापन्नाः'—सिद्धिं गताः, 'तत्र' एवम्भूतार्थसमाकर्णने तदर्थसद्भावावेशात् 'मन्दः' अज्ञः स्नानादित्याजितः प्रासुकोदकपरिभोगभग्नः संयमानुष्ठाने विषीदति, यदि वा स एव शीतोदकपरिभोगे विषीदति भवति निपतति इत्यावत्, न त्वसौ वराक एवमवधारयति, यथा—तेषां तापसादिव्रतानुष्ठायिनां कुमार्गाश्रितानां मिथ्यात्वा

1 ए प्र.। २ 'हुं' प्र. ८। ३ रामगुत्ते प्र. ८। ४ तवी प्र.। ५ वैसी प्र.।

दाविर्भूतसम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्रभावसंयमप्रतिपत्त्या अपगतज्ञानावरणीयादिकर्मणां भरतादीनामिव मोक्षावाप्तिः, न तु शीतोदकपरिभोगादिति ॥१॥ किञ्चान्यत्–'अभुंजिया नमी'इत्यादि, केचन कुतीर्थिकाः साधुप्रतारणार्थमेवमूचुः,यदिवा स्ववर्ग्याः शीतलविहारिण एतद्वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः, तद्यथा–नमीराजा विदेहो नाम जनपदस्तत्र भवा वैदेहाः–तन्निवासिनो लोकास्तेऽस्य सन्तीति वैदेही, स एवम्भूतो नमी राजा अशनादिकमभुक्त्वा सिद्धिमुपगतः, तथा रामगुप्तश्च राजर्षिराहारादिकं 'भुक्त्वैव' भुञ्जान एव सिद्धिं प्राप्त इति, तथा बाहुकः शीतोदकादिपरिभोगं कृत्वा तथा नारायणो नाम महर्षिः परिणतोदकादिपरिभोगात् सिद्ध इति ॥२॥ अपिच—

आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी। पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥३॥

एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता। भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ॥४॥

'आसिले' इत्यादि, आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येवमादयः शीतोदकबीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते ॥३॥ एतदेव दर्शयितुमाह–'एते' इत्यादि, एते पूर्वोक्ता नम्यादयो महर्षयः 'पूर्वमि'ति पूर्वस्मिन्काले त्रेताद्वापरादौ 'महापुरुषा' इति प्रधानपुरुषा आ–समन्तात् ख्याताः आख्याताः–प्रख्याता राजर्जित्वेन प्रसिद्धिमुपगता इहापि आर्हते प्रवचने ऋषिभाषितादौ केचन 'सम्मता'–अभिप्रेता ईत्येवं कुतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा प्रोचुः, तद्यथा–एते सर्वेऽपि बीजोदकादिकं भुक्त्वा सिद्धा इत्येतन्मया भारतादौ पुराणे श्रुतम् ॥४॥ एतदुपसंहारद्वारेण परिहरन्नाह—

१ °य णमी° आ. °ता णमि° इ । २ XX नारायणो आ. । ३ पुव्व इ. । ४ महर्षि° आ. । ५ एव आ. ।

तत्थ मंदा विसीअति, वाहच्छिन्ना व गद्दभो । पिट्ठतो परिसप्पति, पिट्ठसप्पी यं संभमे ॥५॥
इहमेगे उ भासति, सात सातेण विज्जती । जे तत्थ आरिय मग्ग, परम च समाहिए(य) ॥६॥

'तत्थ' इत्यादि, तस्मिन् अनुकूलोपसर्गोदये 'मन्दा' अज्ञा नानाविधोपायसाध्य सिद्धिगमनमवधार्य विषीदन्ति संयमानुष्ठाने, न पुन रतद्विदन्त्यज्ञा, यथा-येषां सिद्धिगमनमभूत् तेषां कुतश्चिन्निमित्तात् जातजातिस्मरणादिप्रत्ययानामवाप्तसम्यग्ज्ञानचारित्राणामेव च वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव सिद्धिगमनमभूत्, न पुन' कदाचिदपि सर्वविरतिपरिणाममावलिङ्गमन्तरेण शीतोदकबीजाद्युपभोगेन जीवोपमर्दकारणम् कर्मक्षयोऽवाप्यते, विषीदने दृष्टान्तमाह-वहन वाहो-भारोद्वहनं तेन छिन्ना -कर्षितास्त्रुटिता रासभा इव विषीदन्ति, यथा-रासभा गमनपथ एव प्रोज्झितभारा निपतन्ति, एव तेऽपि प्रोज्झ्य संयमभारं शीतलविहारिणो भवन्ति, दृष्टान्तान्तरमाह-यथा 'पृष्ठसर्पिणो' भग्नगतयोऽग्न्यादिसम्भ्रमे तत्सुखान्तनयना समाकुलाः प्रनष्टजनस्य 'पृष्ठतः' पश्चात्परिसर्पन्ति नाग्रगामिनो भवन्ति, अपि तु तत्रैवाग्न्यादिसम्भ्रमे विनश्यन्ति, एव तेऽपि शीतलविहारिणो मोक्ष प्रति प्रवृत्ता अपि तु न मोक्षगतयो भवन्ति अपि तु तस्मिन्नेव संसार अनन्तमपि कालं यावदासत इति ॥५॥ मतान्तरं निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह-'इहमेगे' इत्यादि, 'इहे'ति मोक्षगमनविचारप्रस्तावे 'एके' शाक्यादयः स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ता', तुशब्दः पूर्वस्मात् शीतोदकादिपरिभोगाद्विशेषमाह, 'भाषन्ते' ब्रुवते मन्यन्ते वा क्वचित्पाठः, किं तदित्याह-'सातं'-सुखं,'सातेन'-सुखेनैव 'विद्यते' भवतीति, तथा च वक्तारो भवन्ति-"सर्वाणि सत्त्वानि सुखे रतानि,

१ छिन्न ब. । २ प ब. । ३ पिट्ठ ब. । ४ चीड २ । ५ च ब. ६ । ६ कवीतेः ब. कोमारिक ६ । ७ सुप ब. स्मृतिय ६ ।
८ भजि ब. २ । ९ स्मरि ब. ।

सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ते । तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि ॥१॥" युक्तिरप्येवमेव स्थिता, यतः कारणानुरूपं कार्यमुत्पद्यते, तद्यथा—शालिबीजाच्छाल्यङ्कुरो जायते न यवाङ्कुर इत्येवमिहत्यात् सुखान्मुक्तिसुखमुपजायते, न तु लोचादिरूपात् दुःखादिति, तथा ह्यागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—"मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं । मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी ॥१॥" तथा "मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥" इत्यतो मनोज्ञाहारविहारादेश्चित्तस्वास्थ्यं ततः समाधिरुत्पद्यते समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिः, अतः स्थितमेतत्—सुखेनैव सुखावाप्तिः न पुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरिति स्थितं, इत्येवं व्यामूढतयो ये केचन शाक्यादयः, 'तत्र' तस्मिन्मोक्षविचारप्रस्तावे समुपस्थिते आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरन्ति, तथा च—'परमं च समाधिं' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं ये त्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्तर्वर्तिनः सदा भवन्ति, तथाहि—यत्तैरभिहितं—कारणानुरूपं कार्यमिति, तन्नायमेकान्तो, यतः शृङ्गाच्छरो जायते,गोमयाद् वृश्चिको गोलोमाविलोमादिभ्यो दूर्वेति, यदपि मनोज्ञाहारादिकमुपन्यस्तं सुखकारणत्वेन तदपि विशूचिकादिसंभवाद्व्यभिचारीति, अपिच—इदं वैषयिकं सुखं दुःखप्रतीकारहेतुत्वात् सुखाभासतया सुखमेव न भवति, तदुक्तम्—"दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥१" इति, कुतस्तत्परमानन्दरूपस्यात्यन्तिकैकान्तिकस्य मोक्षसुखस्य कारणं भवति, यदपि च

१ व्यवस्थिता आ. इ. । सा. २ मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने । मनोज्ञेऽगारे मनोज्ञं ध्यायेन्मुनि ॥१॥ ३ °मि आ. । ४ आर्यो आ. । ५ सम्भवन्ति आ । ६ °रुक्तं आ. इ. । ७ °भ्यो आ. इ. ।

लोचपूर्वकनमिथाग्नपरिमवक्षुत्पिपासाद्यमशकादिकं दुःखकारणत्वेन भवतोपन्यस्तं तदत्यन्तात्पसत्त्वानामपरमार्थदृशां, महापुरुषाणां तु महाभ्युपगमवताणानां परमार्थचिन्तैकतानानां महासत्त्वतया सर्वमेवैतत्सुखायैवेति, तथा चोक्तम्—"तणसंथारनिविण्णोवि मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो। जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टीवि ? ॥१॥" तथा—"दुःखं दुष्कृतसंक्षयाय महतां क्षान्तेः पदं वैरिणः, काय स्यानुचिता रिगादवी संवेगसतुङ्गा। सर्वस्यागमरोलनाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये, संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः ? ॥१॥" इति, अपि च—एकान्तेन सुखेनैव सुखेऽभ्युपगम्यमाने विचित्रसंसाराभावः स्यात्, तथा स्वर्गस्थानां नित्यसुखिनां पुनरपि सुखा नुभवेनैव तत्रैव स्यात्, तथा नारकाणां च पुनर्दुःखानुभवात्तत्रैवोत्पत्तेः, न नानागत्या विचित्रता संसारस्य स्यात्, न चैतद् दृष्ट मिष्टं चेति ॥६॥ मतो व्यवस्थिते—

मा एयं अवमन्नंता, अप्पेण लुंपहा बहुं। एतस्स (उ)अमोक्खाए, अओहारिव्व जूरह ॥७॥

पाणाइवाते वट्टंता, मुसावादे असंजता। अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥८॥

'मा एयं' इत्यादि, 'एनम्' आर्य मार्गं जैनेन्द्रप्रवचनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमोक्षमार्गप्रतिपादकं 'सुखं सुखेनैव विद्यते' इत्या दिमोहेन मोहिता 'अवमन्यमाना' परिहरन्तः 'अल्पेन' वैषयिकेण सुखेन मा 'बहु' परमार्थसुखं मोक्षाख्यं 'लुम्पथ' विध्वंसयथ, त थाऽनेनैव लोचादिना धर्मोद्वेगकः, तदुक्तम् चिन्तामाराख्यं न पुनः समाधिरिति, अपि च 'एतस्य' असत्पक्षाभ्युपगमस्य 'अ

1 'संथारे' क०१। क० २ तृणसंस्तारनिषण्णोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः। यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्यपि ? ॥१॥ ३ पित्र' क० ६। ४
दुष्प' क०। ५ वदग्ं क०। ६ मेध ६। ७ चैर्याप क०। ८ नए भा० पत्ते ६। ९ दुष्प्राधिता क० ६।

मोक्षे' अपरित्यागे सति 'अयोहारिव्व जूरह'त्ति आत्मानं यूयं कदर्थयेथ, केवलं, यथाऽसौ अयसो-लोहस्याऽऽहर्त्ता अपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमितिकृत्वा नोज्झितवान्, पश्चात् स्वावस्थानावाप्तावल्पलाभे सति जूरितवान्-पश्चात्तापं कृतवान् एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति ॥७॥ पुनरपि 'सातेन सात'मित्येवंवादिनां शाक्यानां दोषोद्बिभावयिषयाह-'पाणाइवाते'इत्यादि, प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेषु वर्तमाना असंयता यूयं वर्तमानसुखैषिणोऽल्पेन वैषयिकसुखाभासेन पारमार्थिकमेकान्तात्यन्तिकं बहु मोक्षसुखं विलुम्पथेति, किमिति ?, यतः पचनपाचनादिषु क्रियासु वर्तमानाः सावद्यानुष्ठानारम्भतया प्राणातिपातमाचरथ तथा येषां जीवानां शरीरोपभोगो भवद्भिः क्रियते तानि शरीराणि तत्स्वामिभिरदत्तानीत्यदत्तादानाचरणं तथा गोमहिष्यजोष्ट्रादिपरिग्रहात्तन्मैथुनानुमोदनादब्रह्मेति तथा प्रव्रजिता वयमित्येवमुत्थाय गृहस्थाचरणानुष्ठानान्मृषावादः तथा धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिपरिग्रहाद् परिग्रह इति ॥८॥ साम्प्रतं मतान्तरदूषणाय पूर्वपक्षयितुमाह—

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया। इत्थीवसं गया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥९॥

जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं। एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥१०॥

जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं। एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ? ॥११॥

जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं। एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिआ ! ॥१२॥

१ °हारीव आ. इ । २ °यथैव आ. । ३ अवा° आ. । ४ °प्यथेति आ. । ५ इह° इ. । ६ °वसगा आ. °सगता इ. । ७ °दती आ. दइ इ. । ८ °त्ता इ.

एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया । अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुण ॥१३॥

'एवमेगे' इत्यादि, तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषणार्थः, 'एवमि'ति वक्ष्यमाणया नीत्या, यदिवा प्राक्तन एव श्लोकोऽत्रापि सम्बन्धनीयः,
एवमिति प्राणातिपातादिषु वर्तमाना 'एके' इति बौद्धविशेषा नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषाः, सदनुष्ठानात् पार्श्वे
तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरीषहपराजिताः, त एवं 'प्रज्ञापयन्ति' प्ररूपयन्ति अनार्या, अना-
र्यकर्मकारित्वात्, तथाहि ते वदन्ति—''प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ?। प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा ॥१॥''
किमित्येवं तेऽभिदधतीत्याह—'स्त्रीवशं गताः' यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते 'बाला' अज्ञा रागद्वेषोपहतचेतस इति, रागद्वेषाभिभूतो जिना
स्त्रीणां शासनम्—आज्ञा क्षायोपशमिकहेतुभूता तत्पराङ्मुखाः संसाराभिष्वङ्गिणो जैनमार्गविद्वेषिणः 'एवम्' वक्ष्यमाणमूचुरिति ॥९॥
यदूचुस्तदाह—'जहा गंड'इत्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थो, 'यथा' येन प्रकारेण कश्चित् गण्डी पुरुषो गण्डं समुत्थितं पिटकं वा
तज्जातीयकमेव तदुपशमनार्थं 'परिपीड्य' पूयरुधिरादिकं निर्गाल्य मुहूर्तमात्रं सुखितो भवति, न च दोषेणानुषज्यते, एवमत्रापि
स्त्रीविज्ञापनायां पुरुषप्रार्थनायां रमणीसम्बन्धे गण्डपरिपीडनकल्पे दोषस्तत्र कुतः स्यात् ?, न ह्येतावता क्लेदापगममात्रेण दोषो भवे
दिति ॥१०॥ स्यादत्र दोषो यदि काचित्पीडा भवेत्, न चासाविहास्तीति दृष्टान्तेन दर्शयति—'जहा' इत्यादि, 'यथे'त्ययमुदाहरणोप
न्यासार्थः, 'मन्धादन' इति मेषः नामशब्द सम्भावनायां यथा मेषः स्तिमितम् अनालोडयन्नुदकं पिबत्यात्मानं प्रीणयति, न च तथा
ऽन्येषां किञ्चनोपघातं विधत्ते, एवमत्रापि स्त्रीसम्बन्धे न काचिदन्यस्य पीडा आत्मनश्च प्रीणनम्, अतः कुतस्तत्र दोषः स्यादिति ॥११॥

1 मिच्छ' ला. । ना. 2 पद्भुति घ । ला. 3 गण्डोः मि च तदनुक्तो ... 4 ओ पर्यीति घ । 5 पण्डे ना. । 6 ...

अस्मिन्नेवानुपघातार्थं दृष्टान्तबहुत्वख्यापनार्थं दृष्टान्तान्तरमाह—'जहा विहंगम' इत्यादि, 'यथा' येन प्रकारेण विहायसा गच्छतीति विहंगमा—पक्षिणी 'पिंगे'ति कपिञ्जला साऽऽकाश एव वर्तमानाः 'तिमितं' निभृतमुदकमापिबति, एवमत्रापि दर्भप्रदानपूर्विकया क्रियया अरक्तद्विष्टस्य पुत्रार्थं स्त्रीसम्बन्धं कुर्वतोऽपि कपिञ्जलाया इव न तस्य दोष इति, साम्प्रतमेतेषां गण्डपीडनतुल्यं स्त्रीपरिभोगं मन्यमानानां तथैडकोदकपानसदृशं परपीडाऽनुत्पादकत्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्वेन किल मैथुनं जायत इत्यध्यवसायिनां तथा कपिञ्जलोदकपानं यथा तडागोदकासंस्पर्शेन किल भवत्येवमरक्तद्विष्टतया दर्भाद्युत्तारणात् स्त्रीगात्रासंस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुकालाभिगामितया शास्त्रोक्तविधानेन मैथुनेऽपि न दोषानुषङ्गः, तथा चोचुस्ते—"धर्मार्थं पुत्रकामस्य, स्वदारेष्वधिकारिणः । ऋतुकाले विधानेन, दोषस्तत्र न विद्यते ॥१॥" इति, एवमुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तेनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह—

जह णाम मंडलग्गेण सिरं छेत्तू ण कस्सइ मणुस्सो । अच्छेज्ज पराहुत्तो किं नाम ततो ण घिप्पेज्जा ? ॥५१॥

जह वा विसगंडूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को । अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो नँ व मरेज्जा ! ॥५२॥

जह नाम सिरिघराओ कोइ रयणाणि णाम घेत्तूणं । अच्छेज्ज पराहुत्तो किं णाम ततो नँ घेप्पेज्जा ? ॥५३॥

'जह णाम' इत्यादि, 'जह वा विसगंडूसं' इत्यादि, 'जह णाम सिरिघराओ' इत्यादि, यथा [ग्रन्थाग्रम् २०००] नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्यचिच्छिरश्छित्त्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत् , किमेतावतोदासीनभावावलम्बनेन 'न गृह्येत' नापराधी भवेत् ? । तथा—यथा कश्चिद्वि-

1 XXXXXXXXX द° आ । २ °वन्तर° भा °यतर° इ । ३ रतार्थं आ. । ४ °कामतया । ५ °न्तैरेव आ. इ । ६ मणुस्से अ. आ. । ७ नवि मरेज्जा अ. नवि सरेज्जा आ. । ८ वा वि या. ।

पगमय 'गृहीत्वा' पीतो नाम तूष्णींमात्र भवेदन्येन चाल्यमानोऽसौ किं नाम 'तस्य' असाधन्यादर्शनात् न म्रियेत ? । तथा—यथ
कश्चित् धीगृहात्—भाण्डागाराद्रत्नानि महार्घाणि गृहीत्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत्, किमेतावताऽसौ न गृह्येतेति ? । अत्र च यथा—कश्चि
मत्स्या अग्रतया स निरुद्धोदविषगणपरतापहारात्मे सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थ्यमवलम्बेत, न च तस्य तदवलम्बनेऽपि निर्दोषतेति,
एवमत्राप्यनल्पमावितरागमये मैथुने सर्वदोषास्पदे संसारवर्द्धके कुतो निर्दोषतेति तथा चोक्तम् "प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं मह-
र्षिभिः । नन्दिदानमकरणाध्यवसेनप्रलतस्तथा ॥१॥ मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्धनम् । तस्माद्विषान्नवत्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥२॥"
इति निपतितगाथाद्वयसमासार्थः । साम्प्रतं सूत्रकार उपसंहारव्याजेन गण्डपीडनादिदृष्टान्तवादिनां दोषोद्भिमावदिपयाह—'एवमेगे'
इत्यादि, 'एव'मिति गण्डपीडनादिदृष्टान्तबलेन निर्दोषं मैथुनमिति मन्यमाना 'एके' स्त्रीपरीषहपराजिताः सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति
पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः, शैवविशेषा वा, तथा मिथ्या—विपरीता तत्त्वाग्राहिणी दृष्टि'—दर्शनं येषां ते तथा, आराद्—
यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः न आर्या अनार्याः धर्मविरुद्धानुष्ठानात्, त एवंविधा 'अध्युपपन्ना' गृद्धाः इच्छामदनरूपेषु
कामेषु अत्यासक्ता धावन्तीति, अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह—यथा वा 'पूतना' डाकिनी 'तरुणके' स्तनन्धयेऽध्युपपन्ना,
एवं तेऽपीति, पठिता 'पूयण'त्ति गड्डरिका आत्मीयेऽपत्येऽध्युपपन्ना, एवं तेऽपीति, कथानकं चात्र—यथा किल सर्वपशू
नामपत्यानि निरुदके कूपेऽपत्यस्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि, तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तन पयःप्रस्रवन्त्योऽपि कूपतटस्था रुदन्त्यस्तिष्ठ
न्ति, गड्डरिका त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रात्मानं क्षिप्तवतीत्यतोऽपरपशुभ्यः स्वापत्येऽध्युपपन्नेति, एवं तेऽपि ॥१३॥

१ ... अ. ८ । २ ... आ. । ३ ... आ. । ४ ... आ. ८ । ५ "... xxx ..." ... ।

कामाभिष्वङ्गिणां दोषमाविष्कुर्वन्नाह—

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा । ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥१४॥
जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए । ते धीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीविअं ॥१५॥

'अणागय'मित्यादि, 'अनागतम्' एष्यत्कामानिवृत्तानां नरकादियातनास्थानेषु महत् दुःखम् 'अपश्यन्तः' अपर्यालोचयन्तः, तथा 'प्रत्युत्पन्नं' वर्तमानमेव वैषयिकं सुखाभासम् 'अन्वेषयन्तो' मृगयमाणा नानाविधैरुपायैर्भोगान्प्रार्थयन्तः ते पश्चात् क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वाऽपगते 'परितप्यन्ते' शोचन्ते पश्चात्तापं विदधति, उक्तं च—"हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कण्डनं कृतम् । यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः ॥१॥" तथा—"विहवावलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएणं । वयपरिणामे सरियाइं ताइं हिअए खुडुक्कंति ॥१॥" ॥१४॥ ये तूत्तमसत्त्वतया अनागतमेव तपश्चरणादावुद्यमं विदधति न ते पश्चाच्छोचन्तीति दर्शयितुमाह—'जेहिं काले' इत्यादि, 'यैः' आत्महितकर्तृभिः 'काले' धर्मार्जनावसरे 'पराक्रान्तम्' इन्द्रियकषायपराजयायोद्यमो विहितो न ते 'पश्चात्' मरणकाले वृद्धावस्थायां वा 'परितप्यन्ते' न शोकाकुला भवन्ति, एकवचननिर्देशस्तु सौत्रश्छान्दसत्वादिति, धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव, यस्मात् स एव प्रधानपुरुषार्थः, प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटां प्राञ्चति, ततश्च ये बाल्यात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणाः ते 'धीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो बन्धेन—स्नेहात्मकेन कर्मणा चोत्—प्राबल्येन मुक्ता नावकाङ्क्षन्ति

१ सीण आ इ । २ अतितमि आ । ३ वीरा आ. । ४ °यन्तो मृगयन्तो मृग° आ. ५ सा. विभावावलेपनटितैर्यानि न क्रियन्ते यौवनमदेन । वयपरिणामे स्मृतानि तानि हृदय व्यथन्ते ॥१॥ ६ भरि° आ. चरि° इ. । ७ वीरा. आ. ।

असंयमजीवित, यदिवा-जीविते मरणे वा निःस्पृहाः संयमोद्यममतयो भवन्तीति ॥१५॥ अन्यच्च—

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमता । एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया ॥१६॥

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता । सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥१७॥

'जहा' इत्यादि, यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथा वैतरणी नदीनां मध्येऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च 'दुस्तरा' दुर्लङ्घ्या एवम् अस्मिन्नपि लोके नार्यः 'अमतिमता' निर्विवेकेन हीनसत्त्वेन दुःखेनोत्तीर्यन्ते, यतस्ता हावभावैः कृतविधानपि स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम्—"सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव । भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥१॥" तदेवं वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो भवन्तीति ॥१६॥ अपिच—'जेहिं' इत्यादि, 'यैः' उत्तमसत्त्वैः स्त्रीसङ्गविपाकवेदिभिः पर्यन्तकटवो नारीसंयोगाः परित्यक्ताः, तथा तत्कृतयैव वस्त्रालङ्कारमाल्यादिभिरात्मनः 'पूजना' कामविभूषा 'पृष्ठतः कृता' परित्यक्तेत्यर्थः, 'सर्वमेतत्' स्त्रीप्रसङ्गादिकं क्षुत्पिपासादि प्रतिकूलोपसर्गकदम्बकं च निराकृत्य ये महापुरुषसेवितपन्थानं प्रति प्रवृत्तास्ते सुसमाधिना—स्वस्थचित्तवृत्तिरूपेण व्यवस्थिताः, नोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलरूपैः प्रक्षोभ्यन्ते, अन्ये तु विषयाभिष्वङ्गिणः स्त्र्यादिपरीषहपराजिता अङ्गारोपरिपतितमीनवद्रागाग्निना दह्यमाना असमाधिना तिष्ठन्तीति ॥१७॥ स्त्र्यादिपरीषहपराजयस्य फलं दर्शयितुमाह—

एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो । जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चंती सयकम्मुणा ॥१८॥

१ इत्य मा. ८ । २ मिरे ८ । २ श्री मली मरीचीं मा. । ४ XXX मा. । ५ पूया मा. ८ । ६ [illegible] ।

तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे। मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे ॥१९॥
उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तसथावरा। सव्वत्थ विरतिं कुज्जा,

'एते'इत्यादि, ये एते अनन्तरोक्ता अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गजेतार एते सर्वेऽपि 'ओघं' संसारं दुस्तरमपि तरिष्यन्ति, द्रव्यौघदृष्टान्तमाह—'समुद्रं' लवणसागरमिव यथा 'व्यवहारिणः' सांयात्रिका यानपात्रेण तरन्ति, एवं भावौघमपि संसारं संयमानपात्रेण यतयस्तरिष्यन्ति, तथा तीर्णास्तरन्ति चेति, भावौघमेव विशिनष्टि—'यत्र' यस्मिन् भावौघे—संसारसागरे 'प्राणाः' प्राणिनः स्त्रीविषयसंगाद्विषण्णाः सन्तः 'कृत्यन्ते' पीड्यन्ते 'स्वकृतेन' आत्मनाऽनुष्ठितेन पापेन 'कर्मणा' असद्वेदनीयोदयरूपेणेति ॥ १८ ॥ साम्प्रतमुपसंहारव्याजेनोपदेशान्तरदित्सयाह—तदेतद्यत्प्रागुक्तं यथा—वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो यैः परित्यक्तास्ते समाधिस्थाः संसारं तरन्ति, स्त्रीसङ्गिनश्च संसारान्तर्गताः स्वकृतकर्मणा कृत्यन्त इति, तदेतत्सर्वं भिक्षणशीलो भिक्षुः 'परिज्ञाय' हेयोपादेयतया बुद्ध्वा शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यनेनोत्तरगुणावेदनं कृतमित्येवंभूतः 'चरेत्' संयमानुष्ठानं विदध्यात्, तथा 'मृषावादम्' असद्भूतार्थभाषणं विशेषेण वर्जयेत्, तथा 'अदत्तादानं च व्युत्सृजेद्' दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं न गृह्णीयात्, आदिग्रहणात् मैथुनादेः परिग्रह इति तच्च मैथुनादिकं यावज्जीवमात्महितं मन्यमानः परिहरेत् ॥१९॥ अपरव्रतानामहिंसाया वृत्तिकल्पत्वात् तत्प्राधान्यख्यापनार्थमाह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्ष्वित्यनेन क्षेत्रप्राणातिपातो गृहीतः, तत्र ये केचन त्रसन्तीति त्रसा—द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तकभेदभिन्नाः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः—पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभे-

1 विवज्जेज्जा आ. । 2 °दाणाइ आ. इ. । 3 ये ते आ यत एते इ. । 4 xx ये° आ. । 5 पर्याप्तकाऽपर्याप्तक° आ. इ. । 6 °पर्याप्तकभेदभिन्ना आ. ।

दमित्ता इति, अनेन च द्रव्यप्राणातिपातो गृहीत, सर्वत्र काले सर्वास्ववस्थास्वित्यनेनापि कालभावभेदभिन्नः प्राणातिपात उपात्तो द्रष्टव्य, तदेवं चतुर्ष्वपि जीवस्थानेषु कृतकारितानुमतिभिर्मनोवाक्कायैः प्राणातिपातविरतिं कुर्यादित्यनेन पादोनेनापि श्लोकद्वयेन प्राणातिपातविरत्याख्या मूलगुणा ख्यापिता, साम्प्रतमेतेषां सर्वेषामेव मूलोत्तरगुणानां फलमुद्देशेनाह—

सति निव्वाणमाहिय ॥२०॥

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं । कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२१॥

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे । उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥

त्तिबेमि । इति उवसग्गपरिन्नाणाम तइयं अज्झयणं सम्मत्तं ॥ [गाथाग्रं २५६]

एव पञ्चाद्यादि, 'शान्तिः' इति कर्मदाहोपशमस्तत्त्व च 'निर्वाण' मोक्षपदं यत् 'आख्यातं' प्रतिपादितं सर्वद्वन्द्वापगमरूपं तदेवं धर्मपरिनिष्ठितं साधोः भवतीति ॥२०॥ समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह—'इमं च धम्ममि'त्यादि, 'इम'मिति पूर्वोक्तं मूलो-त्तरगुणरूपं श्रुतचारित्राख्यं वा दुर्गतिधारणात् धर्मम् 'आदाय' आचार्योपदेशेन गृहीत्वा किम्भूतमिति दर्शयति—'काश्यपेन' श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिना समुत्पन्नदिव्यज्ञानेन भव्यसत्त्वानुग्रहकारिणा 'प्रवेदितम्' आख्यातं सेमधिगम्य 'भिक्षुः' साधुः

[illegible]

परीषहोपसर्गैरतर्जितो ग्लानस्यापरस्य साधोर्वैयावृत्त्यं कुर्यात् , कथमिति ?, स्वतोऽग्लानतया यथाशक्ति 'समाहित' इति समाधिं प्राप्तः, इदमुक्तं भवति–कृतकृत्योऽहमिति मन्यमानो वैयावृत्त्यादिकं कुर्यादिति ॥२१॥ अन्यच्च–'संखाय' इत्यादि, 'संख्याये'ति सम्यक् ज्ञात्वा स्वसम्मत्या अन्यतो वा–श्रुत्वा 'पेशलं'ति मोक्षगमनं प्रत्यनुकूलं, किं तद् ?–'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'दृष्टिमान्' सम्यग्दर्शनी 'परिनिर्वृत' इति कषायोपशमाच्छीतिभूतः परिनिर्वृतकल्पो वा 'उपसर्गान्' अनुकूलप्रतिकूलान् सम्यग् 'नियम्य'–अतिसह्य 'आमोक्षाय' मोक्षं यावत् परि–समन्तात् 'व्रजेत्' संयमानुष्ठानेन गच्छेदिति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, नयचर्चाऽपि तथैवेति ॥२२॥ उपसर्गपरिज्ञायाः समाप्तश्चतुर्थोद्देशकः, तत्परिसमाप्तौ च तृतीयमध्ययनमिति । ग्रंथाग्रं ७७५॥

अथ चतुर्थं स्त्रीपरिज्ञाऽध्ययनं प्रारभ्यते ।



उक्तं तृतीयमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तराध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादिताः, तेषां च प्रायोऽनुकूला दुःसहाः, ततोऽपि स्त्रीकृताः, अतस्तज्जयार्थमिदमध्ययनमुपदिश्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा–अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्राग्वत् निर्युक्तिकृता 'थीदोषविवज्जणा चेवे'त्यनेन स्वयमेव प्रतिपादितः, उद्देशार्थाधिकारं तूत्तरत्र निर्युक्तिकृदेव भणिष्यति, साम्प्रतं

सा १ सहसन्मत्येति तात्पर्यं प्राकृतानुकरणं चेदम् । २ °नुष्ठाने× आ. इ । ३ ×× प° आ. इ. । ४ °चर्या° आ. । ५ ग्रन्थत. ९७५ आ. ग्रन्थ ७७५ इ. । ६ प्रागेव आ. इ ।

निर्गत', ग ...पनामप्रस्तावकमेदाभिधा, नत्वौघनिष्पन्न निक्षेपेऽध्ययन, नामनिष्पन्ने 'स्त्रीपरिज्ञे'ति नाम, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वाद नादृत्य स्त्रीशब्दस्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थमाह—

दव्वाभिलावचिंधे वेदे भावे य इत्थिणिक्खेवो। अहिलावे जह सिद्धी भावे वेयम्मि उवउत्तो ॥५४॥

'दव्वाभिलाव' इत्यादि, तत्र द्रव्यस्त्री द्वेधा—आगमतो नोआगमतश्च, आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमि तिकृत्वा, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्रिधा, एकभविका बद्धायुष्काऽभिमुखनामगोत्रा चेति, चिह्नयते—ज्ञायतेऽनेनेति चिह्न—स्तनाद्युपलक्षितं, चिह्नमात्रेण स्त्री चिह्नस्त्री अपगतस्त्रीवेदश्छद्मस्थः केवली वा अन्यो वा स्त्रीवेषधारी यः कश्चिदिति, वेदस्त्री तु पुरुषाभिलाषरूपः स्त्रीवेदोदयः, अभिलापभावौ तु निर्युक्तिकृदेव गाथापश्चार्धेनाह—अभिलप्यते इत्यभिलापः स्त्रीलिङ्गाभिधानः शब्दः, यथा—शाला माला सिद्धिरिति, भावस्त्री तु द्वेधा—आगमतो नोआगमतश्च, आगमतः स्त्रीपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तः, 'उपयोगो भाव' इति कृत्वा, नोआगमतस्तु भावस्त्री निरूप 'वेदे' स्त्रीवेदरूपे वस्तुन्युपयुक्ता तदुपयोगानन्यत्वाद्भावस्त्री भवति, यथाऽग्न्याद्युपयुक्तो माणवकोऽग्निरेव भवति, यदि वा—स्त्रीवेदनिर्वर्तकान्युदयप्राप्तानि यानि कर्माणि तेषु 'उपयुक्ते'ति तान्यनुभवन्ती भावस्त्रीति, एतावता त्रिविधो नियत इति, परिज्ञानिक्षेपस्तु शस्त्रपरिज्ञावद् द्रष्टव्य'। साम्प्रतं स्त्रीविपक्षभूत पुरुषनिक्षेपार्थमाह—

णाम ठवणादविए खेत्ते काले य पजणणकम्मे'। भोगे गुणे य भावे दस एए पुरिसणिक्खेवा ॥५५॥

'णामं ठवणा' इत्यादि, 'नाम इति संज्ञा तन्मात्रेण पुरुषो नामपुरुषः'—यथा घटः पट इति, यस्य वा पुरुष इति नामेति, 'स्थापना-

१ शी०३८२ प्र० पृ०। २ हे०१ प्र० पृ०। ३ प्रा० १ अभिलावेण। ४ पुरुषेति प्र०। ५ पगो पजो च प्रा०।

पुरुषः[1] काष्ठादिनिर्वर्तितो जिनप्रतिमादिकः, द्रव्यपुरुषो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो नोआगमत एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति, द्रव्यप्रधानो वा मम्मणवणिगादिरिति, यो यस्मिन् सुराष्ट्रादौ क्षेत्रे भवः स क्षेत्रपुरुषो यथा सौराष्ट्रिक इति, यस्य वा यत् क्षेत्रमाश्रित्य पुंस्त्वं भवतीति, यो यावन्तं कालं पुरुषवेदवेद्यानि कर्माणि वेदयते स कालपुरुष इति, यथा—'पुरिसे णं भंते! पुरिसोत्ति कालओ केवच्चिरं होइ? गो०, जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं जो जम्मि काले पुरिसो भवइ, जहा कोइ एगंमि पक्खे पुरिसो एगंमि नपुंसगो' त्ति। प्रजन्यतेऽपत्यं येन तत्प्रजननं शिश्नम्-लिङ्गम् तत्प्रधानः पुरुषः अपरपुरुषकार्यरहितत्वात् प्रजननपुरुषः, कर्म—अनुष्ठानं तत्प्रधानः पुरुषः कर्मपुरुषः—कर्मकरादिकः, तथा भोगप्रधानः पुरुषो भोगपुरुषः—चक्रवर्त्यादिस्तथा गुणाः—व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिकास्तत्प्रधानः पुरुषो गुणपुरुषः, भावपुरुषस्तु पुंवेदोदये वर्तमानस्तद्वेद्यानि कर्माण्यनुभवन्निति, एते दश पुरुषनिक्षेपा भवन्ति। साम्प्रतं प्रागुल्लिङ्गितमुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह—

पढमे संथवसंलवमाइहि[2] खलणा उ होति[3] सीलस्स। बिंतिए इहेव खलियस्स अवत्था कम्मबंधो य ॥५६॥

'पढमे' इत्यादि, प्रथमे उद्देशके अयमर्थाधिकारः, तद्यथा—स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवेन' परिचयेन तथा 'संलापेन' भिन्नकथाद्यालापेन, आदिग्रहणादङ्गप्रत्यङ्गनिरीक्षणादिना कामोत्कोचकारिणा भवेदल्पसत्त्वस्य 'शीलस्य' चारित्रस्य स्खलना तुशब्दात्तत्परित्यागो वेति, द्वितीये त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा—शीलस्खलितस्य साधोः 'इहैव' अस्मिन्नेव जन्मनि स्वपक्षपरपक्षकृता तिरस्कारादिका विडम्बना तत्प्रत्ययश्च कर्मबन्धः, ततश्च संसारसागरपर्यटनमिति, किं स्त्रीभिः कश्चित् शीलात् प्रच्याव्यात्मवशः कृतो येनैवमुच्यते?, कृत इति दर्शयितुमाह—

१ °सेति खा. इ। २ × ज° खा.। ३ °वन्नित्येते आ.। ४ संलवाइएहिं अ. आ.। ५ होज्ज अ आ.। ६ बीए अ. या.। ७ अणवत्था अ. खा। ८ इहास्मि° आ.। ९ शीतात् ख.।

सूरा मो मन्नंता कइतवियाहिं उवहिप्पहाणाहिं। गहिया हु अभयपज्जोयकूलबालादिणो बहवे ॥५७॥

'सूरा मो' इत्यादि, बहवः पुरुषा अभयप्रद्योतकूलवालादयः 'शूरा वयमित्येवं मन्यमानाः, मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः, 'कैतविकाभिः' मायाप्रधानाभिः स्त्रीभिस्तथा उपधिः—माया तत्प्रधानाभिः कृतकपटशताभिः 'गृहीता' आत्मवशवर्त्तां नीताः केचन राज्या स्वरे श्रीमन् प्रद्योतादिरेव विडम्बनां प्रापिताः, अभयकुमारादिकथानकानि च मूलावश्यकादवगन्तव्यानि, कथानकत्रयोपन्यासस्तु यथाक्रम ... इति ॥ यत एवं ततो यत्कर्तव्यं तदाह—

तम्हा ण उ वीसंभो गंतव्वो णिच्चमेव इत्थीसुं। पढमुद्देसे भणिया जे दोसा ते गणंतेणं ॥५८॥

'तम्हा' इत्यादि, यस्मात् स्त्रियः सुगतिमार्गार्गला मायाप्रधाना वञ्चनानिपुणास्तस्मादेतदवगम्य नैव 'विश्रम्भो' विश्वासस्तासां 'नित्यं' सदा 'गन्तव्यो' यातव्यः, कर्तव्य इत्यर्थः, ये दोषाः प्रथमोद्देशके अस्योपलक्षणार्थत्वात् द्वितीये च तान् 'गणयता' ... नात्मा मूर्तिमत्कामाग्निभूतानामात्महितमिच्छता न विश्वसनीयमिति ॥ अपिच—

सुमणभरपाडभमरा कीरंती अप्पसत्तिया पुरिसा। दीसंती सूरवादी णारीवसगा ण ते सूरा ॥५९॥

'सुमण भरा' इत्यादि, वागनीकविजयादो मुष्टु समर्था अपि सन्तः पुरुषाः स्त्रीभिरात्मवशीकृता 'असमर्था' भ्रूक्षेपमात्रभीरवः क्रियन्ते—... पादपतनादिचाटुकरणेन निःसाराः क्रियन्ते, तथा 'दृश्यन्ते' प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते शूरमात्मानं मदितुं शीलं येषां ते शूरवादिनोऽपि नारीवशगाः सन्तो दीनतां गताः, एवम्भूताश्च न ते शूरा इति, तस्मात् स्थितमेतत्—अविश्वास्याः स्त्रिय

१ ... २ ... ३ ...

इति, उक्तं च–"को वीससेज्ज तासिं कतिवयभरियाण दुव्वियड्ढाणं । खणरत्तविरत्ताणं धिरत्थु इत्थीण हिययाणं ॥१॥ अण्णं भणंति पुरओ अण्णं पासे णिवज्जमाणीओ । अन्नं च तासिं हियए जं च खमं तं करिंति पुणो ॥२॥ को एयाणं णाहिइ वेत्तलयागुम्मगुविलहिययाणं भावं भग्गासाणं तत्थुप्पन्नं भणंतीणं ॥३॥ महिला य रत्तमेत्ता उच्छुखंडं च सक्करा चेव । सा पुण विरत्तमित्ता णिंबंकूरे विसेसेइ ॥४॥ महिला दिज्ज करेज्ज व मारिज्ज व संठविज्ज व मणुस्सं । तुट्ठा जीवाविज्जा अहव णरं वंचयावेज्जा ॥५॥ णोवि रक्खंते सुकयं णावि णेहं णावि य दाणसम्माणं । ण कुलं ण पुव्वयं आयतिं च सीलं महिलियाओ ॥६॥ मा वीसंभह ताणं महिलाहिययाण कवडभरियाणं । णिण्णेहनिद्दयाण अलियवयणजंपणरयाणं ॥७॥ मारेइ जियंतंपिहु मयंपि अणुमरइ काइ भत्तारं । विसहरगइव्व चरियं वंकविवंकं महेलाणं ॥८॥ गंगाए वालुया सागरे जलं हिमवओ य परिमाणं । जाणंति बुद्धिमंता महिलाहिययं ण जाणंति ॥९॥ रोवावंति रुयंति य अलियं जंपंति पत्ति-

---

१ को विश्वस्यात्तासु कैतवभृतासु दुर्विदग्धासु । क्षणरक्तविरक्तासु धिगस्तु स्त्रीहृदयानां ॥१॥ २ अन्यद् भणन्ति पुरतोऽन्यत्पार्श्वे निषीदयन्त्यः । अन्यत्तासां हृदये यच्च क्षमं तत्कुर्वन्ति पुनः ॥२॥ ३ क एतासां ज्ञास्यति वेत्रलतागुल्मगुपिलहृदयानां । भावं भग्नाशानां तत्रोत्पन्नं भणन्तीनां ॥३॥ ४ महिला च रक्तमात्रेक्षुखण्डेन शर्करेव च । सा पुनर्विरक्तमात्रा निंबाङ्कुरं विशेषयति ॥४॥ ५ निम्ब मसार इ । सा. ६ महिला दद्यात्कुर्याद्वा मारयेद्वा संस्थापयेद्वा मानुष्यं । तुष्टा जीवापयेत् अथ च नरं वञ्चयेत् ॥५॥ ७ सथविज्ज प्र० सथहेज्ज प्र० । ८ तुठा वि जियावि° आ । सा. ९ नापि रक्षति सुकृतं नापि स्नेहं नापि दानसन्माने च । न कुलं न पूर्वजं नायतिं च शीलं महिला ॥६॥ १० मा विश्वस तेषां महिलाहृदयानां कपटभृतां । निःस्नेहनिर्दयानां अलीकवचनजल्पनरतानाम् ॥७॥ ११ मारयति जीवन्तमप्येव मृतमप्यनुम्रियते काचिद्भर्तारं । विषधरगतिरिव चरितं वक्रविवक्रं महेलानां ॥८॥ १२ °गय व आ । १३ महिलियाण आ । सा. १४ गङ्गाया वालुकाः सागरे जलं हिमवतश्च परिमाणं । जानंति बुद्धिमन्तो महिलाहृदयं न जानन्ति ॥९॥ १५ रोदयन्ति रुदन्ति च अलीकं जल्पन्ति प्रत्याययन्ति । कपटेन खादति विषं म्रियते न च यान्ति सद्भावं ॥१०॥

पासनि फरइन य मुंति विस मरंति पेय जति सभ्मावं ॥१०॥ चिंतिंति कज्जमण्णं अण्णं संठवइ भासई अण्ण। आढवइ कुणइ अण्णं मारग्गो निपडिगारो ॥११॥ अमेयारंभाण सया सव्वेसिं लोगगरहणिज्जाण। परलोगवेरियाणं कारणय चेव इत्थीओ ॥१२॥ अहवा मे तुरइण आणइ नरिय सहावकुडिलाण। दोसाण आगरो चिय जाण सरीरे वसइ कामो ॥१३॥ मूलं दुच्चरियाणं हवइ ढ णयरस्स रमनी दिन्ना। मोक्खस्स महाविग्घ वज्जेयव्वा सया नारी ॥१४॥ धण्णा ते नरपुरिसा जे चिय मोत्तूण णिययजुवईओ। पव्वइया फलनियमा निरुवमसलमणुत्तरं पत्ता ॥१५॥" अधुना यादृशः शूरो भवति तादृश दर्शयितुमाह—

धम्ममि जो दढा मई सो सूरो सत्तिओ य वीरो य। णहु धम्मणिरुस्साहो पुरिसो सूरो सुबलिओऽवि ॥६०॥

'धम्मंमि इत्यादि, 'धर्मे' श्रुतचारित्राख्ये दढा—निश्चला मतिर्यस्य स तथा एवम्भूतः स इन्द्रियनोइन्द्रियारिजयात् 'शूर' तथा 'सात्त्विको' महासत्त्वोपेतोऽस्मात्मैव 'वीरः' स्वकर्मदारणसमर्थोऽस्मावेवेति, किमिति?, यतो नैव 'धर्मनिरुत्साहः' सदनुष्ठाननिरुद्यमः सत्पुरुषोत्त्वादिवि गुणगणाहस्तिनहितमुरंगप्रभ्य गुणे बल्यानपि शूरो भवतीति ॥ एतानेव दोषान् पुरुषसम्बन्धेन स्त्रीणामपि दर्शयितुमाह—

१ मु[illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible] ५ [illegible] ६ [illegible] ७ [illegible] ८ [illegible] ९ [illegible]

एते चेव य दोसा पुरिससमाएवि इत्थीयाणंपि । तम्हा उ[1] अप्पमाओ[2] विरागमग्गंमि तासिं तु ॥६१॥[3]

'एते चेव' इत्यादि ये प्राक् शीलप्रध्वंसादयः स्त्रीपरिचयादिभ्यः पुरुषाणां दोषा अभिहिता एत एवान्यूनाधिकाः पुरुषेण सह यः समायः—सम्बन्धस्तास्मिन् स्त्रीणामपि, यस्माद्दोषा भवन्ति तस्मात् तासामपि विरागमार्गे प्रवृत्तानां पुरुषपरिचयादिपरिहारलक्षणोऽप्रमाद एव श्रेयानिति । एवं यदुक्तं 'स्त्रीपरिज्ञे'ति तत्पुरुषोत्तमधर्मप्रतिपादनार्थम्, अन्यथा 'पुरुषपरिज्ञे'त्यपि वक्तव्येति, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसंजोगं । एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसुं[4] ॥१॥

सुहुमेणं तं परिक्कम्मं[5], छन्नपएण इत्थिओ मंदा । उव्वायंपि ताउ[6] जाणंसु[7] जहा[8] लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥२॥

'जे मायरं च' इत्यादि, अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा—अनन्तरसूत्रेऽभिहितम्, आमोक्षाय परिव्रजेदिति, एतच्चाशेषाभिष्वङ्गवर्जितस्य भवतीत्यतोऽनेन तदभिष्वङ्गवर्जनमभिधीयते, 'यः' कश्चिदुत्तमसत्त्वो 'मातरं पितरं' जननीं जनयितारम्, एतद्ग्रहणादन्यदपि भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्वशुरादिकं पश्चात्संयोगं च 'विप्रहाय'—त्यक्त्वा, चकारौ—समुच्चयार्थौ, 'एको' मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा तथा सहितो ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वस्मै वा हितः स्वहितः—परमार्थानुष्ठानविधायी 'चरिष्यामि' संयमं करिष्यामीत्येवं कृतप्रतिज्ञः, तामेव प्रतिज्ञां सर्वप्रधानभूतां लेशतो दर्शयति—'आरतम्' उपरतं, मैथुनं—कामाभिलाषो यस्यासावारत-

१ हु अ । २ °पि स आ । ३ चउत्थमज्झयण सम्मत्त अ. चउत्थमज्झयण सम्मत्त आ । ४ विवत्तेसी आ. विवित्तेसी इ. । ५ °कम्मा इ । ६ ताओ आ. । ७ जाणि आ. इ । ८ जह आ इ. ।

पधून, सरेस्वभूतो 'गिरिकप्' मीपगुपस्यकादिवेगु ध्यानेगु चारिष्यामीत्येव सम्पगुत्थानेनोत्थाय विहरतीति, कश्चित्पाठो 'विविवे
मिणि' 'गिरिन्'-गिरिगहरदिरदित ध्यान संपमानुपरोध्येपितु शीतमस वयेति ॥१॥ तस्यैव कम्पविहस्स तारघोर्यद्रव्यत्वविवेकिनी-
मनाचरनभिगुपार-'सुदुमप' इत्यादि, 'स' महापुरुष मागु 'घडमेण' अपरकार्यव्यपदेशभूतेन 'छमपदेने'ति छवना-कपटवालेन
'नगकम्प' तत्समीपमागत्य, यदिवा-'पराक्रम्ये'ति शीलस्तुतनयोम्पवापस्या अभिभूय, का: ?-'थिय' कलमोत्तुकादीनामिव मार्ग-
पण्डितया ज्ञानातिसतत्वनतलनत्रा विविधविधोरुवलो मार-मन्दा'-कामोद्रेकविषापितया उत्सादिवेकविकला' समीपमागत्य
कीलात् पाययन्ति, ग्लहनेप् मनमि-म्रावुम्रगम्पपरजेन सापुमपमीपमागत्य संयमात् भ्रंशयन्ति, तथा चोक्तम्-''पियपुत्र माइकिवगर
मडीकमा य मयनारिकमा य । एते ओममकिरणा पच्चमणं महिलियाण ॥१॥'' यदिवा-छमपदेनेति-गुप्ताभिधानेन, यथा-
'धन ममुनम्मर मलान्नस्स, मेपा पक्खरागु च सव्वीगु। मिच्या न मागामि विचालनेभ्रे ।, ते प्रत्ययमा ये प्रथमाधरेस्र ॥१॥''
इत्यादि, ता: स्त्रियो मायाप्रधाना' प्रतारणोपायमपि जानन्ति-उत्पन्नमतितया विदन्ति, पाठान्तरं वा ज्ञातवत्या, यथा 'रिष्यन्ते'
ति विडम्बीति मायर मत्त नपाणिपकर्मोस्यात् तासु मत्तकपाळि ॥२॥ तानेव धन्मनतारणोपायान् दर्शयितुमाह—

पासे भिस णिसीयति अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति । कायं अहेवि दंसति, बाहु उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ॥३
सयणासणेहिं जोगेहिं इत्थिओ एगता णिमंतंति । एयाणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

[illegible]

'पासे भिसं' इत्यादि, 'पार्श्वे' समीपे 'भृशम्' अत्यर्थमूरूपपीडमतिस्नेहमाविष्कुर्वन्त्यो 'निषीदन्ति' विश्रम्भमापादयितुमुपविशन्तीति, तथा कामं पुष्णातीति पोषं–कामोत्कोचकारि शोभनमित्यर्थः तच्च तद्वस्त्रं पोषवस्त्रं तद् 'अभीक्ष्णम्' अनवरतं तेन शिथिलादिव्यपदेशेन परिदधति, स्वाभिलापमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधानं शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्तीति, तथा 'अधःकायम्' ऊर्वादिकमनङ्गोद्दीपनाय 'दर्शयन्ति' प्रकटयन्ति, तथा 'बाहुमुद्धृत्य' कक्षामादर्श्य 'अनुकूलं' साध्वभिमुखं 'व्रजेत्' गच्छेत् । सम्भावनायां लिङ्[2], सम्भाव्यते एतदङ्गप्रत्यङ्गसन्दर्शकत्वं स्त्रीणामिति ॥३॥ अपिच–'सयणासणे' इत्यादि, शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं–पर्यङ्कादि तथाऽऽस्यतेऽस्मिन्नित्यासनम्–आसंदकादीत्येवमादिना 'योग्येन' उपभोगार्हेण कालोचितेन 'स्त्रियो' योषित 'एकदा'इति विविक्तदेशकालादौ 'निमन्त्रयन्ति' अभ्युपगमं ग्राहयन्ति, इदमुक्तं भवति–शयनासनाद्युपभोगं प्रति साधुं प्रार्थयन्ति, 'एतानेव' शयनासननिमन्त्रणरूपान् स साधुर्विदितवेद्यः परमार्थदर्शी 'जानीयाद्' अवबुध्येत स्त्रीसम्बन्धकारिणः पाशयन्ति–बध्नन्ती पाशास्तान् 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारानिति । इदमुक्तं भवति–स्त्रियो ह्यासन्नगामिन्यो भवन्ति, तथा चोक्तम्–"अंबं वा निंबं वा अब्भासगुणेण आरुहइ वल्ली । एवं इत्थीतोवि यं जं आसन्नं तमिच्छन्ति ॥१॥" तदेवम्भूताः स्त्रियो ज्ञात्वा न ताभिः सार्धं साधुः सङ्गं कुर्यात्, यतस्तदुपचारादिकः सङ्गो दुष्परिहार्यो भवति, तदुक्तम्–"जं इच्छसि घेत्तुं जे पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि । आमिसपासनिबद्धो काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥१॥" ॥४॥ किञ्च–

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नोविय साहसं समभिजाणे। णो सहियंपि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥५॥

1 तद्वस्त्र च आ इ । 2 लिट् आ. । 3 पर्यङ्कायावसयो वा आ. इ । सा 4 °सनादिनि° प्र० । सा 5 आम्र वा निम्ब वाभ्यासगुणेनारोहति वल्ली । एव स्त्रियोऽपि य एवासन्नस्तमिच्छति ॥१॥ 6 हु आ. । सा 7 यान् गृहीतुमिच्छति तानामिषेण पूर्वं गृहाण । यदामिषपाशनिबद्ध. करिष्यति कार्यमकार्यं वा ॥१॥ 8 सहियं° आ. इ. ।

आमंतिय उस्सवियो भिक्खु आयसा निमंतंति। एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥६॥

'नो' नैव 'तासु' शयनासनोपनिमन्त्रणपाशकपाशिकासु स्त्रीषु 'चक्षुः' नेत्रं संदध्यात् सन्धयेद्वा, न तद्दृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत्, मति च प्रयोजने ईषदवज्ञया निरीक्षेत, तथा चोक्तम्—“कार्येऽपीषन्मतिमान्निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया। अस्निग्धया दृशाऽवज्ञया ह्य कुपितोऽपि कुपित इव ॥१॥” तथा नापि च 'साहसम्'—अकार्यकरणं तत्प्रार्थनया 'समनुजानीयात्' प्रतिपद्येत, तथा अतिसाहसमेतत्सङ्ग्रामावतरणवद्यन्नरकपातादिविपाकवेदिनोऽपि साधोर्योषिदासञ्जनमिति, तथा नैव 'स्त्रीभिः' सार्धं ग्रामादौ 'विहरेत्' गच्छेत्, अपिशब्दात् न स्त्रीभिः सार्धं विविक्तासनो भवेत्, ततो महापापस्थानमेतत् यतीनां यत् स्त्रीभिः सह साङ्गत्यमिति, तथा चोक्तम्—“मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्। बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥१॥” एवमनेन स्त्रीसम्पर्कवर्जनेनात्मा समस्तापापस्थानेभ्यो रक्षितो भवति, यतः—सर्वापायानां स्त्रीसम्बन्धः कारणम्, अतः स्वहितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति ॥५॥ कथं चैताः पाशा इव पाशिका इत्याह—'आमंतिय' इत्यादि, स्त्रियो हि स्वभावेनैवाकर्तव्यप्रवणाः साधुमामन्त्र्य यथाऽहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिकमागमिष्यामि एवं संकेतं ग्राहयित्वा तथा 'उस्सविय'त्ति संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा पुनरकार्यकरणायात्मना निमन्त्रयन्ति, आत्मनोपभोगेन साधुमभ्युपगमं कारयन्ति। यदि वा—साधोर्मैथुनापहरणार्थं ता एव योषितः प्रोचुः, तद्यथा—भर्तारमामन्त्र्याऽऽश्लथयामिहाऽऽयाता, तथा संस्थाप्य—भोजनपदधावनशयनादिकया क्रिययोपचर्य सततस्त्वान्तिकमागतेत्यतो मया सर्वो भ-

1 चिरं च आ. ६ । २ पुरुषस्य आ. । ३ पयते ६ । ४ 'आरम्भ' ६ । ५ हर्षेण आ । ६ च ता पापस्थान न आ चेतः पापस्थान च ६ । ७ योषिदिर्मं ६ । ८ भयतो आ. ६ ।

द्भर्तृजनितामाशङ्कां परित्यज्य 'निर्भयेन भाव्यमित्येवमादिकैर्वचोभिर्विश्रम्भमुत्पाद्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ते, युष्मदीयमिदं शरीरकं यादृक्षस्य क्षोदीयसो गरीयसो वा कार्यस्य क्षमं तत्रैव नियोज्यतामित्येवमुपप्रलोभयन्ति, स च भिक्षुरवगतपरमार्थः एतानेव 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारान् 'शब्दादीन्' विषयान् तत्स्वरूपनिरूपणतो ज्ञपरिज्ञया जानीयात्, यथैते स्त्रीसंसर्गापादिताः शब्दादयो विषया दुर्गतिगमनैकहेतवः सन्मार्गार्गलारूपा इत्येवमवबुध्येत, तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्विपाकावगमेन परिहरेदिति ॥६॥ अन्यच्च—

मणबंधणेहिं णेगेहिं, कलुण विणीयमुवगसित्ताणं। अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

सीहं जहा व कुणिमेणं, निब्भयमेगचरंति पासेणं। एवित्थियाउ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥८॥

'मणबंधणेहिं'इत्यादि, मनो बध्यते यैस्तानि मनोबन्धनानि—मञ्जुलाऽऽलापस्निग्धावलोकनाङ्गप्रत्यङ्गप्रकटनादीनि, तथा चोक्तम्—"णाह पिय कंत सामिय दइय जियाओ तुमं मह पिओत्ति। जीए जीयामि अहं पहवसि तं मे सरीरस्स ॥१॥" इत्यादिभिरनेकैः प्रपञ्चैः करुणाऽऽलापविनयपूर्वकं 'उवगसित्ताणं'ति उपसंश्लिष्य समीपमागत्य 'अथ' तदनंतरं 'मञ्जुलानि' पेशलानि विश्रम्भजनकानि कामोत्कोचकानि वा भाषन्ते, तदुक्तम्—"मितमहुररिभियजंपुल्लएहि ईसीकडक्खहसिएहिं। सविगारेहि वरागं हिययं पिहियं मयच्छीए ॥१" तथा 'भिन्नकथाभी' रहस्याऽऽलापैर्मैथुनसम्बद्धैर्वचोभिः साधोश्चित्तमादाय तमकार्यकरणं प्रति 'आज्ञापयन्ति' प्रवर्तयन्ति, स्ववशं

१ निर्भितेन आ. इ । २ यन्ति आ इ. । ३ शब्दान् आ. । ४ °मतितेणं था । ५ एवं इ । सा. ६ नाथ कान्त प्रिय स्वामिन्दयित । जीवितादपि त्व मम प्रिय इति जीवति जीवामि अहं प्रभुरसि त्वं मे शरीरस्य ॥१॥ ७ दतिवय आ दविय इ. । सा ८ इयय आउ त प्र० । ९ त आ. । सा. १० तुमं प्र० । ११ तुह आ । सा. १२ मितमधुररिभितजल्पाद्यैरीषत्कटाक्षहसितैः । सविकारैर्वराक हृदय पिहितं मृगाक्ष्या ॥१॥

या ज्ञात्वा धर्मकथकदाग्रां कारयन्तीति ॥७॥ अपिच–'सीह जहा' इत्यादि, यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थो यथा बन्धनविधिज्ञाः सिंह पिशिता दिनाऽऽमिषमोपप्रलोभ्य 'निर्भय' गतभीकं निर्भयत्वादेव एकचरं 'पाशेन' गलयन्त्रादिना बध्नन्ति बद्ध्वा च बहुप्रकारं कदर्थयन्ति, एव स्त्रियो नानाविधैरुपायैः पेशलभाषणादिभिः 'एगतियन्ति' कञ्चन तथाविधम् 'अनगारं' साधुं 'संवृतमपि' मनोवाक्कायगुप्तमपि 'बध्नन्ति' स्ववशं कुर्वन्तीति, संवृतग्रहणं च स्त्रीणां सामर्थ्योपदर्शनार्थं, तथाहि–संवृतोऽपि ताभिर्बध्यते, किं पुनरपरोऽसंवृत इति ॥८॥ किञ्च—

अह तत्थ पुणो णमयती, रहकारो व णेमि आणुपुव्वीए। बद्धे मिए व पासेण, फंदते वि ण मुच्चए ताहे ॥९॥

अह सेऽणुतप्पइ पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं एव विवेगमादाय, संवासो नवि कप्पए दविए ॥१०॥

'अह तत्थ' इत्यादि, 'अथ' इति स्ववशीकरणानन्तरं पुनस्तत्र–स्वाभिप्रेते वस्तुनि 'नमयन्ति' प्रह्वं कुर्वन्ति, यथा–'रथकारो' वर्धकिः 'नेमिकाष्ठं' चक्रबाह्यभ्रमिरूपमानुपूर्व्या नमयति, एवं ता अपि साधुं स्वकार्यानुकूल्ये प्रवर्तयन्ति, स च साधुर्मृगवत् पाशेन बद्धो मोक्षार्थं स्पन्दमानोऽपि ततः पाशान्न मुच्यत इति ॥९॥ किञ्च–'अह से' इत्यादि, अथासौ साधुः स्त्रीपाशावबद्धो मृगवत् कूटके पतितः सन् कुटुम्बकृते अहर्निशं क्लिश्यमानः पश्चादनुतप्यते, तथाहि–गृहान्तर्गतानामेतदवश्यं सम्भाव्यते, तद्यथा–"कोडायओ को ममनिगु [illegible] कासो दिज्जउ विसे को उग्घाडउ परिहियउ परिणीयउ को य कुमारउ पलियतो जीवें सरुप्फडेहि पर पडइ

१ [illegible] अ. । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ आणुपुव्वी [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible] । ८ [illegible] । ९ [illegible] । १० [illegible] । ११ [illegible] । १२ [illegible] । १३ [illegible] ।

पावह भारओ ॥१॥" तथा यत्—"मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म सुदारुणम्। एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फलभोगिनः ॥२॥"
चतुष्प्रकारं महामोहात्मके कुटुम्बकूटके पतिता अनुतप्यन्ते, अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—यथा कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं भुक्त्वा पश्चात्तेन कृतावेगाकुलितोऽनुतप्यते, तद्यथा—किमेतन्मया पापेन साम्प्रतेक्षिणा सुखरसिकतया विपाककटुकमेतद्भुक्तं भोजनमात्मविनाशायेति, एवमसावपि पुत्रपौत्रदुहितृजामातृस्वसृभ्रातृव्यभागिनेयादीनां भोजनपरिधानपरिणयनालङ्कारजातमृतकार्यतद्व्याधिचिकित्साचिन्ताकुलोऽपगतस्वशरीरकर्तव्यः प्रनष्टैहिकामुष्मिकानुष्ठानोऽहर्निशं तद्व्यापारव्याकुलितमतिः परितप्यते, तदेवं अनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानस्य 'आदाय' प्राप्य, विवेकमिति वा क्वचित्पाठः, तद्विपाकं विवेकं वा 'आदाय'—गृहीत्वा सद्विवेकिभिः संसारभीरुभिः साधुभिः सार्धं 'संवासो' एकत्र 'न कल्पते' न युज्यते, कस्मिन्—'द्रव्यभूते' मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ, यतस्ताभिः सार्धं संवासोऽवश्यं विवेकिनामपि सदनुष्ठानविघातकारीति ॥१०॥ स्त्रीसम्बन्धदोषानुपदर्श्योपसंहरन्नाह—

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा। ओए कुलाणि वसवत्ती आघाते ण सेवि णिग्गंथे ॥११॥

जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं। सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥१२॥

'तम्हा' इत्यादि, यस्मात् विपाककटुः स्त्रीभिः सह सम्पर्कस्तस्मात् कारणात् स्त्रियो 'वर्जयेत्' तुशब्दात्सदाऽऽलापमपि न कुर्यात्, किंवदित्याह—विषोपलिप्तं कण्टकमिव 'ज्ञात्वा' अवगम्य स्त्रियं वर्जयेदिति, अपिच—विषदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्नर्थमापादयेत्,

१ पतितो आ इ. । २ °न्तो आ, इ. । ३ °तिक° आ. इ. । ४ °पौत्र आ. । ५ °ष्य [illegible] आ [illegible] । ६ °गेन, त्यजेत्सदाऽऽलापमपि [illegible] आ. इ. । ६ नो इ. ।

स्त्रियस्तु मरणादपि, तदुक्तम्—"विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥१॥" तथा—"मारि विसे सरय न विसयसुहु इक्कसि विसिण मरंति। विसयामिस पुण घारिया नर नरएहि पडंति ॥१॥" तथा—'ओजः' एकः अ सहायः सन् 'कुलानि' गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां भक्तवतों तभिर्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्य भजमानो धर्ममास्याति योऽसावपि 'न निर्ग्रन्थो' न सम्यक् प्रव्रजितो, निषिद्धाचरणसेवनादवश्य तत्रापायसम्भवादिति, यदा पुनः काचित्कुतश्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदाऽपरसहायसाध्वभावे एकाक्यपि गत्वा अपरस्त्रीवृन्दमध्यगतायाः पुरुषसमन्वितायाः वा स्त्रीनिन्दाविषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजनन विधिना धर्मं कथयेदपीति ॥११॥ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवानाह—'जे एय उछं' इत्यादि, ये मन्दमतयः पश्चात्कृतसदनुष्ठानाः साम्प्रतेक्षिण एतद्—अनन्तरोक्तम् 'उञ्छन्ति जुगुप्सनीयं गर्ह्यं तदत्र स्त्रीसम्बन्धादिकं एकाकिस्त्रीधर्मकथनादिकं वा द्रष्टव्य, तदनु—सन्त्यपि ये 'गृद्धा' अध्युपपन्ना मूर्च्छिता', ते हि 'कुशीलानां' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपाणामन्यतरा भवन्ति, यदिवा—कायिकपश्यकसम्प्रसारकमामकरूपाणां वा कुशीलानामन्यतरा भवन्ति, तन्मध्यवर्तिनस्तेऽपि कुशीला भवन्तीत्यर्थः, यत एवमतः 'सुतपस्व्यपि' विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहोऽपि 'भिक्षु' साधुः आत्महितमिच्छन् 'स्त्रीभिः' समाधिपरिपन्थिनीभिः सह 'न विहरेत्' क्वचिद्रहस्यपि सन्तिष्ठेत्, तृतीयार्थे सप्तमी, भणिति वाक्यालङ्कारे, ज्वलिताङ्गारपुञ्जवद् दूरतः स्त्रियो वर्जयेदितिभावः ॥१२॥ कस्माभिः पुनः स्त्रीभिः सार्धं न विहर्तव्यमित्येतदाशङ्क्याह—

१ पुर्वे भा. इ। सु. २ वरं विषे धार्यं न विषयसुखं एकशो विषेण म्रियते। विषयामिषधारिताः पुनर्नरा नरकेषु पतन्ति ॥१॥ ३ भिक्षु सव्यवोर्वं भा. सिनु गपुष इ। ४ उछन्ति भा. इ। ५ भामाक भा. इ। ६ न वसथि भा. इ।

अवि धूयराहि सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं। महतीहि वा कुमारीहिं, संथवं से न[1] कुज्जा अणगारे ॥१३॥
अदु णाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होति। गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥१४

'अवि धूयराहि' इत्यादि, अपिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, 'धूयराहिं'त्ति दुहितृभिरपि सार्धं न विहरेत् तथा 'स्नुषाः' सुतभार्यास्ताभिरपि सार्धं न विविक्तासनादौ स्थातव्यं, तथा 'धात्र्यः' पञ्चप्रकाराः स्तन्यदादयो जननीकल्पास्ताभिश्च साकं न स्थेयं, अथवाऽऽसतां तावदपरा योषितो या अप्येता 'दास्यो' घटयोषितः सर्वापसदास्ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत्, तथा महतीभिः कुमारीभिर्वाशब्दाल्लघ्वीभिश्च सार्धं 'संस्तवं' परिचयं प्रत्यासत्तिरूपं सोऽनगारो न कुर्यादिति, यद्यपि तस्यानगारस्य तस्यां दुहितरि स्नुषादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य शङ्कोत्पद्यते अतस्तच्छङ्कानिरासार्थं स्त्रीसम्पर्कः परिहर्तव्य इति ॥१३॥ अपरस्य शङ्का यथोत्पद्यते तथा दर्शयितुमाह—'अदु णाइणम्' इत्यादि, [2]विविक्तयोषिता सार्धमनगारमथैकदा दृष्ट्वा योषिज्ज्ञातीनां सुहृदां वा 'अप्रियं' चित्तदुःखासिका भवति, एवं च ते समाशङ्केरन्, यथा—सत्त्वाः—प्राणिन इच्छामदनकामैः 'गृद्धा' अध्युपपन्नाः, तथाहि—एवम्भूतोऽप्ययं श्रमणः स्त्रीवदनावलोकनासक्तचेताः परित्यक्तनिजव्यापारोऽनया सार्धं नि[3]र्ह्रीकस्तिष्ठति, तदुक्तम्—"मुण्डं शिरो वदनमेतदनिष्टगन्धं, भि[4]क्षाशनेन भरणं च [5]हतोदरस्य। गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथापि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥१॥" तथातिक्रोधाध्मातमानसाश्चैवमूचुर्यथा—[6]रक्षणं पोषणं चेति विगृह्य समाहारद्वन्द्वस्तास्मिन् रक्षणपोषणे सदाऽऽदरं कुरु यतस्त्वमस्याः

१ नै आ इ। २ विविक्ते यो° आ, विविक्तो यो° इ। ३ निह्रीक° आ इ। सा. ४ भिक्षाटनेन प्र०। भिक्षाटनेन इ। सा. ५ विहितो० विहतो०। ६ रक्षणं च आ.।

'मनुष्योऽसि' मनुष्यो वर्तसे, यदि वा यदि परं श्रमणस्त्वमसि येन सा रक्षणपोषणव्यापृतास्त्वमेव मनुष्यो वर्तसे, यतस्त्वयैव सार्धमियमेकाकिन्य हर्निशं परित्यक्तनिजव्यापारा तिष्ठतीति ॥१४॥ किञ्चान्यत्—

समणंपि दट्ठुदासीणं, तत्थवि ताव एगे कुप्पंति। अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोस संकिणो होंति ॥१५॥

कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं। तम्हा समणा ण समेंति, आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ॥१६॥

'समणंपि' इत्यादि, श्राम्यतीति श्रमणः—साधुः अपिशब्दो भिन्नक्रमः तम् 'उदासीनमपि' रागद्वेषविरहान्मध्यस्थमपि दृष्ट्वा, श्रमणग्रहणं तप—स्विसदृशोपलक्षणार्थं, तत्रैवम्भूतेऽपि विषयद्वेषिण्यपि साधौ तावदेके केचन रहस्यस्त्रीजल्पनकृतदोषत्वात् कुप्यन्ति, यदि वा पाठान्तरं "समणं दट्ठुदासीणं" 'श्रमणं'—प्रव्रजितं, 'उदासीनम्'—परित्यक्तनिजव्यापारं स्त्रिया सह जल्पन्तं 'दृष्ट्वा' उपलभ्य तत्रापि केचन तावत् कुप्यन्ति, किं पुनः कृतविकारमितिभावः, अथवा स्त्रीदोषाशङ्किनश्च ते भवन्ति, ते चामी स्त्रीदोषाः 'भोजनैः' नानाविधैराहारैः 'न्यस्तैः' साध्वर्थमुपकल्पितैरेतदर्थमेव संस्कृतैरियमेनमुपचरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति, यदि वा—भोजने श्वशुरा दीनां न्यस्ते अर्धदत्ते सति सा वधूः साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्यस्मिन् दातव्येऽन्यद्दद्यात्, ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवे पुरुषैवं दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति, निदर्शनमत्र यथा—कयाचिद्वध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमु परिष्टोस्तम्भा इतिकृत्वा राइका संस्कृत्य दत्ताः, ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता, निजपतिना क्रुद्धेन ताडिता, अन्यपुरुषगतचित्तेत्या

१ च xx आ.। २ श्रमणX आ.। ३ भई आ. अनु द.। ४ संस्कृत्यादि द.। ५ सैन्याच आ द.। ६ 'चीन सिर्भ' आ. द.। ७ नैव च च आ.।

शङ्क्य स्वगृहान्निर्धाटितेति ॥१५॥ किञ्चान्यत्—'कुव्वंती'त्यादि, 'ताभिः' स्त्रीभिः—सन्मार्गार्गलाभिः सह 'संस्तवं' तद्गृहगमनालापदानसम्प्रेक्षणादिरूपं परिचयं तथाविधमोहोदयात् 'कुर्वन्ति' विदधति, किम्भूताः ?—प्रकर्षेण भ्रष्टाः—स्खलिताः 'समाधियोगेभ्यः' समाधिः—धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगा—मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युताः शीतलविहारिण इति, यस्मात् स्त्रीसंस्तवात् समाधियोगपरिभ्रंशो भवति तस्मात् कारणात् 'श्रमणाः' सत्साधवो 'न समेन्ति' न गच्छन्ति, सत् शोभना सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषद्या स्त्रीभिः कृता माया, यदि वा स्त्रीवसतीरिति, 'आत्महिताय' स्वहितं मन्यमानाः, एतच्च स्त्रीसम्बन्धपरिहरणं तासामप्यैहिकामुष्मिकापायपरिहाराद्धितमिति, क्वचित्पश्चार्द्धमेवं पठ्यते—"तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ" अयमस्यार्थः—यस्मात् स्त्रीसम्बन्धोऽनर्थाय भवति, तस्मात् हे श्रमण !—साधो !, तुशब्दो विशेषणार्थः, विशेषेण संनिषद्या—स्त्रीवसतीस्तत्कृतोपचाररूपा वा माया आत्महिताद्धेतोः 'जहाहि' परित्यजेति ॥१६॥ किं केचनाभ्युपगम्यापि प्रव्रज्यां स्त्रीसम्बन्धं कुर्युः ?, येनैवमुच्यते, ओमित्याह—

बहवे गिहाइ अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुया य एगे। धुवमग्गमेव पवयंति, वायावीरियं कुसीलाणं ॥१७॥

सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कडं करेंति। जाणंति य णं तहाविहा, माइल्ले महासढेऽयंति ॥१८॥

'बहवे' इत्यादि, 'बहवः' केचन गृहाणि 'अपहृत्य' परित्यज्य पुनस्तथाविधमोहोदयात् मिश्रीभावं इति द्रव्यलिङ्गमात्रसद्भावाद्भावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवम्भूता मिश्रीभावं 'प्रस्तुताः' समनुप्राप्ता न गृहस्था एकान्ततो नापि प्रव्रजिताः, तदेवम्भूता अपि सन्तो

१ °निद्धारितेति आ. इ । सा २ सदिति शोभनः पा० । ३ XXX त° आ. । ४ उहिमित्याह आ. । सा. ५ पणता पा० । ६ X एगे आ. इ । ७ कुणति आ. । ८ °विया इ °विदा आ. ।

ध्रुवो–मोक्ष' संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति, तथा हि–ते वक्तारो भवन्ति यथाऽस्मेषामदारम्भो मध्यमः पन्था श्रेयान्, तथा हि–अनेन प्रवृत्तानां प्रव्रज्यानिर्वहण भवतीति, तदेतत्कुशीलानां वाचा कृतं वीर्यं नानुष्ठानकृतं, तथा हि–ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वयं प्रव्रजिता इति ब्रुवते न तु तेषां सातगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठानकृत वीर्यमस्तीति ॥१७॥ अपिच–'स्वत इत्यादि, स कुशीलो वाङ्मात्रेणाविष्कृतवीर्यः 'पर्षदि' व्यवस्थितो धर्मदेशनावसरे सत्यात्मानं 'शुद्धम्' अपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठान वा "रौति' भाषते अथानन्तरं 'रहस्ये' एकान्ते 'दुष्कृतं' पापं तत्कारणं वाऽसदनुष्ठान 'करोति' विदधाति, तच्च तस्यासदनुष्ठानं गोपायतोऽपि 'जानन्ति' विदन्ति, के–तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति तथाविदः–इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः यदि वा–मायावी महाशठश्चायमित्येवं तथाविदस्तद्विदो जानन्ति, तथाहि–प्रच्छन्नाकार्यकारी न मां कश्चिज्जानात्येवं रागान्धो मन्यते, अथ च त तद्विदो विदन्ति, तथा चोक्तम्–"न य लोणं लोणिज्जइ ण य तुप्पिज्जइ घयं व तेल्लं वा। किह सक्को वंचेउं अप्पा अणुहूयपट्टाचो ॥१॥" ॥१८॥ किञ्चान्यत्—

सय दुक्कडं च नो वदति, आइट्ठोवि पकत्थति बाले। वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१९॥

१ छन्नं' भा. । २ स्वीयं' भा. । ३ एतदे भा. । घ. ४ °वेत्ता प्र । ५ तथाप्य ख । ६ अभितव्यं भा. इ । ७ वेत्ता ख. इ । ग. ८ न य लवणं लवणीयते न म्रक्ष्यते घृतं च तैलं वा । किं शक्यो वञ्चयितुं आत्माऽनुभूतव्यापारः ॥१॥ ख. ९ सया प्र । भा. इ । १० किया प्र भा. इ । ११ पर्वादि ८ ।

ओसियावि उदिधपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना। पण्णासमन्निता वेगे, नारीणं वसं उवकसंति ॥२०॥

'का कृत्यं च' इत्यादि, 'स्वयम्' आत्मना प्रच्छन्नं यदुष्कृतं कृतं तदपरेणाचार्यादिना पृष्टो 'न वदति' न कथयति, यथा अहमनाचारं कारीति, न च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वीयमवदन् यदा परेण 'आदिष्टः' चोदितोऽपि सन् 'बालः' अज्ञो रागद्वेषकलितो मायावीत्र सोति, न च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वीयमवदन् यदा परेण 'आदिष्टः' चोदितोऽपि सन् 'बालः' अज्ञो रागद्वेषकलितो ... कथं करिष्ये इत्येवं धार्ष्ट्यात् प्रकथते, तथा-वा 'प्रकथते' आत्मानं श्लाघमानोऽकार्यमपलपति, वदति च-यथाऽहमेवम्भूतमकार्यं कथं करिष्ये इत्येवं धार्ष्ट्यात् प्रकथते, तथा-... 'अनुयाति' आनुकूल्यं मैथुनाभिलापं तन्मा कार्षीरित्येवं 'भूयः' पुनः चोद्यमानोऽसौ 'ग्लायति' ग्लानिमुपयाति-... गुरोरन्यमन्य 'अनुयाति' आनुकूल्यं मैथुनाभिलापं तन्मा कार्षीरित्येवं 'भूयः' पुनः चोद्यमानोऽसौ 'ग्लायति' ग्लानिमुपयाति-मर्मविद्धो वा मन्दमिव भाषते, तथा चोक्तम्-"सम्भाव्यमानपापोऽहमपापेनापि किं मया?। निर्विषस्यापि सर्पस्य भृशमुद्विजते जनः ॥१॥" इति ॥१९॥ अपि च-'ओसियावि' इत्यादि, स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषका-अनुष्ठानविशेषास्तेषु 'उषिता अपि' व्यवस्थिता अपि 'पुरुषा' मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपीत्यर्थः, तथा-'स्त्रीवेदखेदज्ञाः' स्त्रीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निपुणा अपि तथा प्रज्ञया औत्पत्तिक्यादिबुद्ध्या समन्विता-युक्ता अपि 'एके' महामोहान्धचेतसो 'नारीणां' स्त्रीणां संसारावतरणवीथीनां 'वशं' तदायत्ततां 'उपकषन्ति' व्रजन्ति, यद्यत्ताः स्वभायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वते, न पुनरेतज्जानन्ति यथैता वञ्चनप्रधाना मायागृहमिव 'रुदन्ति' व्रजन्ति, यद्यत्ताः स्वभायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वते, न पुनरेतज्जानन्ति यथैता ... तथा-"एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति। तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥१॥" तथा-"समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागाः। स्त्रियः कृतार्थाः

१ ...पि इ०। २ °कम्पितो आ०। ३ °प्रकथते आ. इ.। ४ उसि° आ. इ.। ५ सा. स्त्रिय प्र०। ६ °त्यर्थं ते तथा आ।
... ।

पुरुष निरयंके, निष्पीडिता(?)कक्कवस्यजन्ति ॥२॥" अत्र च स्त्रीस्वभावपरिज्ञाने कथानकमिदम्—तद्यथा—एको युवा स्वगृहान्निर्गत्य वैशिकं कामशास्त्रमध्येतुं पाटलिपुत्रं प्रस्थितः, तदन्तराले अन्यतरग्रामवर्तिन्यैकया योषिताऽभिहितः, तद्यथा—सुकुमारपाणिपादः शोभनाकृतिस्त्वं क्व प्रस्थितोऽसि ?, तेनापि यथास्थितमेव तस्याः कथिते, तया चोक्तम्—वैशिकं पठित्वा मम मध्येनागन्तव्यं, तेनापि तथैवाभ्युपगतम्, अधीत्य चासौ मध्येनायातः, तया च स्नानभोजनादिना सम्यगुपचरितो विविधहावभावैश्चापहृतहृदयः संस्तां हस्तेन गृह्णाति, ततस्तया महताशब्देन पूत्कृत्य जनागमनावसरे मस्तके वारिवर्धनिका प्रक्षिप्ता, ततो लोकस्य समाकुले एवमाचष्टे—यथाऽयं गले लग्नेनोदकेन मनाक् न मृतः, ततो मयोदकेन सिक्त इति। गते च लोके सा पृष्टवती—किं त्वया वैशिकशास्त्रोपदेशेन स्त्रीस्वभावो परिज्ञातमिति ?, एवं स्त्रीचरित्रं दुर्विज्ञेयमिति नात्रास्था कर्तव्येति, तथा चोक्तम्—"हृद्यन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत्। अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्यत् ॥१॥" ॥२०॥ साम्प्रतमिहलोक एव स्त्रीसम्बन्धविपाकं दर्शयितुमाह—

अवि हत्थपादछेदाए, अदुवा वद्धमंसउक्कंते। अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छियखारसिंचणाइं च ॥२१॥

अदु कण्णणासच्छेदं, कण्ठच्छेदणं तितिक्खती। इति इत्थ पावसंतत्ता, न य बिंति पुणो न काहिंति ॥२२॥

'अविहत्थ' इत्यादि, स्त्रीसम्पर्को हि रागिणां हस्तपादच्छेदाय भवति, 'अपिः' सम्भावने सम्भाव्यत एतन्मोहातुराणां स्त्रीसम्बन्धाद्धस्तपादच्छेदादिकम्, अथवा वर्धमांसोत्कर्तनमपि 'तेजसा' अग्निना 'अभितापनानि' स्त्रीसम्बन्धिभिरुत्तेजितैः राजपुरुषैर्भटित्रकाण्यपि

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ हस्ते [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] । ६ [illegible] । ७ [illegible]

मिथ्या परिदारिका:, तथा वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारादिकसेचनानि च प्राप्यन्तीति ॥२१॥ अपि च–'अदु कण्ण' इत्यादि, अथ कर्णनासिकाच्छेदं तथा कण्ठच्छेदनं च 'तितिक्षन्ते' स्वकृतदोषात् सहन्ते इति, एवं बहुविधां विडम्बनाम् 'अस्मिन्नेव' मानुषे च जन्मनि पापेन–पापकर्मणा संतप्ता नरकातिरिक्तां वेदनामनुभवन्तीति न च पुनरेतदेवम्भूतमनुष्ठानं न करिष्याम इति सुव्रत इत्यवधारयन्तीति-यावत्, तदेवमैहिकामुष्मिका दुःखविडम्बना अप्यङ्गीकुर्वन्ति न पुनस्तदकरणतया निवृत्तिं प्रतिपद्यन्त इति भावः ॥२२॥ किञ्चान्यत्–

सुतमेतमेवमेगेसिं, इत्थीवेदेति[2] हु सुयक्खायं। एवंपि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ॥२३॥

अन्नं मणेण चिंतेति, वाया[3] अन्नं च कम्मुणा अन्नं। तम्हा ण सद्दह भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥२४॥

'सुतमेत' इत्यादि, 'श्रुतम्' उपलब्धं गुर्वादेः सकाशाल्लोकतो वा 'एतद्' इति यत्पूर्वमाख्यातं, तद्यथा–दुर्विज्ञेयं स्त्रीणां चित्तं दारुणः स्त्रीसम्बन्धविपाकः तथा चलस्वभावाः स्त्रियो दुष्परिचारा अदीर्घप्रेक्षिण्यः प्रकृत्या लघ्व्यो भवन्त्यात्मगर्विताश्च 'इति' एवमेकेषां स्वाख्यातं भवति लोकश्रुतिपरम्परया चिरन्तनाख्यायिकासु वा परिज्ञातं भवति, तथा स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्सम्बन्धविपाकतश्च वेदयति–ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो–वैशिकादिकं स्त्रीस्वभावाविर्भावकं शास्त्रमिति, तदुक्तम्–"दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं, भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते। चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र सन्तिष्ठते, नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः समं वर्धिताः ॥१॥" अपि च–"[6]सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुविय लद्धपसरासु। अडईसु महिलियासु य वीसंभो [7]नेव कायव्वो

---

१ XXआ.। २ °विहु आ °वेहु इ.। ३ अन्न वायाइ आ.। ४ °चरा आ. इ.। सा. ५ °सूक्ष्ममार्ग वि°। ६ सुष्ठु विजितासु सुष्ठ्वपि प्रीतासु सुष्ठ्वपि च लब्धप्रसरासु अटवीषु महिलासु च विश्रम्भो नैव कार्यः ॥१॥ ७ मेण आ. तेन इ.।

॥१॥ उम्मेउ अंगुली सो पुरिसो सयलमि जीयलोयम्मि। कामंतएण नारी जेण न पत्ताइ दुक्खाइ ॥२॥ अह एयाणं पगई सव्वस्स करेंति वेमणस्साइं। तस्स ण करेंति णवरं जस्स अलं चेव कामेहिं ॥३॥" किञ्च–अकार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा 'अदुव' ति तथापि कर्मणा–क्रियया 'अपकुर्वन्ति' इति विरूपमाचरन्ति, यदि वा अग्रतः प्रतिपद्यापि शास्तुरेवापकुर्वन्तीति ॥२३॥ सूत्रकार एव कस्वभावाविष्करणायाह–'अन्न मणेण' इत्यादि, पातालोदरगम्भीरेण मनसाऽन्यच्चिन्तयन्ति तथा श्रुतिमात्रपेशलया विपाकदारुणया वाचा अन्यद्भाषन्ते तथा 'कर्मणा' अनुष्ठानेनान्यन्निष्पादयन्ति, 'यत एवं बहुमायाः स्त्रिय इति, एवं ज्ञात्वा 'तस्मात्' तासां 'भिक्षुः' साधुः 'न श्रद्दधीत' तत्कृतया माययात्मानं न प्रतारयेत्, दत्तावैशिकवत्, अत्र चैतत्कथानकम्–दत्तावैशिक एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैः प्रतार्यमाणोऽपि तां नेष्टवान्, ततस्तयोक्तम्–किं मया दौर्भाग्यकलङ्काङ्कितया जीवन्त्या प्रयोजनम्?, अहं त्वत्परित्यक्ताऽग्निं प्रविशामि, ततोऽसाववोचत्–मायया इदमप्यस्ति वैशिके, तदाऽसौ पूर्वसुरङ्गामुखे काष्ठसमुदयं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रविश्य सुरङ्गया गृहमागता, दत्तकोऽपि च इदमपि अस्ति वैशिके, इत्येवमसौ विलपन्नपि वीतिकैश्चितायां प्रक्षिप्तः, तथापि नासौ तासु श्रद्धानं कृतवान्, एवमन्येनापि न श्रद्धातव्यमिति ॥२४॥ किञ्चान्यत्–

जुवती समणं बूया, विचित्तलंकारवत्थगाणि परिहित्ता। विरता चरिस्सहं रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो॥

प्र. १ कर्मण्यु मयूनि स पुरुष सकले जीवलोके कामयता नारीभिन च प्राप्तानि दुःखानि ॥१॥ २ अंगुलि का। ३ नारि का। प्र. ४ अथ एतासां प्रकृतिः सर्वस्य कुर्वन्ति वैमनस्यानि तस्य न कुर्वन्ति नवरं यस्यालं चैव कामैः ॥१॥ ५ xx पर्व इ। ६ वत्सो ता। ७ पूर्वे का इ। ८ कर्माई का। ९ मिश्र इ। प्र. १ पूर्व वि० प। ११ वचित का. ओषित इ। १२ मोर्ण का. वन इ.।

अदु साविया पवाएणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं। जतुकुंभे जहा उवज्जोई, संवासे विदू विसीएज्जा ।२६

'जुवती' इत्यादि, 'युवतिः' अभिनवयौवना स्त्री विचित्रवस्त्रालङ्कारविभूषितशरीरा मायया श्रमणं ब्रूयात्, तद्यथा–विरता अहं गृहपाशात् न ममानुकूलो भर्ता मह्यं वाऽसौ न रोचते परित्यक्ता वाऽहं तेनेत्येतत् 'चरिष्यामि' करिष्याम्यहं 'रूक्ष' मिति संयमं, मौनमिति वा क्वचित्पाठः तत्र मुनेरयं मौनः–संयमस्तमाचरिष्यामि, धर्ममाचक्ष्व 'णे'त्ति अस्माकं हे भयत्रातः!, यथाऽहमेवं दुःखानां भाजनं न भवामि तथा धर्ममावेदयेति ॥२५॥ किञ्चान्यत्–'अदु साविया' इत्यादि, अथवाऽनेन 'प्रवादेन' व्याजेन साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत्–यथाऽहं श्राविकेतिकृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येवं प्रपञ्चेन नेदीयसी भूत्वा कूलवालुकमिव साधुं धर्माद् भ्रंशयति, एतदुक्तं भवति–योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणां महतेऽनर्थाय, तथा चोक्तम्–"तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं तत्तपः स च संयमः। सर्वमेकपदे भ्रष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः ॥१॥" अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह–यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषः' अग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिर्वर्ती 'विलीयते'–द्रवति, एवं योषितां 'संवासे' सान्निध्ये विद्वानपि आस्तां तावदितरो योऽपि विदितवेद्योऽसावपि धर्मानुष्ठानं प्रति 'विषीदेत'–शीतलविहारी भवेदिति ॥२६॥ एवं तावत्स्त्रीसान्निध्ये दोषान् प्रदर्श्य तत्संस्पर्शजं दोषं दर्शयितुमाह–

जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ। एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगेवमाहिंसु। नोऽहं करेमि पावंति, अंकेसाइणी ममेसत्ति ॥२८॥

'जतुकुंभे' इत्यादि, यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषा' अग्निनोपगूढः–समालिङ्गितोऽभितप्तोऽग्निनाभिमुख्येन सन्तापितः क्षिप्रं 'नाश-

१ °स्ततः आ. इ.। २ °तिxxर्त्ति° आ। ३ °स्पर्शजद्दोषं आ °स्पर्शजं दोष इ.। ४ एव° आ.। ५ नाशण मुवेंति आ.।

दुरगानि दुर्लभ तिन्यनि, एव स्त्रीभिः सार्धं 'संवसनेन' परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति, सर्वथा आतुपकुम्भवत् यत्काठिन्यं परि
त्याग संगमसर्गगार् ध्रस्यन्ति ॥२७॥ अपि च–'कुप्यति' इत्यादि, तासु संसाराभिष्वङ्गिणीष्वभिषक्ता अवधीरितैहिकामुष्मिकापाया।
'मार्ग सर्वं' मैथुनासनादिकं 'कुर्वन्ति' विदधति, परिभ्रष्टा सदनुष्ठानात् 'एके' केचनोत्कटमोहा आचार्यादिना चोद्यमाना 'एवमाहुः'
यस्मानुन्नरन्तः, यथा–नाहमेवम्भूतकुलप्रसूत एतदकार्यं पापोपादानभूतं करिष्यामि, ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वम् अङ्केशयिनी
मार्गादृ, एषा एताम्नामनैर मध्येयमानानि, न पुनरर विदितसंसारस्वभाव प्राणात्ययेऽपि व्रतभङ्ग विधास्य इति ॥२८॥ किञ्च–
पागम्म मदय धीय, न च वद अवजाणई भुज्जो। दुगुण करेइ से पावं, पूयणकामो विसन्नेसी ॥२९॥
मन्नोरणिज्ञमणगारं, आयगय निमंतणेणाहंसु। वत्थं च ताइ ! पायं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ॥३०॥
णीवारमेयं बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागतुं। बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे ॥३१॥
त्तिबेमि। इति इत्थीपरिन्नाए पढमो उद्देसो समत्तो ॥४–१॥ (गाथाग्र २८७)

'यानम्' इत्यादि, 'यानम्'–प्रथम गणदशाललितनापरमार्थस्य एतद्वितीय 'मान्यं' अप्रस्यम्, एक तावदकार्यकरणेन चतुर्थ
व्रतभङ्गा न्निप तत्स्नरतन मृषावादं, तदेव दवपति–यत्कृतममदानरण 'भूय' पुनरपरेण चोद्यमानः 'यपजानीते' अपलपति–नैत
न्मया कृतमिति, स एवम्भूतः असदनुष्ठानेन तदपलपनेन च द्विगुणं पापं करोति, किमर्थमपलपतीत्याह–पूजन–सत्कारपुरस्कारस्वत्–

न. १ ऐसेव इ । १ वर भ. इ. । म १ 'वस्तुैं पायमसंगम । ४ नयरी भ. । १ ××१ इ. । १ भवज्माति भ. ।

कामः–तदभिलाषी मा मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति विषण्णः–असंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति विषण्णैषी ॥२९॥ किञ्चा-न्यत्–'संलोकणिज्जम'इत्यादि, संलोकनीयं–संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कञ्चन 'अनगारं' साधुमात्मानि गतमात्मगतम् आत्मज्ञमित्यर्थः, तदेवम्भूतं काश्चन स्वैरिण्यो 'निमन्त्रणेन' निमन्त्रणपुरःसरम् 'आहुः' उक्तवत्यः, तद्यथा–हे त्रायिन् ! साधो वस्त्रं पात्रमन्यद्वा पानादिकं येन केनचिद्भवतः प्रयोजनं तदहं भवते सर्वं ददामीति मद्गृहमागत्य प्रतिगृहाण त्वमिति ॥३०॥ उपसंहारार्थमाह–'णीवार' इत्यादि, एतद्योषितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं 'बुध्येत' जानीयात्, यथा हि नीवारेण केनचिद्भक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वशमानीयते, एवमसावपि तेनामन्त्रणेन वशमानीयते, अतस्तन्नेच्छेद् 'अगारं' गृहं गन्तुं, यदि वा–गृहमेवावर्तो गृहावर्तो गृहभ्रमस्तं[3] 'नेच्छेत्' नाभिलषेत्, किमिति ?, यतो 'बद्धो' वशीकृतो विषया एव शब्दादयः 'पाशा' रज्जूबन्धनानि तैर्बद्धः–परवशीकृतः स्नेहपाशानपत्रोटयितुमसमर्थः सन् 'मोहं' चित्तव्याकुलत्वमागच्छति–किंकर्तव्यतामूढो भवति पौनःपुन्येन 'मन्दः'–अज्ञो जड इति । इतिः–परिसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३१॥ इति स्त्रीपरिज्ञायां प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥४–१॥

——o——

१ °स्य सोय विषण्णैषीति भा. ६. । २ यथा × आ । ३ °स्तन्नेच्छे° आ. ।

अथ चतुर्थोपसर्गाध्ययने द्वितीयोद्देशकस्य प्रारम्भ ।

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके स्त्रीसंस्तवाच्चारित्रस्खलनमुक्तं, स्खलितशीलस्य या अवस्था इहैव प्रादुर्भवति तत्कृतकर्मबन्धश्च तदिह प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा। भोगे समणाण सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥
अह तं तु भेदमावन्नं, मुच्छियं भिक्खु काममतिवट्टं। पलिभिंदिया ण तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ॥२॥

'ओए' इत्यादि, अस्य चानन्तरपरम्परसूत्रसम्बन्धो वक्तव्यः, स चायं सम्बन्धो—विषयपाशैर्मोहमागच्छति यतोऽत 'ओजः' एको रागद्वेषरहितः स्त्रीषु रागं न कुर्यात्, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु संलोकनीयमनगारं दृष्ट्वा च यदि काचिद्योषित् साधुमशनादिना नीवारकल्पेन प्रतारयेत् तत्रौजः सर्वं रज्जेनेति, तत्रौजो द्रव्यतः परमाणुः भावतस्तु रागद्वेषवियुतः, स्त्रीषु रागादिहैव वक्ष्यमाणनीत्या नानाविधा विडम्बना भवन्ति, तद्विपाकापादितश्च नरकादौ तीव्रा वेदना भवन्ति, यतोऽत एतत्मत्वा भावौजाः सन् 'सदा' सर्वकालं तास्वनर्थखनिषु स्त्रीषु न रज्येत, तथा यद्यपि मोहोदयात् भोगाभिलाषी भवेत् तथाप्यैहिकामुष्मिकापायान् परिगणय्य पुनस्ताभ्यो विरज्येत्। एतदुक्तं भवति—कर्मोदयात् प्रवृत्तमपि चित्तं हेयोपादेयपर्यालोचनया ज्ञानाङ्कुशेन निवर्तयेदिति, तथा श्राम्यन्ति—तपसा खिद्यन्तीति श्रमणास्तेषामपि भोगा इत्येतच्छृणुत यूयं, एतदुक्तं भवति—गृहस्थानामपि भोगा विडम्बनाप्रायाः यतीनां तु भोगा इत्येतदेव विडम्ब

१ स० व० द० म० ८ । २ १ म० । १ 'ओजः' म० । ४ भित्त हि म० ।

नाप्रायं, किं पुनस्तत्कृतावस्थाः, तथा चोक्तम्—"मुण्डं शिर" इत्यादि पूर्ववत्, तथा यथा च भोगान् 'एके' अपुष्टधर्माणो 'भिक्षवो' यतयो विडम्बनाप्रायान् भुञ्जते तथोद्देशकसूत्रेणैव वक्ष्यमाणेनोत्तरत्र महता प्रबन्धेन दर्शयिष्यति, अन्यैरप्युक्तम्—"कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः, क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्दितगलः। व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलशतैराविलतनुः, शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥१॥" इत्यादि, ॥१॥ भोगिनां विडम्बनां दर्शयितुमाह—'अह' इत्यादि, 'अथे'त्यानन्तर्यार्थः तुशब्दो विशेषणार्थः, स्त्रीसंस्तवादनन्तरं 'भिक्षुं' साधुं 'भेदं' शीलभेदं चारित्रस्खलनम् 'आपन्नं' प्राप्तं सन्तं स्त्रीषु 'मूर्च्छितं' गृद्धमध्युपपन्नं, तमेव विशिनष्टि—कामेषु—इच्छामदनरूपेषु मतेः—बुद्धेर्मनसो वा वर्त्तो—वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्तः—कामाभिलाषुक इत्यर्थः, तमेवम्भूतं 'परिभिद्य' मदभ्युपगतः श्वेतकृष्णप्रतिपत्ता मद्वशके इत्येवं परिज्ञाय यदि वा—परिभिद्य परिसार्यात्मकृतं तत्कृतं चोच्चार्येति, तद्यथा—मया तव लुञ्चितशिरसो जल्लमलाविलतया दुर्गन्धस्य जुगुप्सनीयकक्षावक्षोबस्तिस्थानस्य कुलशीलमर्यादालज्जाधर्मादीन् परित्यज्यात्मा दत्तः त्वं पुनरकिञ्चित्कर इत्यादि भणित्वा, प्रकुपितायाः तस्या असौ विषयमूर्च्छितस्तत्प्रत्यायनार्थं पादयोर्निपतति[3], तदुक्तम्—"व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्च सिंहा, नागाश्च दानमदराजिकृशैः कपोलैः। मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः, स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥१॥" ततो विषयेष्वेकान्तेन मूर्च्छित इति परिज्ञानात् पश्चात् 'पादं' निजवामचरणम् 'उद्धृत्य' उत्क्षिप्य 'मूर्ध्नि' शिरसि 'प्रघ्नन्ति' ताडयन्ति, एवं विडम्बनां प्रापयन्तीति ॥२॥ अन्यच्च—

जइ केसिआँ णं मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए। केसाणविह लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥३॥

सा. १ °लार्पितगलः प्र॰ वि॰ पु॰। २ °शत प्र°। ३ निपतित प्र°। ४ यदुक्तम् अ.। ५ °याः° आ. इ.। ६ केसाणि विह आ. द.। ७ °सु आ.इ.।

अह ण से होई उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूएहिं। अलाउच्छेदं पेहेहि, वग्गुफलाइं आहराहि त्ति ॥४॥

'अह' इत्यादि, केशा विद्यन्ते यस्याः सा केशिका णमिति वाक्यालङ्कारे, हे भिक्षो! यदि मया 'स्त्रिया' भार्यया केशवत्या सह नो विहरेस्त्वं, सकेशया स्त्रिया भोगान् भुञ्जानो व्रीडां यदि वहसि ततः केशानप्यहं त्वत्सङ्गमाकाङ्क्षिणी 'लुञ्चिष्यामि' अपनेष्यामि, आस्तां तावदलङ्कारादिकमित्यपिशब्दार्थः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदपि यद् दुष्करं विदेशगमनादिकं तत्सर्वमहं करिष्ये, त्वं पुनर्मया रहितो नान्यत्र चरेः, इदमुक्तं भवति—मया रहितेन भवता क्षणमपि न स्थातव्यम्, एतावदेवाहं भवन्तं प्रार्थयामि, अहमपि यद्भवान् आदिशति तत्सर्वं विधास्य इति ॥३॥ इत्येवमतिपेशलैर्विश्रम्भजननैरापातभद्रकैरालापैर्विश्रम्भयित्वा यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह—'अह णं' इत्यादि, 'अथ' इत्यानन्तर्यार्थः णमिति वाक्यालङ्कारे, विश्रम्भालापानन्तरं यदाऽसौ साधुर्मदनुरक्त इत्येवम् 'उपलब्धो' भवति—आकारैरिङ्गितचेष्टया वा मद्वशग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः कपटनाटकनायिकाभिः स्त्रीभिः, ततः तदभिप्रायपरिज्ञानादुत्तरकालं 'तथा-भूतैः' कर्मकरव्यापारैरसद्भिः 'प्रेषयन्ति'—नियोजयन्ति यदि वा—तथाभूतैरिति लिङ्गस्थस्योचितैर्व्यापारैः प्रेषयन्ति, तानेव दर्शयितुमाह—'अलाउ'त्ति अलाबु—तुम्बं छिद्यते यत्र तदलाबुच्छेदं—पिप्पलकादि शस्त्रं 'पेहाहि'त्ति प्रेक्षस्व निरूपय लभस्वेति, येन पिप्पलकादिना पात्रादेर्मुखादि क्रियत इति, तथा 'वल्गूनि'—शोभनानि, 'फलानि'—नालिकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वम् 'आहर' आनयेति, यदि वा—वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वा वाचो यानि फलानि—वस्त्रादिलाभरूपाणि तान्याहरेति ॥४॥ अपि च—

---

१ पेलवे० प्र० [illegible] । २ मदनुरक्त [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] । ५ [illegible] ।

दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती राओ। पाताणि य मे रयावेहि, एहि[1] ता मे पिट्ठओमद्दे ॥५॥
वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नं पाणं च आहाराहित्ति। गंधं[2] च रओहरणं च, कासवगं च[3] मे समणुजाणाहि॥

'दारूणि' इत्यादि, तथा 'दारूणि' काष्ठानि शाकं टक्कवस्तुलादिकं पत्रशाकं तत्पाकार्थं, क्वचिद् अन्नपाकायेति पाठः, तत्रान्नम्–ओदनादिकमिति, 'रात्रौ' रजन्यां प्रद्योतो वा भविष्यतीतिकृत्वा, अतो अटवीतस्तमाहरेति, तथा–[ग्रन्थाग्रम् ३५००] 'पात्राणि' पतद्ग्रहादीनि 'रञ्जय' लेपय, येन सुखेनैव भिक्षाटनमहं करोमि, यदि वा–पादावलक्तकादिना रञ्जयेति, तथा–परित्यज्यापरं कर्मतावद् 'एहि' आगच्छ 'मे' मम पृष्ठिम् उत्–प्राबल्येन मर्दय बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः संबाधय, पुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति ॥५॥ किञ्च–'वत्थाणि य मे' इत्यादि, 'वस्त्राणि च' अम्बराणि 'मे' मम जीर्णानि वर्तन्तेऽतः 'प्रत्युपेक्षस्व' अन्यानि निरूपय, यदि वा–मलिनानि रजकस्य समर्पय, मदुपधिं वा मूषिकादिभयात् प्रत्युपेक्षस्वेति, तथा अन्नपानादिकम् 'आहर' आनयेति, तथा 'गन्धं' कोष्टपुटादिकं ग्रन्थं वा हिरण्यं तथा शोभनं रजोहरणं तथा लोचं कारयितुमहमशक्तेत्यतः 'काश्यपं' नापितं मच्छिरोमुण्डनाय श्रमणानुजानीहि येनाहं बृहत्केशानपनयामीति ॥६॥ किञ्चान्यत्—

अदु अंजणिं अलंकारं, कुंकययं[4] मे पयच्छाहि। लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥७॥
कुट्ठं तगरं च अगरुं[6], संपिट्ठं सम्मं[7] उसिरेणं। तेल्लं मुहभिंजाए[8], वेणुफलाइं सन्निधानाए ॥८॥

१ एहि य ता. आ इ। सा. २ गर्थ इति स्यात्पाठान्तरम्। ३ च× आ. इ.। था. ४ घर्घरमिति वि० प०। ५ कुक्कुहय। ६ अगुरु च आ. इ.। ७ सइ था.। ८ °भिलिंगाए आ. °सिल्लिगाए इ.। था. ९ भिण्डलिजाए प्र°।

'अट्ट अट्टणि' इत्यादि, अथान्योऽपिकारान्तरप्रदर्शनार्थः पूर्वं लिङ्गस्योपकरणान्यभिकृत्याभिहितम्, अधुना गृहस्योपकरणान्यधिकृत्याभिधीयन्त, तद्यथा–'अट्टणिमि'त्ति अट्टणिकां जलाधारभूतां नलिकां मम प्रयच्छस्वेत्युपस्त्र क्रिया, तथा कटककेयूरादिकमलङ्कारं दो, तथा 'कुंकुमयं'ति तुन्तुणकं 'मे' मम प्रयच्छ, येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि, तथा लोधं च लोध्रकुसुमं च, तथा 'वेणुफ्लासियं'ति वंशात्मिका सस्वनक काष्ठिका, सा दन्तैर्वामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते, तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहमविनष्टयौवना भवामीति ॥७॥ तथा कुष्ठम्–'कुट्ठं' इत्यादि, उत्पलकुष्ठं तगराऽगरं तगरं च, एते द्वे अपि गन्धिद्रव्ये, एवं स्थादिकम् 'उसीरेण' वीरणीमूलेन सम्पिष्टं सुगन्धि भवति यतस्तत्तथा कुरु, तथा 'तेल्लं' लोध्रकुङ्कुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य 'भिलिजए'त्ति अभ्यङ्गाय ढौकयस्व, एतदुक्तं भवति–मुखाभ्यङ्गार्थं तथाविधं संस्कृतं तैलमुपाहरेति, येन कान्त्युपेतं मे मुखं जायते, 'वेणुफलाइं'ति वेणुकार्याणि करण्डकपेडकादीनि सन्निधिः सन्निधानं–वस्त्रादेर्व्यवस्थापनं तदर्थमानयेति ॥८॥ किञ्च–

नन्दीचुण्णगाइं पाहराहि, छत्तोवाणहं च जाणाहि। सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥९॥

सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च। तिलगकरणिमंजणसलागं, घिंसु मे विहूणयं विजाणेहि ॥१०॥

'नन्दीचुण्णगाइं' ति द्रव्यसंयोगनिष्पादितोष्ठम्रक्षणचूर्णोऽभिधीयते, तमेवम्भूतं चूर्णं प्रकर्षेण–येन केनचित्प्रकारेण 'आहर' आन

1 अपरम रसरजु' च. 2 । 3 च ...। 3 कुकुटकं प्र. । कुकुटकं आ. कुकुटकं द । 4 स्तेन च प्र आ. । 5 ...

6 ... आ. । 7 गोध्रं च. । ... 8 भिजाए । भिलिजिजाए' प्र । ... आ. द । 9 ... आ. । 10 'पेल्ला' आ. । 'पेडिया' द । 11 ...

12 ... च. । 13 ... च. । 14 नन्दी चुण्णगाइं आ. नंदी चुण्णगाइं ति द ।

येति, तथाऽऽतपस्य वृष्टेर्वा संरक्षणाय छत्रं तथा उपानहौ च ममानुजानीहि, न मे शरीरमेभिर्विना वर्तते ततो ददस्वेति, तथा 'शस्त्रं' दात्रादिकं 'सूपच्छेदनाय' पत्रशाकच्छेदनार्थं ढौकयस्व, तथा 'वस्त्रम्' अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा आनीलम्—ईषन्नीलं सामस्त्येन वा नीलं भवति, उपलक्षणार्थत्वाद्रक्तं वा यथा भवतीति ॥९॥ तथा—'सुफणिं च' इत्यादि, सुष्ठु सुखेन वा फण्यते—क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणि—स्थालीपिठरादिकं भाजनमभिधीयते तच्छाकपाकार्थमानय, तथा 'आमलकानि' धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा तथोदकमाह्रियते येन तदुदकाहरणं—कुटवर्धनिकादि, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् घृततैलाद्याहरणं सर्वं वा गृहोपस्करं ढौकयस्वेति, तिलकः क्रियते यया सा तिलककरणी—दन्तमयी सुवर्णात्मिका वा शलाका यया गोरोचनादियुक्तया तिलकः क्रियत इति, यदि वा गोरोचनया तिलकः क्रियते (इति) सैव तिलककरणीत्युच्यते, तिलका वा क्रियन्ते—पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणीत्युच्यते, तथा अञ्जनं—सौवीरकादि शलाका—अक्ष्णोरञ्जनार्थं शलाका अञ्जनशलाका तामाहरेति । तथा 'ग्रीष्मे' उष्णाभितापे सति 'मे' मम 'विधूनकं' व्यजनकं विजानीहि[3] ॥१०॥ एवं—

संडासगं[4] च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि[5] । आदंसगं च पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसाहि ॥११॥

पूयफलं तंबोलयं, सूईसुत्तगं च जाणाहि । कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालणं[6] च ॥१२॥

'संडासगं च' इत्यादि, 'संडासकं' नासिकाकेशोत्पाटनं 'फणिहं' केशसंयमनार्थं कङ्कतकं, तथा 'सीहलिपासगं'ति वीणासंयमनार्थं मूर्णामयं कङ्कणं च 'आनय' ढौकयेति, एवम् आ—समन्ताद् दृश्यते आत्मा यस्मिन् स आदर्शः स[7] एव आदर्शकस्तं 'प्रयच्छ' ददस्वेति,

---

१ इटे आ । २ स च इ । ३ °हि ददस्वेति एव आ. । ४ सडास आ. । ५ आणाहि साहलि पासग च आ. । ६ गोरगलणोए आ. । ७XXXआद° आ.

तथा दन्ताः प्रक्षाल्यन्ते-अपगतमला क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं-दन्तकाष्ठ तन्मदन्तिके प्रवेशयेति ॥११॥ 'पूयफल' इत्यादि, पूगफल प्रतीतं 'ताम्बूलं' नागवल्लीदलं तथा सूची च सूत्र च सूच्यर्थं या सूत्र 'वानीहि' ददस्वेति, तथा 'कोशम्' इति वारकादिभाजनं तद् मोच मेहाय समाहर, तत्र मोच'-श्रेयसवर्ण कायिकेत्यर्थः तेन मेहः-सेचनं तदर्थं भाजनं ढौकय, एतदुक्तं भवति-बहिर्गमनं कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयात्, अतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुरु, एतच्चान्यस्याप्यधमतमकर्तव्यस्योपलक्षणं द्रष्टव्यं, तथा 'शूर्प' तन्दुलादिशोधनं तयोर्खलं तथा किञ्चन क्षारस्य-सर्जिकादेर्गालनकमित्येवमादिकमुपकरणं सर्वमप्यानयेति ॥१२॥ किञ्चान्यत्—

चन्दालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो! खणाहि। सरपाययं च जायाए, गोरहगं च सामणेराए ॥१३॥

घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूयाए। वासं समभिआवण्णं, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

'चन्दालगं च' इत्यादि, 'चन्दालकम्' इति देवतार्चनिकार्थं ताम्रमयं भाजनं, एतच्च मथुरायां चन्दालकत्वेन प्रतीतमिति, तथ 'करकं' जलाधारो मदिराभाजनं वा तदानयेति क्रिया, तथा 'वर्चोगृहं' पुरीषोत्सर्गस्थानं तदायुष्मन्! मदर्थं 'खन' संस्कुरु, तथा शराः-इषवः पात्यन्ते-क्षिप्यन्ते येन तच्छरपातं-धनुः तद् 'जाताय' मत्पुत्राय कृते ढौकय, तथा 'गोरहग'मिति त्रिहायणं बलीवर्दं च ढौकयेति, 'सामणेराए'त्ति श्रमणस्यापत्यं श्रामणिस्तस्मै श्रमणपुत्राय त्वत्पुत्राय गन्त्र्यादिकृते भविष्यतीति ॥१३॥ तथा 'घडिगं च' इत्यादि, घटिकां मृन्मयकुल्लडिकां 'डिण्डिमेन' पटहकादिवादित्रविशेषेण सह, तथा 'चेलगोल'त्ति वस्त्रात्मकं कन्दुकं 'कुमारभूताय' क्षुल्ल-

१ °र्ने आ. ह. । २ ग्रन्थ आ. ह. । ३ सजितया आ. ह. । ४ समयाचित आ. । ५ °ति स च श्राम° आ ह. । ख। ६ श्रामणिपुत्राय म ७ स्वपुत्राय म । ८ क्रलकं इते आ. ।

करूपाय राजकुमारभूताय वा मत्पुत्राय क्रीडनार्थमुपानयेति, तथा वर्षमिति प्रावृट्कालोऽयम् अभ्यापन्नः—अभिमुखं समापन्नोऽत 'आवसथं' गृहं प्रावृट्कालनिवासयोग्यं तथा 'भक्तं च' तन्दुलादिकं तत्कालयोग्यं 'जानीहि' निरूपय निष्पादय, येन सुखेनैवानागत परिकल्पितावसथादिना प्रावृट्कालोऽतिवाह्यते इति, तदुक्तम्—"मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा। तत्कर्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते ॥१॥" इति ॥१४॥ तथा—

आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए। अदु पुत्तदोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि। अहं पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥१६॥

'आसंदियं' इत्यादि, आसन्दिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकां, तामेव विशिनष्टि नवं—प्रत्यग्रं सूत्रं वल्कवलितं यस्यां सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्वाद्वध्रचर्मावनद्धां वा निरूपयेति वा एवं च—मौञ्जे काष्ठपादुके वा 'संक्रमणार्थं' पर्यटनार्थं निरूपय, यतो नाहं निरावरणपादा भूमौ पदमपि दातुं समर्थेति, अथवा—पुत्रे गर्भस्थे दौहृदः पुत्रदौहृदः—अन्तर्वर्ती फलादावभिलाषविशेषस्तस्मै—तत्सम्पादनार्थं स्त्रीणां पुरुषाः स्ववशीकृता 'दासा इव' क्रयक्रीता इव 'आज्ञाप्या' आज्ञापनीया भवन्ति, यथा दासा अलज्जितैर्योग्यत्वादाज्ञाप्यन्ते एवं तेऽपि वराकाः स्नेहपाशावपाशिता विषयार्थिनः स्त्रीभिः संसारावतरणवीथीभिरादिश्यन्त इति ॥१५॥ अन्यच्च—'जाए फले' इत्यादि, जातः—

सा १ अनागते परिकल्पित यदावसथादि तेन। २ य आ.। ३ पुत्तस्स डोहल° आ। ४ वाण इ.। ५ अह आ इ.। ६ °त्वात्यद्चर्मा° आ °त्वाद्चर्मा° इ। ७ 'ति×एव×पाउल्ला इति मोचका' काष्ठपादुका वा आ. ति×एव×पाउल्ला इति मोचका काष्ठपादुके वा इ। सा ८ अन्तर्वत्नी प्राग्मुदिते, फलस्य पुत्रवाञ्छिता उपरिष्टा स्पष्टा।

पुत्र' स एव फलं गृहस्थानां, तथाहि–पुरुषाणां कामभोगाः फलं तेषामपि फलं–प्रधानकार्यं पुत्रजन्मेति, तदुक्तम्–"इदं तत्स्नेहसर्वस्वं, सममाढ्यदरिद्रयोः । अचन्दनमनौशीरं, हृदयस्यानुलेपनम् ॥१॥ यत्तच्छयनिकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्तभाषिणा । हित्वा सांख्यं च योगं च, मन्ये मनसि वर्तते ॥२॥" यथा 'लोके पुत्रस्य(सु)स्य नाम, द्वितीयं सु(सु)खमात्मनः' इत्यादि, तदेवं पुत्रः पुरुषाणां परमाभ्युदयकारणं तस्मिन् 'मनुष्यश्च' जातं तदुद्देशेन या विडम्बनाः पुरुषाणां भवन्ति ता दर्शयति–अमुं दारकं गृहाण त्वम्, अहं तु कर्मव्यग्रिका न मे प्रस्तावमगोऽसि, अथ चैनं 'जहाहि' परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छामि, एवं कुपिता सती ब्रूते, मयाऽयं नव मासानुदरेणोढः त्वं पुनरस्याल्पमपि नोद्वहनं कर्तुं न क्षमः इति, दासदृष्टान्तस्त्वादेशदानेनैव साम्यं भजते, नादेशनिष्पादनेन, तथाहि–दासो भयात् विधत्ते, स तु मोहवशोऽनुग्रहं मन्यमानो मुदितः तदादेशं विधत्ते, तथा चोक्तम्–"यदेव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया । इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥१॥ ददाति प्रार्थितः प्राणान्, मातरं हन्ति तत्कृते । किं न दद्यात् न किं कुर्यात् स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ॥२॥ ददाति शौचपानीयं, पादौ प्रक्षालयत्यपि । श्लेष्माणमपि गृह्णाति, स्त्रीणां वशगतो नरः ॥३॥" तदेवं पुत्रनिमित्तमन्यथा यत्किञ्चिन्निमित्तमुद्दिश्य दासमिवादिशन्ति, अथ तेऽपि पुत्रान् पोषितुं शीलं येषां ते पुत्रपोषिणः उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य मनाऽऽदेशकारिणः 'एके' केचन मोहोदये वर्तमानाः स्त्रीणां निर्देशवर्तिनोऽपहस्तितैहिकामुष्मिकापाया उष्ट्रा इव परवशा भारवाहा भवन्तीति ॥१६॥ किञ्चान्यत्–

राओवि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा । सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥

म. १ एतद्धोऽदर्शि ... वि ... २ ... ३ ... ४ ... ५ ...

एवं वहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना। दासे मिइंव पेसे वा, पसुभूतेव से ण वा केई ॥१८॥

'राओ वि' इत्यादि,रात्रावप्युत्थिताः सन्तो रुदन्तं दारकं धात्रीवत् संस्थापयन्त्यनेकप्रकारैरुल्लापनैः, तद्यथा—"[1]सामिओसि णगरस्स य णकउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टणसीहपुरस्स य उण्णयस्स नि[3]ण्णस्स य कुच्छिपुरस्स य कण्णकुज्ज आयामुहसोरियपुरस्स य" इत्येवमादिभिरसम्बद्धैः क्रीडनकलापैः स्त्रीचित्तानुवर्तिनः पुरुषास्तत् कुर्वन्ति येनोपहास्यतां सर्वस्य व्रजन्ति, सुष्ठु ह्रीः–लज्जा तस्यां मनः–अन्तःकरणं येषां ते सुह्रीमनसो–लज्जालवोऽपि ते सन्तो विहाय लज्जां स्त्रीवचनात् सर्वजघन्यान्यपि कर्माणि कुर्वते, तान्येव सूत्रावयवेन दर्शयति–'वत्थधावका' वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव–रजका इव भवन्ति, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदप्युदकवहनादिकं कुर्वन्ति ॥१७॥ किमेतत्केचन कुर्वन्ति येनैवमभिधीयते ?, बाढं कुर्वन्तीत्याह–'एवं बहुहिं' इत्यादि, 'एव'मिति पूर्वोक्तं स्त्रीणामादेशकरणं पुत्रपोषणवस्त्रधावनादिकं तद्बहुभिः संसाराभिष्वङ्गिभिः पूर्वं कृतं कृतपूर्वं तथा परे कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ये 'भोगकृते' कामभोगार्थमैहिकामुष्मिकापायभयमपर्यालोच्य आभिमुख्येन–भोगानुकूल्येन आपन्ना–व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ना इति यावत्, तथा यो रागान्धः स्त्रीभिर्वशीकृतः स दासवदशङ्किताभिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्माणि नियोज्यते, तथा वागुरापतितः परवशो मृग इव धार्यते, नात्मवशो भोजनादिक्रिया अपि कर्तुं लभते, तथा 'प्रेष्य इव' कर्मकर इव क्रयक्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते, तथा–कर्तव्याकर्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् पशुभूत इव,यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एव केवलम्, एवमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वा-

---

१ °एव आ. इ.। सा. २ स्वाम्यसि नगरस्य च नक्रपुरस्य च हस्तिकल्पगिरिपत्तनसिंहपुरस्य उन्नतस्य निम्नस्य च कुक्षिपुरस्य च कान्यकुब्जपितामहमुखशौर्यपुरस्य च ॥ ३ मिण्णस्स आ. °ष्टु. ॥ ४ भोगत्थाय आ ।

त् पशुकल्प, यदि वा–स स्त्रीवशगो दासमृगप्रेष्यपशुभ्योऽप्यधमत्वात् न कश्चित्, एतदुक्तं भवति–सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयते, अथवा–न स कश्चिदिति, उभयभ्रष्टत्वात्, तथाहि–न तावत्प्रव्रजितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वात्, नापि गृहस्थः ताम्बूलादिपरिभोगरहितत्वाल्लोचिकामात्रधारित्वाच्च, यदि वा ऐहिकामुष्मिकानुष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति ॥१८॥ साम्प्रतमुपसंहारद्वारेण स्त्रीप्रसङ्गपरिहारमाह–

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा। तज्जातिआ इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥१९॥

एयं भयं ण सेयाय, इइ से अप्पगं निरुभित्ता। णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥२०॥

'एवं खु' इत्यादि, 'एतत्' पूर्वोक्तं खुशब्दो वाक्यालङ्कारे, तासु एवं स्थितं तासां वा स्त्रीणां सम्बन्धि यद् विज्ञप्तम्–उक्तं, तद्यथा–यदि सकेशया मया सह न रमसे ततोऽहं केशानप्यपनयामीत्येवमादिकं, तथा स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवं' परिचयं तत्संवासं च स्त्रीभिः सहैकत्र निवासं चात्महितमनुवर्तमानः सर्वापायभीरुः 'त्यजेत्' जह्यात्, यतस्ताभ्यो–रमणीभ्यो जातिः–उत्पत्तिर्येषां तेऽमी कामास्तज्जातिकाः–रमणीसम्पर्कोत्थास्तथा 'अवद्यं' पापं वज्रं वा गुरुत्वादधःपातकत्वेन पापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवम् 'आख्याता' तीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादिता इति ॥१९॥ सर्वोपसंहारार्थमाह–'एयं भयं' इत्यादि, 'एवम्' अनन्तरनीत्या भयहेतुत्वात् स्त्रीभिर्विज्ञप्तं तथा संस्तवस्तत्संवासश्च भयमित्यतः स्त्रीभिः सार्धं सम्पर्को न श्रेयसे असदनुष्ठानहेतुत्वात्तस्येत्येवं परिज्ञाय स

१ समूले आ. इ. । २ न तु क आ. इ. । ३ एवं आ. इ. । ४ °वज्जा आ. इ. । ५ एवं आ. इ. । ६ भयोऽयं आ. इ. । ७ एवं आ. इ. ।

[illegible] सन्मार्गे व्यवस्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति—न [illegible] नापि पशु

भिक्षुरवगतकामभोगविपाक आत्मानं स्त्रीसम्पर्कान्निरुध्य सन्मार्गे व्यवस्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति—न [illegible] 'लीयेत' आश्रयेत स्त्रीपशुभ्यां सह संवासं परित्यजेत्, 'स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्ये'तिवचनात्, तथा स्वकीयेन 'पाणिना' हस्तेनावा-च्यस्य 'न णिलिज्जे'त्ति न सम्बाधनं कुर्यात्, यतस्तदपि हस्तसम्बाधनं चारित्रं शबलीकरोति, यदि वा—स्त्रीपश्वादिकं स्वेन पाणिना न स्पृशेदिति ॥२०॥ अपि च—

सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी। मणसा वयसा कायेणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

इच्चेवमाहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू। तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥ त्तिबेमि ॥ इति श्रीइत्थीपरिन्ना, चतुर्थाध्ययनं समत्तं ॥ (गाथाग्र० ३०९)

'सुविसुद्ध' इत्यादि, सुष्ठु—विशेषेण शुद्धा—स्त्रीसम्पर्कपरिहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्या—अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवम्भूतो 'मेधावी'मर्यादावर्ती परस्मै—स्त्र्यादिपदार्थाय क्रिया परक्रिया—विषयोपभोगद्वारेण परोपकारकरणं परेण वाऽऽत्मनः संबाधनादिका क्रिया परक्रिया तां च 'ज्ञानी' विदितवेद्यो 'वर्जयेत्' परिहरेत्, एतदुक्तं भवति—विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यान्नाप्यात्मनः स्त्रिया पादधावनादिकमपि कारयेत्, एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्, तथाहि—औदारिककामभोगार्थं मनसा न गच्छति नान्यं गमयति गच्छन्तमपरं नानुजानीते एवं वाचा कायेन च, सर्वेऽप्यौदारिके नव भेदाः, एवं दिव्येऽपि नव भेदाः, तत-

१ धूत° आ. । सा. २ पा° विहरे आमुक्खाए । ३ इत्थीपरिण्णा सम्मत्ता आ. इ । ४ चउत्थमज्झयणं । छ । आ. । चतुर्थमध्ययनं समाप्तमिति । छ. । इ । ५ ××× मर्या° आ. ।

ादन्नमेदमिन्नमपि भक्त विभूयात्, यथा च स्त्रीस्पर्शपरीषहः सोढव्य एव सर्वानपि शीतोष्णदंशमशकतृणादिस्पर्शानधिसहेत, एवं मरण्यमहोऽनगार माधुर्भवतीति ॥२१॥ क एवमाहेति दर्शयति-'इच्चेवमाहु' इत्यादि, 'इति' एवं यत्पूर्वमुक्तं तत्सर्वं स वीरो भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः परहितैकरतः 'आह' उक्तवान्, यत एवमतो धूतम्-अपनीतं रजः-स्त्रीसम्पर्कादिकृतं कर्म येन स धूतरजाः, तथा धूतो मोहो रागद्वेषरूपो येन स तथा। पाठान्तरं वा धूत-अपनीतो रागमार्गो-रागपन्था यस्मिन् स्त्रीसंस्तवादिपरिहारे तद्यथा तत्सर्वं भगवान् वीर एवाह, यत एव तस्मात् स भिक्षुः 'अध्यात्मविशुद्धः' सुविशुद्धान्तःकरणः सुष्ठु रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसम्पर्केण मुक्तः सन् आमोक्षाय अशेषकर्मक्षयं यावत्परि-समन्तात् संयमानुष्ठानेन 'व्रजेत्' गच्छेत् संयमोद्योगवान् भवेदिति, इति परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति चतुर्थं स्त्रीपरिज्ञाध्ययनं परिसमाप्तम् [1] ॥४॥

अथ पञ्चमं नरकविभक्त्यध्ययनं प्रारभ्यते।

उक्तं चतुर्थमध्ययनं, साम्प्रतं पञ्चममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहाद्ये अध्ययने स्वसमयपरसमयप्ररूपणाऽभिहिता, तदनन्तरं स्वसमये बोधो विधेय इत्येतद्द्वितीयेऽध्ययनेऽभिहितं, सम्बुद्धेन चानुकूलप्रतिकूला उपसर्गाः सम्यक् सोढव्या इत्येतत्तृतीयेऽध्ययनेऽभिहितं, तथा सम्बुद्धेन स्त्रीपरीषहः सम्यगेव सोढव्य इत्येतच्चतुर्थेऽध्ययने प्रतिपादितं, साम्प्रतमुपसर्गभीरोः स्त्रीवशगस्यावश्यं

1 एशियाटिक। १ X X ४ आ। २ प्रत्यः ५९-० म।